दिव्य ज्ञान

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

दिव्य ज्ञान

भारत के महान् वैज्ञानिक तथा शिक्षा शास्त्री डॉ० दौलत सिंह कोठारी ने 'विज्ञान और तकनीकि के अन्तराष्ट्रीय महासम्मेलन' में अपने समापन भाषण में कहा था—

"पिछले पाँच सौ वर्षों से हम प्राय: विदेशी विचारधारा से प्रभावित होते रहे हैं। हमारे विश्वविद्यालय बाहर से लाकर रोपे जाते रहे हैं जो अभी तक इस देश की धरती में जड़ नहीं पकड़ सके। इसी कारण हमारे प्राचीन साहित्य में सुरक्षित विचारधारा को शिक्षा में स्थान नहीं मिल पाया। यह परमावश्यक है कि हम अपनी प्राचीन धरोहर को खोज निकालें।"

सन्त शिरोमणि स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने अपनी चीरयुवा शैली में भारत की उसी प्राचीन धरोहर को वेदों से खोज निकालने का सत्प्रयास अपने इस ग्रन्थ में किया है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी पालन, कृषि, कृत्रिम वर्षा, उद्योग-धन्धों, भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीव-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, गणित शास्त्र, अन्तरिक्ष विज्ञान, राजनीति, सैन्य संगठन, ऋतु विज्ञान, विमान और पनडुब्बी निर्माण आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जो वेदों में उपलब्ध न हो।

'दिव्य ज्ञान'

ऐसी रोचक शैली में लिखा गया है जिसे पढ़कर छात्र भी उतने ही लाभान्वित होंगे जितने विद्वान् और वैज्ञानिक।

स्वयं पढ़ें, मित्रों को पढ़ाएँ, उपहार में अपनों को भेंट करें।

॥ ओ३म् ॥

दिव्य ज्ञान

सन्तशिरोमणि

श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

ISBN 81-7077-015-7

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
4408, नई सड़क, दिल्ली-6, भारत
दूरभाष : 2914945, Email : ajay@vedicbooks.com
Web: www.vedicbooks.com

संस्करण : 1998

मूल्य : 100.00 रुपये

मुद्रक : स्पीडोग्राफिक्स, पटपड़गंज, दिल्ली।

DIVYA GYAN by Swami Vidyanand Saraswati

विषयानुक्रमणिका

स्वामी विद्यानन्दजी की अन्य रचनाएँ

१. भूमिका भास्कर (दो भाग)
२. सत्यार्थभास्कर (दो भाग)
३. संस्कारभास्कर
४. अनादितत्त्व दर्शन
५. वेद-मीमांसा
६. अध्यात्ममीमांसा (ईशोपनिषद्-रहस्य)
७. तत्त्वमसि अथवा अद्वैत-मीमांसा
८. प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद
९. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता
१०. आर्यों का आदिदेश (१२ भाषाओं में)
११. सृष्टि विज्ञान और विकासवाद
१२. द्वैतसिद्धि
१३. चत्वारो वै वेदाः
१४. वेदार्थभूमिका (हिन्दी)
१५. वेदार्थभूमिका (संस्कृत)
१६. त्यागवाद
१७. स्वराज्य दर्शन
१८. राजधर्म
१९. खट्टी-मीठी यादें
२०. स्वामी विवेकानन्द के विचार
२१. मूल गीता में श्रीकृष्णार्जुन संवाद
२२. जन्म-जीवन-मृत्यु
२३. शङ्कराचार्यकृत परापूजा का भाष्य
२४. वाल्मीकि रामायण : भ्रान्तियाँ और निराकरण
२५. आर्यसिद्धान्त विमर्श
२६. गौ की गुहार
२७. आदि शङ्कराचार्य वेदान्ती नहीं थे
२८. बागी दयानन्द
२९. मुक्ति और पुनर्जन्म
३०. वेद और गो संवर्धन
३१. स्वराज्य मीमांसा
३२. शान्तिदूत श्रीकृष्ण (भारत-पाक वार्त्ता के विशेष सन्दर्भ में)
३३. दिव्यज्ञान
३४. वेदार्थ भूमिका (गुजराती)
३५. ऋषि दयानन्द मेरी दृष्टि में (गुजराती)
३६. चेतावनी
३७. दीप्ति
३८. भस्मान्तं शरीरम्
३९. द्रोपदी का चीरहरण और श्रीकृष्ण

अंग्रेज़ी में

1. The Brahmasutra
2. Vedic Concept of God
3. Theory of Reality
4. Ishopanishad—a study in Ethics and Metaphysics
5. Anatomy of Vedanta.
6. Political Science
7. The Age of Shankara
8. The Riddle of Life and Death
9. Original Home of the Aryans
10. The Gospel of Swami Vivekananda
11. The Gospel of National Awakening
12. On The Vedas (A clue to the understanding of the Vedas)
13. Aryavrat (The original homes of the Aryans)
14. Dayananda (Architect of Modern India)

भूमिका

वनस्पतिशास्त्र (Botany) के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त भारतीय विद्वान् डॉक्टर बीरबल साहनी का कहना था–

There was some knowledge in the beginning of the world. It evolved and reached the stage where we find it today.

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में कुछ ज्ञान था। धीरे-धीरे वह विकसित हुआ और उस अवस्था को प्राप्त हो गया जहाँ हम आज उसे पाते हैं।

जब उनसे पूछा गया कि–"Wherefrom did knowledge come in the very beginning, because nothing could come out of nothing, he simply said—With this we are not concerned. We take it for granted that there was some knowledge in the very beginning of the world."

अर्थात् आरम्भ में वह ज्ञान कहाँ से आया तो उन्होंने इतना ही कहा कि इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है; हम यह मानकर चलते हैं कि सृष्टि के आदि में कुछ ज्ञान था अवश्य।

परन्तु द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकता। ज्ञान गुण है, इसलिए उसका आश्रयभूत कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिए। ज्ञान चेतन का गुण है। प्रकृति स्वयं जड़ है, अतः वह गुण का आश्रय नहीं हो सकती। स्वाभाविक ज्ञान सहज ज्ञान होता है, अतः वह स्वयं न घट सकता है और न बढ़ सकता है; किन्तु, वह नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। सृष्टि के आदि में जिस ज्ञान का यहाँ उल्लेख हुआ है उसका एकमात्र आश्रय=द्रव्य अजर-अमर परमेश्वर ही ठहरता है।

संसार में रूप-ज्ञान तो पशु-पक्षी सभी को स्वभावतः प्राप्त है, परन्तु प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि-जन्य ज्ञान–कारण को देखकर कार्य का ज्ञान, लिङ्गों को देखकर लिङ्गों का ज्ञान सबको नहीं होता। तदपि, परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि परीक्षण और अभ्यास से कुछ हद तक यह सम्भव है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि बिना निमित्त के सामान्य

ज्ञान से मनुष्य के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। दीवार पर टँगे नक्शे अथवा मॉडल को देखकर भी, अध्यापक के बताए बिना उसका बोध नहीं होता। सृष्टि के कार्यों को देखने मात्र से ज्ञान की वृद्धि सम्भव नहीं। निमित्त के बिना कुछ नहीं जाना जा सकता।

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय को अपना काम करने के लिए बाह्य सहायता की आवश्यकता होती है। सूर्य अथवा उसके प्रतिनिधि दीपक के बिना आँखें देख नहीं सकतीं। आकाश के बिना कान, वायु के बिना त्वचा, जल के बिना जिह्वा और पृथिवी के बिना घ्राण अपना-अपना कार्य नहीं कर सकते। जिस प्रकार बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य सहायता के बिना अपना कार्य नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार आन्तरेन्द्रिय बुद्धि भी बाह्य सहायता के बिना अपना कार्य नहीं कर सकती, अतः जैसे ईश्वर की व्यवस्थानुसार प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक इन्द्रिय से पूर्व उसका सहायक देवता उत्पन्न किया, उसी प्रकार सूक्ष्म पदार्थों को जानने के साधन बुद्धि की सहायता के लिए कोई सहायक प्रदान न करता, यह कैसे हो सकता था? अतः सृष्टि के आदि में स्वाभाविक ज्ञान के साधन बुद्धि की सहायता के लिए परमेश्वर द्वारा ज्ञान का दिया जाना आवश्यक था।

यदि जीवात्मा स्वभावतः उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जाने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। बहुत-से सर्वज्ञ हो गए होते। किन्तु वास्तविकता यह है कि आज भी यदि बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वे उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगेंगे। ऊपर चढ़ने की भाँति उन्नति परिश्रम और तपस्या माँगती है और मनुष्य उनसे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से सुगमता व सरलता को पसन्द करता है। वर्त्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानव के गुणों के विकास की नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरसता की कहानी है। मनुष्य के मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है। आदिमानव आज के मनुष्यों से मानवीय सामर्थ्य में कहीं अधिक उन्नत था—यह निर्विवाद है। इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूँढी जा सकती है जिसका आदिमानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। वह भाषा-विज्ञान है। वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ और अधिक गठित

थी। वर्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं, किन्तु उनमें न तो प्राचीन भाषाओं का लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बड़ी बात कहने का सामर्थ्य। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, सभी दृष्टियों से आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था।

ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान में अविनाभाव-सम्बन्ध होने से मानवोत्पत्ति के साथ ही ज्ञान का आविर्भाव सर्वथा अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। प्रत्येक अवस्था में आत्मा को ज्ञाता स्वीकार किया जाता है। ज्ञाता के मान लेने पर ज्ञेय (चराचर जगत्) को भी स्वीकार करना होगा। ज्ञाता और ज्ञेय की स्वीकृति से तीसरा=ज्ञान स्वतःसिद्ध है। इस प्रक्रिया में ज्ञान, ज्ञाता का अनुषङ्गी है।

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है। वाणी से शब्दोच्चारण की आवश्यकता अपने से भिन्न व्यक्ति को बोध कराने के लिए होती है, अर्थात् जब उपदेश्य तथा उपदेष्टा में दूरी होती है तब भाव-संक्रमण के लिए वर्णोच्चारण की अपेक्षा होती है। परन्तु, जब अपने से बात करनी होती है, अर्थात् जब हम चुपचाप बैठकर किसी विषय पर विचार करते हैं तो उस समय के संकल्प-विकल्प अथवा प्रश्नोत्तर की शृंखला में कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि के व्यापार के बिना ही हमारे मन में सूक्ष्मरूप में भाषा बोली जा रही होती है। यह मन ही मन बोली जा रही सूक्ष्म भाषा हमारे द्वारा बोली जानेवाली स्थूल भाषा के संस्कारों की स्मृतिरूप होती है। सृष्टि के आदि में जिन चार ऋषियों के चित्त राजस-तामस आदि वृत्तियों से असम्पृक्त थे, जब उन्होंने अपने स्वच्छ, निर्मल व निर्दोष चित्त को परमेश्वर की सर्वज्ञता में 'तत्स्थ' किया तो उनके स्फटिक-मणितुल्य निर्मल चित्त में परमेश्वर का ज्ञान अंकित होता चला गया। इस प्रकार परमात्मा सर्वान्तर्यामी होने के कारण वहाँ विद्यमान होता हुआ ऋषियों के आत्मा में अपने ज्ञान के संस्कार डालकर उन्हें उद्बुद्ध कर देता है। न तो बोलने के लिए परमात्मा को वाणी की आवश्यकता होती है और न सुनने के लिए ऋषियों को कानों की। इसके बाद वे ऋषि उस शब्दराशि को ऐसे ही उच्चारण करने लगते हैं जैसे कोई व्यक्ति पूर्वाभ्यस्त वाक्यों को निद्रा से जागकर उच्चारण करता है।

एक आत्मा के द्वारा दूसरे आत्मा में भाव-संक्रमण किया जाना

कोई अलौकिक क्रिया (process) नहीं है। मैस्मेरिज्म (Mesmerism) एक अत्यन्त निम्न स्तर की योगसिद्धि है। ध्यान की एकाग्रता द्वारा किसी व्यक्ति को प्रभावित करनेवाली इस विद्या को जाननेवाला अपनी संकल्प-शक्ति से दूसरे व्यक्ति पर मैस्मेरिज़्म करके उसे अपने वश में कर लेता है और उससे जो चाहे करा सकता है। इस प्रक्रिया से वह अपनी भाषा को दूसरे के मन में संक्रमित कर देता है। इस प्रकार जो भाषा प्रयोजक जानता है उस भाषा को वह न जानने वाले व्यक्ति से बुलवा सकता है। जब एक सामान्य जन अभ्यास के द्वारा, मनोबल से—अपनी सुप्त शक्तियों को जागृत करके अपने विशिष्ट सामर्थ्य से—अपने से भिन्न व्यक्ति के मन में अपनी भाषा और भावों का संक्रमण कर सकता है और प्रभावित व्यक्ति प्रयोजक अथवा संक्रान्ता की इच्छानुसार व्यवहार करने को विवश हो जाता है, तो जीवात्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी एवं सर्वशक्तिमान् प्रभु के द्वारा ज्ञान का संक्रमण होना सहज संभाव्य है। फिर, सर्ग के आरम्भ में जिन ऋषियों के आत्मा में वह ज्ञान का संक्रमण करता है वे भी विशिष्ट आत्मा होते हैं, मानो वेदों को प्रकट करने के लिए माध्यम के रूप में उनका प्रादुर्भाव होता है।

किन्तु शब्दमात्र से तो संसार का व्यवहार नहीं चल सकता। शब्द के साथ जब तक उसके अर्थ का ज्ञान न हो, तब तक शब्द का कोई उपयोग नहीं हो सकता; इसलिए ईश्वर द्वारा प्रदत्त वह ज्ञान वाचक (शब्द) तथा वाच्य (अर्थ) का संयुक्त रूप था। ऋचाओं के आविर्भाव के साथ अन्तःप्रेरणा से ही ऋषियों को उनके अर्थ का उद्‌बोधन हुआ। यहाँ 'अर्थ' पद से पदार्थ का ग्रहण होता है। पदार्थ ही शब्द का अर्थ है। पद वेदों में थे, उनके अर्थ पदार्थ-सृष्टि में थे। उन पदार्थों के सृष्टि में, अस्तित्व में आने पर, उनके वाचक शब्द ईश्वरीय नियमानुसार उच्चारित हुए। उस उद्‌बोधन के आधार पर ही ऋषियों ने सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का नामकरण किया। वेद के मूल शब्द यौगिक थे। अब वे योगरूढ़ि भी होने लगे। जब तक शब्द यौगिक और योगरूढ़ि रहते हैं तब तक उनके अर्थ बहुव्यापी रहते हैं। कालान्तर में वे शब्द पारिभाषिक बनते गए और उनके अर्थों में रूढ़ि बन गए।

ऋषियों की आत्मा में शब्दमय ज्ञान हुआ—**'अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।'** (अथर्व० ३।३०।१) अर्थात् आपस में तुम ऐसे प्यार करो जैसे गौ अपने सद्योजात बछड़े से करती है। इन शब्दों के साथ ही

ऋषियों की आत्मा में बछड़े को प्यार करती हुई गौ का चित्र अंकित हो गया। यह चित्र ही उक्त मन्त्र का अर्थ है। जिस प्रकार एक इंजीनियर पहले अपने मन में किसी मकान या पुल का चित्र या मॉडल बना लेता है और फिर उसी चित्र या मॉडल के आधार पर वैसा ही मकान या पुल बनाता है, उसी प्रकार वेद के शब्दों से सूचित होनेवाले विभिन्न पदार्थों के, परमात्मा द्वारा अपने मन में अंकित चित्रों के आधार पर आदि-सृष्टि के ऋषियों ने उन-उन पदार्थों की रचना कर डाली।

कृषि-सम्बन्धी अथर्ववेद ३।१७ तथा ऋग्वेद १०।१०१ के मन्त्रों का उपदेश देते समय परमात्मा ने ऋषियों के मन में इन मन्त्रों में आए शब्दों से सूचित होनेवाले पदार्थों के चित्र उत्पन्न कर दिये। हल और उसका जुआ, बैल के गले में पड़नेवाले जोत, हल में जुती हुई बैलों की जोड़ी, खेत में बोया जाता बीज, खेत में खड़ी हुई खेती, दराँती और उससे काटी जाती हुई फसल, बैलों से गाहना और फिर छाज में डालकर उड़ाना आदि सब पदार्थों और उनसे होनेवाली क्रियाओं के चित्र ऋषियों के मन में उत्पन्न कर दिये। फिर आदिम ऋषियों ने यह सब-कुछ दूसरों को सिखा दिया। इस प्रकार एक-दूसरे से सीखने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार आरम्भ में ज्ञान का प्रवाह चालू कर देने पर मनुष्यों की बुद्धि का विकास होता गया। कालान्तर में अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर नये-नये पदार्थ भी बनाने लग गए।

वेदों में विविध विद्याएँ

बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु जड़ वस्तु होने से वह किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। इसलिए मनुष्य में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। मनुष्य को आरम्भ में गुरु-ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, मनन, चिंतन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है। मनुष्ययोनि की यही विशेषता है। इसी व्यवस्था में मनुष्ययोनि की सार्थकता है। यही एक ऐसी योनि है जिसमें जीव को विकास का अवसर मिलता है। परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता; समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है। इसी

को लक्ष्य कर शतपथब्राह्मण में कहा है—**मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्, पुरुषो वेद'** अर्थात् माता, पिता और आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

अफ्रीका में गृहीत जन्म हब्शीपुत्र को इंग्लैंड में ले-जाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर, वहीं उसका पालन-पोषण किया जाए तो वह अंग्रेजों की भाँति व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज बालक का अफ्रीका के किसी हब्शी-परिवार में पालन-पोषण किया जाए तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा। गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बंगला बोलता है। इन सब का कारण यही है कि जहाँ जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है, वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है। जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य-सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े से बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता। प्रत्येक मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किसी न किसी रूप में दूसरों के सम्बन्ध या सम्पर्क से ही ज्ञान प्राप्त करते रहना पड़ता है।

पशु-पक्षी हों या मनुष्य, जीवमात्र स्वाभाविक ज्ञानयुक्त है। परन्तु, स्वाभाविक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से बहुत पीछे है। मानव-शिशु को माँ कई दिनों तक छाती से लगाकर उसके मुँह में अपना स्तन दे-देकर दूध पीना सिखाती है, किन्तु गौ का जाया पैदा होते ही पास में खड़ी माँ के स्तनों से जा लगता है। पशु पैदा होते ही तैरने लगता है। राजस्थान की भैंस ने जीवन में तैरने योग्य पानी भी नहीं देखा होगा, फिर भी उसका सद्योजात बच्चा पानी में घुसते ही तैरने लगेगा। इसके विपरीत नदी के किनारे रहनेवाले और जीवनभर मल्लाह का काम करनेवाले अथवा अन्यथा तैरने के अभ्यस्त मनुष्य का बच्चा भी बिना सीखे नहीं तैर सकेगा। तैरने की कौन कहे, जब तक उसे अँगुली पकड़कर चलाया नहीं जाएगा, तब तक वह चल भी नहीं सकेगा।

जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही हमारे माता-पिता आदि ने अपने माता-पिता आदि से, और उन्होंने भी अपने माता-पिता आदि से प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम पीढ़ी प्रादुर्भूत मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अतः मनुष्यमात्र

के कल्याणार्थ आदिगुरु परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सिद्ध होता है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। वही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में जितना भी ज्ञान है, उसका आदिस्रोत परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने स्वरचित योगदर्शन (१।२६) में **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहकर परमात्मा को **'गुरूणां गुरुः'** बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का यही आशय है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके पथ-प्रदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनकी आत्मा में स्फुरित कर दीं । इस ज्ञानराशि को ही 'वेद' नाम से अभिहित किया जाता है।

किसी भी संगठन, समाज अथवा संस्था का संचालन करने के लिए उसके संविधान का होना आवश्यक है, अतः संगठन अथवा संस्था के साथ ही उसके नियमोपनियम भी बनाए जाते हैं जिनका पालन करना उससे सम्बन्धित लोगों के लिए अनिवार्य होता है। जब साधारण मनुष्य भी विधि-विधान के बिना कोई संगठन या संस्था नहीं बनाता तो यह कैसे सम्भव है कि ईश्वर सृष्टि तो बना दे, किन्तु जिसके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की उसको इस सृष्टि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी न दे? सृष्टि के प्रारम्भ में जब पहले-पहल मनुष्य का इस धरती पर प्रादुर्भाव हुआ तो वह इससे सर्वथा अनभिज्ञ था। सृष्टि में उसे बहुत-कुछ देखने को मिला, किन्तु वह विविध पदार्थों के न नाम जानता था, न उनके गुण-दोषों को जानता था और न ही उनके उपयोग के विषय में उसे कुछ पता था। अपने शरीर तक के विषय में वह कुछ नहीं जानता था। वह अकेला नहीं था; बहुतों के साथ था; परन्तु किसके साथ कैसे व्यवहार करे—एतद्विषयक ज्ञान से भी वह सर्वथा शून्य था। ऐसी अवस्था में सृष्टि के रचयिता एवं संचालक परमात्मा का कर्त्तव्य था कि वह मनुष्य को प्रत्येक पदार्थ के नाम, गुण तथा उपयोग के विषय में पूरी-पूरी जानकारी दे, और वहाँ रहने के लिए अपेक्षित समस्त नियमों से अवगत करा दे ।

इस प्रकार सृष्टि में जगत् के संचालन, धारण, पोषण आदि के लिए अपेक्षित विधान का निर्माण आवश्यक था। इसी में ईश्वर के विधाता नाम की सार्थकता थी। इसलिए परमात्मा ने मनुष्य की

उत्पत्ति के साथ ही वेद के रूप में मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश किया–**ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**– परमात्मा ने अपने ज्ञान-बल से ऋत और सत्य के नाम से सम्पूर्ण विधि-विधान का निर्माण किया। परमात्मा की एक संज्ञा कवि है। उस कवि के दो काव्य हैं–एक शब्दरूप जिसे वेद कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं। एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं–एक पर पद अंकित है और दूसरे पर पदार्थ। पहला **'न ममार न जीर्यति'** है–अजर और अमर; दूसरा नित्य परिवर्तनशील–**'जगत्यां जगत्'**। महर्षि कणाद के अनुसार पदार्थों के रूप में विस्तृत जगत् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त किया जाता है उसका विवरण उसी रूप में वेदों में पाया जाता है। तद्नुसार शास्त्र से सृष्टि-रचना का बोध होता है और प्रतिभाशील मानव के द्वारा सृष्टि-रचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा होती है। यह मान लेने पर कि इस नामरूपात्मक जगत् का रचयिता परमेश्वर है, यह मानना सहज होगा कि उसकी प्रक्रिया को भी पूरी तरह वही जान सकता है; उसमें आकर रहनेवाला मानव नहीं। जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्र का या एक वैद्य किसी औषध का निर्माण करता है और उसका विवरण देने के लिए एक पत्रक तैयार करता है, तो दोनों में सामंजस्य होने पर यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं, वैसे ही 'वेद' ब्रह्म का सिद्धान्त-ज्ञान (Theory) है और सृष्टि उसकी प्रायोगिक (Practical) रचना है। वेदों में ईश्वर-रचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यथायथ वर्णन होना आवश्यक है। विश्व की नामरूपात्मक उभयविध रचना में परस्पर सामंजस्य होना आवश्यक है। 'नाम' शब्द है जो ऋग्वेदादि रूप है, और 'रूप' जगदात्मक रचना है। स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य में दोनों में सामंजस्य देखकर जेम्स हेस्टिंग्ज़ ने अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ 'Encyclopedia of Religion and Ethics' में लिखा है–

"Swami Dayananda tried to make the book of God resemble the book of nature."

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया।

सृष्टि की रचना और उसका संचालन सर्वथा व्यवस्थित तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। वे सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक-से रहते हैं। **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'**

वैशेषिक दर्शन की इस मान्यता के अनुसार वेद में जो कुछ है, बुद्धिपूर्वक तथा तर्कप्रतिष्ठित है। वेद की जो वाक्य-रचना है, पद व पदसमूह की आनुपूर्वी है, यह सब बुद्धिपूर्वक है। इंग्लैण्ड के मनीषी W.D. Brown ने अपनी पुस्तक Superiority of Vedic Religion में लिखा है–

"Vedic Religion is thoroughly Scientific where science and religion meet hand in hand. Here theology is based on science and philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया विज्ञान-सम्मत है। यहाँ विज्ञान और धर्म दोनों हाथ में हाथ डालकर चलते हैं।

लुई जैकालियट नामक विद्वान् ने मतमतान्तरों के सृष्टिरचना-विषयक मन्तव्यों का अनुशीलन करते हुए लिखा है–

"Astonishing fact ! The Hindu revelation Vedic, is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science." —*The Bible in India*, Vol. II, Chap I

अर्थात् यह आश्चर्यजनक सचाई है कि केवल हिन्दुओं का ज्ञान वेद ही है जिसके सृष्टिरचना-विषयक सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुरूप हैं।

वैदिक धर्म के सिद्धान्तों और मान्यताओं के वैज्ञानिक आधार के कारण ही भारत में वैसे अत्याचार कभी नहीं हुए, जैसे बाइबल आदि को ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले यूरोप में पृथिवी को गोल कहने और अनेक लोगों की सत्ता माननेवाले गैलिलियो और ब्रूनो आदि पर हुए, जिनका विस्तृत वर्णन डॉ० विलियम ड्रेपर ने अपनी पुस्तक History of the conflict between Religion and Science में किया है।

भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है कि **'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'** सायणाचार्य ने अपने 'तैत्तिरीय संहिता'-भाष्य के उपोद्घात में लिखा–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

इस प्रकार सब प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि का स्रोत वेद है। मनु का तो स्पष्ट मत है–**'स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।'** (मनु० २।७) वेद को 'सर्वज्ञानमय' तभी कहा जा सकता है जब समस्त विद्याएँ वेद में हों। यास्काचार्य ने वेद की विशेषता बताते हुए कहा–**'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'**

(निरुक्त १।२)—अल्पज्ञ होने से मनुष्य की विद्या तो अनित्य है, परन्तु नित्य परमेश्वर का ज्ञान होने से वेद सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है। आज भले ही हम इस बात को सर्वांश में सिद्ध न कर सकें, परन्तु वेद में विविध विद्याएँ होनी चाहिएँ—इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता। याज्ञवल्क्य-स्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं तु विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्॥

'समस्त विद्याओं का मूल वेद है'—याज्ञवल्क्य का यह कथन अक्षरशः सत्य है। वैदिक वाङ्मय के जितने भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, सभी किसी न किसी रूप में वेद से जुड़े हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-विषयक समस्त ग्रन्थ वेदांगों के अन्तर्गत हैं। विज्ञान और दर्शन-विषयक हमारे महान् ग्रन्थ—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा वेद के उपाङ्ग कहाते हैं। समस्त उपनिषद् ईशोपनिषद् का विस्तार हैं और स्वयं ईशोपनिषद्, यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ही है। ब्राह्मणादि ग्रन्थ तो हैं ही वेद के व्याख्यान। श्रौत और गृह्यसूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक ग्रन्थ हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, अर्थवेद और गन्धर्ववेद का नाम ही उपवेद है। आयुर्वेद के विषय में इस विद्या के आकर-ग्रन्थ चरकसंहिता (सूत्रस्थान अ० ३०) में प्रश्न उठा—**'कस्माद् आयुर्वेदः?'** आयुर्वेद कहाँ से आया? इसके उत्तर में चरक ऋषि ने कहा—**'चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते। वेदञ्चोपदिश्यायुर्वाच्यम्'** आयु के हितार्थ चिकित्साशास्त्र का उपदेश किया गया है और वेद का उपदेश आयु का वर्णन करने के लिए है। पुनः प्रश्न उठा—चारों वेदों में कौन-सा वेद चिकित्साशास्त्र का प्रतिपादक है? महर्षि ने उत्तर दिया—**'चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानाम् आत्मकोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।'** ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदों में अथर्ववेद में आयुर्वेद का उपदेश है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भगवान् सुश्रुत का वचन है—**इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य** (सूत्रस्थान १-३)। 'काश्यप संहिता' (विमान स्थान) में भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। अथर्ववेद के मन्त्र-समुदाय का नाम 'ब्रह्म' है, इसलिए अथर्ववेद का अपर नाम 'ब्रह्मवेद' है। स्वयं अथर्ववेद में इसकी अन्तःसाक्षी उपलब्ध है। अथर्ववेद (१५।६।८) में चारों वेदों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन करते

हुए कहा–"**तमृचः सामानि, यजूंषि, ब्रह्म चानुव्यचलत्**'। तदनुसार गोपथब्राह्मण में भी कहा गया–'**चत्वारो मे इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः**'। पुनः अथर्ववेद (११।६।१४) में 'ब्रह्म' के स्थान में 'भेषज' पद रखकर कहा गया–**ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि** । इस प्रकार 'ब्रह्म' तथा 'भेषज' पद अथर्व के पर्यायवाची हैं। इस बात की पुष्टि करते हुए ताण्ड्य महाब्राह्मण (१२।९।१०) में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया–'**भेषजं वा अथर्वाणि**'।

इन मुख्य ग्रन्थों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी-पालन, कृषि, सिंचाई, कृत्रिम वर्षा, उद्योग-धन्धे, यातायात, भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, गणित शास्त्र, अन्तरिक्ष विज्ञान, राजनीति शास्त्र, सैन्य संचालन, ऋतु विज्ञान, भूगर्भ शास्त्र, शिक्षा, भाषा विज्ञान आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक अथवा सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक हो और वेद में उपलब्ध न हो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'वेदों में विज्ञान' विषयक मन्तव्य पर टिप्पणी करते हुए मनीषीप्रवर योगी अरविन्द ने अपने निबन्ध Dayanand and the Veda में लिखा है–

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that Veda contains truths of science as well as truth of religion. I will add my own conviction that Veda contains the other truths of science which the modern world does not at all possess; and in that case, Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of Vedic wisdom."

अर्थात् दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों की सचाइयाँ पाई जाती हैं, कोई उपहासास्पद या कल्पनामूलक बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी भी यह धारणा जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में विज्ञान की वे सचाइयाँ भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसी अवस्था में दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से नहीं, न्यूनोक्ति से ही काम लिया है।

इसी आधार पर अरविन्द ने दयानन्द को 'First discoverer of right clues to the understanding of the Vedas' बताया है। वस्तुतः

दयानन्दकृत वेदभाष्य से ही वेद का सर्वज्ञानमयत्व सिद्ध होता है और 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' प्रमाणित होता है। मानव ने तो आकाश में उड़नेवाले विमान के दर्शन प्रथम बार सन् १९०३ में किए, अंग्रेजी भाषा में वायरलैस शब्द का प्रवेश सन् १८९४ में हुआ। यदि इनका उल्लेख वेदों में न मिला होता तो स्वामी दयानन्द १८७५ में, अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कैसे कर देते? इस प्रकार की अनेक विद्याओं का उल्लेख भी स्वामी दयानन्द ने वहाँ किया जिनकी विस्तृत व्याख्या मैंने दो भागों में प्रकाशित अपने 'भूमिका भास्कर' नामक ग्रन्थ में की है।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारायण भवानीराम पावगी ने अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ 'Vedic Fathers of Geology' में **'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'** (ऋ० १०।१२१।५) ; **'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'** (ऋ० १०।९७।१); **'स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसा-ऽधराचीनमकृणोदपामपः'** (ऋ० २।१७।५) **'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्'** (ऋ० २।१२।२) इत्यादि मन्त्रों को उदाहृत कर वेदों में भूगर्भविद्या का मूल बताते हुए लिखा है—

"I may take this opportunity to remind the reader, without any fear of contradiction, that the Vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth, that has still remained unexplored."

अर्थात् मैं बिना किसी प्रतिवाद के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूँ कि वेदों में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं। वे उस साहित्यिक धन की अक्षय खान हैं जो अभी तक अज्ञात ही पड़ा है।

डॉक्टर व्हीलर विल्लौक्स ने इस विषय में लिखा है—

"It (India) is the land of the great Vedas--the most remarkable works, containing not only religious ideas for a perfect life but also facts which science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to have been known to the seers who found the Vedas."

अर्थात् यह (भारत) उन महान् वेदों की भूमि है जो अद्भुत ग्रन्थ हैं, जिनमें न केवल पूर्ण जीवन के लिए उपयोगी धार्मिक सिद्धान्त बताए गए हैं, अपितु उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रॉन, वायुयान आदि सभी कुछ वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होता है।

डॉ० वी० जी० रैले ने वेदों में जीव-विज्ञान का विस्तृत वर्णन पाकर अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'The Vedic Gods' में लिखा है–

"Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rigveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system without the thorough knowledge of which psychological deductions and philosophical speculations cannot be correctly made."

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी-संस्थान की रचना-सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के वर्णनों से इतना मेल खाता है कि कई बार मन में प्रश्न उठता है कि क्या वेद वास्तव में धर्मग्रन्थ हैं या वे शरीर-विज्ञान और नाड़ी-संस्थान के रचना-विषयक ग्रन्थ हैं जिन्हें पूरी तरह जाने बिना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारों को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता ।

रक्त-संचार (Circulation of blood) के सिद्धान्त का पता यूरोप में डॉक्टर हार्वे को भले ही सत्रहवीं शताब्दी में चला हो, परन्तु अथर्ववेद के काण्ड १, सूक्त १७, मन्त्र १ तथा काण्ड १०, सूक्त २, मन्त्र ११ में इसका स्पष्ट तथा चमत्कारपूर्ण वर्णन उपलब्ध है जहाँ धमनियों में अरुण अर्थात् शुद्ध लाल रंगवाले तथा शिराओं में धूम्रवर्णवाले अशुद्ध रक्त के शरीर में सर्वत्र नदी के प्रवाह के समान संचरण करने का वर्णन पाया जाता है। वस्तुतः 'हृदय' शब्द स्वयं ही इस सिद्धान्त का उद्घोषक है। यजुर्वेद के व्याख्यानरूप शतपथब्राह्मण (१४।४।८।१) में 'हृदय' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि 'हृदय' को यह नाम इसलिए दिया गया है कि वह तीन काम करता है– 'हृ' से 'हरति', 'द' से 'ददाति' और 'य' से 'याति'–यह लेता है, देता है और गति करता है। हृदय शरीर से अशुद्ध रक्त को लेकर, फेफड़ों द्वारा उसे शुद्ध करके शरीर को देता रहता है और इसी उद्देश्य से सदा गति करता रहता है। इस प्रकार 'हृदय' शब्द के अर्थ में ही रक्त-संचार का भाव आ जाता है।

मनुस्मृति (१२।९६) में कहा है–

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च।।

वेद से भिन्न अनेक ग्रन्थ बनते और नष्ट होते रहते हैं। वे सब

अर्वाक्कालिक प्राचीन परम्परा के विपरीत होने से निष्फल और मिथ्या होते हैं, परन्तु **'देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**–परमेश्वर का काव्य वेद न कभी पुराना पड़ता है और न नष्ट होता है।

मानव का ज्ञान भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से युक्त होने के कारण यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किये, उन्हें आगे आनेवाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला। डार्विन के विकासवाद तथा फ्रायड के मनोविश्लेषण का आज वह स्वरूप नहीं रहा जो मूलतः निर्धारित किया गया था। यही अवस्था आइंस्टीन के सापेक्षवाद की है। परन्तु वेद के किसी सिद्धान्त को, अन्यथा नहीं किया जा सका, क्योंकि वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा निर्धारित थे।

वैदिक विज्ञान 'शब्द' को आकाश का गुण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान अब तक उसे वायु का गुण सिद्ध करने में लगा रहा, परन्तु रेडियो के आविष्कार ने उसकी थियोरी बदल दी। आज वे मान गए कि जितने काल में जितनी दूर शब्द पहुँचता है, वायु की गति उतनी नहीं । अब शब्द को ईथर या स्पेस का गुण माना जाने लगा है। ईथर और स्पेस दोनों ही आकाशतत्त्व के अन्तर्गत हैं।

वृक्ष, लता आदि को विज्ञान पहले जड़ मानता था। जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक परीक्षणों से उनमें जान डाल दी और उनमें प्राणसत्ता सिद्ध कर दिखाई। वेदादि शास्त्र सदा से उन्हें चेतन मानकर जीव की भोगयोनि मानते रहे हैं। अथर्ववेद (१।३२।१) में **'वीरुधः प्राणन्ति'** कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद ८।७।६ तथा छान्दोग्य उपनिषद् (६।११।३) में भी इस प्रकार का संकेत किया है। पुनर्जन्म के प्रसंग में मनुस्मृति (१२।९) में कहा है–**'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'** अर्थात् शरीर से किए गए पापों के फलस्वरूप प्राणी वृक्ष, लता, गुल्म आदि योनियों को प्राप्त करता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में रहनेवाले कालेपन को अभी जाना है, परन्तु वैदिक विद्वान् वेद के माध्यम से इस रहस्य को आदिकाल से जानते हैं। आदित्य-मण्डल के मध्यभाग में कालापन होने से ही आदित्य को बहुधा 'कृष्ण' नाम से पुकारा गया है। जैसे **'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्'** (१।७९।२)–यहाँ कृष्ण पद से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश

है। जैमिनि ब्राह्मण में कहा है–**'संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् ।'** (जै० ब्रा० २।२८) अर्थात् जो यह तपता है, वह संवत्सर है; उसमें जो प्रकाश करने-वाला भाग है, वह संवत् है और जो बीच में कृष्ण भाग है, वह सर है। आदित्य-मण्डल में रहनेवाले ये काले धब्बे चलते रहने से सर्प कहाते हैं। इन सर्पों के कारण ही ताण्ड्य ब्राह्मण (२५।१५।४) में **'सर्प्या वा आदित्याः'** कहा है।

सन् १८६६ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Chips from a German Workshop' में पृष्ठ २७ पर मैक्समूलर ने लिखा था–'A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace.' अर्थात् वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बेहद बचकानी, जटिल, निकृष्ट और अत्यन्त साधारण है।

उसी मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को पढ़ने के बाद १८८२ में अपनी पुस्तक 'India : What can it teach us?' में वेदों के सम्बन्ध में लिखा–

"The vedic literature opens to us a chamber in the education of the human race to which we can find no parallel anywhere else. Whoever cares for the historical growth of our language and thought, whoever cares for the first intelligible development of religion and mythology, whoever cares for the first foundation of Science, Astronomy, Metronomy, Grammar and Etymology, whoever cares for the first intimations, for the first philosophical thoughts, for the first attempt at regulating family life, village life and state life as founded on religious ceremonials, tradition and contact, must in future pay full attention to the study of Vedic literature."

अर्थात् जो भी व्यक्ति भाषा और विचारों के ऐतिहासिक विकास की ओर ध्यान देता है, जो भी धर्म और गाथा-शास्त्र के प्रथम बुद्धिगम्य विकास की ओर ध्यान देता है, विज्ञान, ज्योतिष, नक्षत्र विद्या, व्याकरण, निरुक्तिशास्त्र आदि के मूल स्रोत की ओर ध्यान देता है, जो भी प्रथम दार्शनिक विचार, पारिवारिक जीवन व राष्ट्रीय जीवन को नियमित बनाने के सम्बन्ध में जो धार्मिक विधान, परम्परा आदि पर आधारित थे, जानने की इच्छा रखता है, उसे भविष्य में वैदिक साहित्य की ओर ध्यान देना चाहिए।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व इतिहास–विभागाध्यक्ष तथा कालान्तर में लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त संसद् में पढ़ा जानेवाला राष्ट्रपति का भाषण है। यजुर्वेद (२२।२२) का **'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे'** इत्यादि मन्त्र राष्ट्र का सदाबहार घोषणापत्र (Manifesto) है। यजुर्वेद के २३वें अध्याय में **'ओं गणानां त्वा गणपतिं हवामहे'** से ३०वें मन्त्र तक तथा अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में स्पष्टतः राज्य–प्रशासन के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद् के सदस्यों, उनसे निर्मित संसद् के दोनों सदनों, राजा और प्रजा के कर्त्तव्यों एवम् अधिकारों, न्यायाधीशों की योग्यताओं का विस्तृत वर्णन है। अथर्ववेद के १२वें काण्ड में आया भूमिसूक्त तो मातृभूमि की स्तुति और एक आदर्श राष्ट्र की स्थापना से सम्बन्धित विश्वसाहित्य की अनुपम निधि है। यही बात अथर्ववेद के कृषि–सूक्त के विषय में कही जा सकती है। अथर्ववेद १०।८।४ में विमान द्वारा कृत्रिम वर्षा का उल्लेख मिलता है ।

वेद में चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय तथा मनुष्य के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक जीवन से सभी विषयों का और भौतिक एवं नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले सभी अचल नियमों का जिन्हें वेद में ऋत और सत्य के नाम से पुकारा गया है, समावेश है।

वेद की इस अमूल्य निधि के होते हुए भी हम दिवालिया हैं। भारत के महान् वैज्ञानिक तथा शिक्षाशास्त्री डॉ० दौलतसिंह कोठारी ने २६ जनवरी सन् १९६९ को दिल्ली में सम्पन्न International Conference on Science and Technology के समापन–भाषण में कहा था–"I regret to say that the centre of gravity of India's intellectul life was outside India. We are influenced largely by what happens outside. Indian universities are implanted from outside and have not yet taken roots in the country's soil. I plead for modification of the structure of universities to meet India's needs. Indian thought enshrined in ancient sanskrit books did not find a place in the country's university education. The country should rediscover its ancient heritage."

अर्थात्–मुझे खेद है कि भारत के बौद्धिक जीवन का केन्द्र भारत से बाहर है। हम प्रायः विदेशी विचारधारा से प्रभावित होते हैं। हमारे विश्वविद्यालय बाहर से लाकर रोपे गए हैं और अभी तक इस देश की

धरती में जड़ नहीं पकड़ सके हैं। मैं भारतीय आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के लिए विश्वविद्यालयों के ढाँचे में सुपरिवर्तनों का आग्रही हूँ। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में सुरक्षित विचारधारा को इस देश की विश्वविद्यालयीय शिक्षा में स्थान नहीं मिला है। इस देश के लिए अपनी प्राचीन धरोहर को खोज निकालना आवश्यक है।

इस दिशा में आगे बढ़ने के उद्देश्य से ही इस पुस्तक का प्रणयन किया गया है। यह लीक डालना-मात्र है। इस मार्ग को सुधीजन प्रशस्त कर देंगे, इस आशा के साथ-

विदुषामनुचरः

विद्यानन्द सरस्वती

डी १४/१६, माडल टाउन,

१५ जून १९९६

ज्ञानोत्पत्ति

पशु-पक्षी हों या मनुष्य-जीवमात्र स्वाभाविक ज्ञानयुक्त है। स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पश्वादि अन्य प्राणियों से पीछे है। पशु पैदा होते ही तैरने लगता है। राजस्थान की भैंस ने जीवन में तैरने योग्य पानी भी नहीं देखा होगा, फिर भी उसका सद्योजात बच्चा पानी में घुसते ही तैरने लगेगा। इसके विपरीत नदी के किनारे रहनेवाले और जीवन-भर मल्लाह का काम करनेवाले अथवा अन्यथा तैरने के अभ्यस्त मनुष्य का बच्चा भी बिना सीखे नहीं तैर सकेगा। तैरने की कौन कहे, जब तक उसे अँगुली पकड़कर चलाया नहीं जाएगा तब तक वह चल भी नहीं सकेगा।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, परन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़कर विद्वान् बनने के लिए अध्यापक के पास जाना पड़ता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन तथा आत्म-संरक्षण-विषयक पशुजगत् का काम तो स्वाभाविक ज्ञान से चल सकता है, परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

प्रकृति से ज्ञान-प्राप्ति की बात सुनने में तो अच्छी लगती है, पर यथार्थ में उसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। प्रकृति स्वयं जड़ है। जब ज्ञान उसी के पास नहीं तो वह दूसरों को कहाँ से देगी? प्रकृति तो सबको समानरूप से उपलब्ध है। यदि प्रकृति से ज्ञान मिल सकता तो सभी स्वतः विद्वान् हो जाते। यदि मनुष्य सचमुच प्रकृति की शिक्षा पर चलने लगे तो प्रकृति के अनुयायी पशुओं की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अनुकरण करने लगेगा और पशु-जगत् की भाँति मनुष्य-समाज भी सर्वत्र मात्स्यन्याय तथा मातृ-गमन व स्वसृ-गमनादि में प्रवृत्त होगा। तब उसमें मानवता कहाँ रह पाएगी?

वस्तुतः प्रकृति भी नैमित्तिक साधनों से शिक्षित (वर्त्तमान जन्म

में अथवा पूर्वजन्म या जन्मों में) व्यक्ति के सामने ही अपने रहस्य खोलती है। सेव को गिरता देखकर पृथिवी में निहित गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का ज्ञान न्यूटन जैसे वैज्ञानिक को ही हुआ, हर किसी को नहीं। प्रकृति का सहयोग सामर्थ्यवान् को ही मिलता है। संसार में होनेवाली घटनाएँ भी सामर्थ्यवान् को ही शिक्षा देती हैं। सृष्टि के कार्यों को देखनेमात्र से ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं। प्राकृतिक जगत् भी तो ज्ञेय अर्थात् जानी जानेवाली सामग्री है, परन्तु दीवार पर टँगे नक्शे अथवा मॉडल को देखकर भी अध्यापक के बताए बिना उसका ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार प्राकृतिक जगत् से भी किसी निमित्त के बिना कुछ नहीं जाना जा सकता।

जैसे वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता प्रदान की जाती है, वैसे ही मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में भी विकासवाद को आधार माना जाता है। इसी के अनुसार यह कहा जाता है कि मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञानप्राप्ति में समर्थ हो जाती है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है। जब से दीपक और पतंगा हैं, तब से ऐसा ही होता आ रहा है। पतंगों के करोड़ों वर्षों के अनुभव ने उन्हें यह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते। सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, घोड़े, हाथी आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखा देते हैं, परन्तु स्वतन्त्र रूप में आज भी उनका आचरण वैसा ही है जैसा आज से लाखों-करोड़ों वर्ष पहले था। मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपांजी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है और वह भी प्रशिक्षक के द्वारा। पशु-जगत् में ही नहीं, मानव-जगत् में भी यही नियम कार्य कर रहा है। कोई परिवार कितना ही ज्ञानी और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का ज्ञान परम्परा से चला आता हो, उस परिवार में जन्म लेनेवाले बच्चे भी स्वयं पढ़े-लिखे बिना विद्वान् बन जाएँ, यह संभव नहीं। ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वतः संक्रमण करता रहता और उत्तरोत्तर अधिक से अधिक विद्वान् पुरुष उत्पन्न होते जाते। यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में से एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाए और

दूसरे को उससे वंचित रक्खा जाए तो दूसरा एक ही वंश-परम्परा में जन्म लेने पर भी मूर्ख रह जाएगा। ज्ञान-प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित होना ही इसमें कारण है।

बहुतों की अल्पज्ञता या उनके सामान्य ज्ञान से भी विशेष ज्ञान का उद्भव नहीं हो सकता। बुझे हुए सैकड़ों दीपक एक-साथ मिलकर भी प्रकाश नहीं दे सकते। पशुओं का उदाहरण हमारे सामने है। स्वाभाविक ज्ञान सबमें होने पर भी लाखों भेड़-बकरियाँ मिलकर रोटी बनाने या पुल बाँधने जैसा कोई विशेष रचनात्मक कार्य करने में असमर्थ हैं। गाय, घोड़े आदि मिलकर सामूहिक बुद्धि के सहारे आज तक एक भी पशु-चिकित्सालय नहीं खोल सके। नौ अयोग्य छात्रों के अपूर्ण ज्ञान को एकत्र करके भी वह ज्ञान उपलब्ध नहीं होता जो दसवें एक ही योग्य छात्र द्वारा हो सकता है। सौ मैट्रिक-पास का ज्ञान एक एम०ए० के बराबर नहीं होता। स्पष्ट है कि जब तक नैमित्तिक ज्ञान का सहारा न हो, तब तक जीवों के सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अतः यह कहना कि मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदान से ज्ञान का संग्रह कर लेंगे, युक्तियुक्त नहीं है।

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय को बाह्य सहायता की अपेक्षा है। सूर्य अथवा उसके स्थानापन्न दीपक आदि के अभाव में आँख नहीं देख सकती। आकाश के बिना कान, वायु के बिना त्वचा, जल के बिना जिह्वा तथा पृथिवी के बिना घ्राण व्यर्थ हैं। जिस प्रकार बाह्य सहायता के बिना मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार आन्तरेन्द्रिय बुद्धि भी बाह्य सहायता के बिना कार्य नहीं कर सकती। अतः जिस प्रकार ईश्वर की व्यवस्थानुसार प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के लिए उसका सहायक देवता उत्पन्न किया, उसी प्रकार सर्वोत्तम एवं सूक्ष्म पदार्थों को जानने के साधन बुद्धि की सहायता के लिए कोई सहायक न होता—यह कैसे सम्भव है? अतः सृष्टि के आदि में स्वाभाविक ज्ञान के साधनरूप बुद्धि की सहायता के लिए पूर्णज्ञानी परमेश्वर द्वारा ज्ञान का दिया जाना अनिवार्य है।

जब यह निश्चय हो गया कि किसी के सिखाए बिना मनुष्य कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा?

जिस प्रकार हमने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया

है, वैसे ही हमारे माता-पिता ने अपने माता-पिता से, और उन्होंने भी अपने माता-पिता आदि से प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ आदिगुरु परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के द्वारा नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तिसंगत ठहरता है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। वही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में जितना भी ज्ञान है, उसका आदि-स्रोत परमेश्वर ही ठहरता है। पुस्तकरूप में उसी ज्ञान का नाम 'वेद' है।

कुछ जीवों को जलचर क्यों बनना पड़ा ? भूमि पर रहनेवाले असंख्य प्राणियों को वहीं अपना भोजन मिल रहा है। उन परिस्थितियों का भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता जिनसे विवश होकर मूलतः स्थलचर व्हेल में जलचर प्राणियों की भाँति मछली खाने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। फिर अब तक उसे जल में रहते करोड़ों वर्ष बीत गए। यदि परिस्थितिजन्य आवश्यकता ही शारीरिक विकास में कारण है और किसी अंग के निकम्मा हो जाने से उसका लोप हो जाता है तो इतना समय बीत जाने पर भी व्हेल के शरीर के बालों और पैरों का लोप क्यों नहीं हो गया? मगरमच्छ और कछुआ भी मूलतः जलचर प्राणी हैं; उन्हें जल में रहने के लिए पैरों की कोई आवश्यकता नहीं है। तब इनमें पैर क्यों हैं? वास्तविकता यही है कि जिस स्वरूप में आज कोई प्राणी विद्यमान है, वह सदा से उसी स्वरूप में रहा है। काल और परिस्थिति के परिवर्तनों का उसकी जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कहा जाता है कि यदि शरीर के किसी अंग से काम न लिया जाए तो वह शिथिल होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। भारत में ऐसे साधु देखे गए हैं जिन्होंने वर्षों तक अपना एक हाथ खड़ा किये रक्खा। ७-८ वर्ष तक इस प्रकार खड़े किये हाथ की कार्यशक्ति जाती रही। परन्तु जब दो सौ पीढ़ियों तक चूहों की दुम काटते रहने पर भी बिना दुम के चूहे पैदा नहीं हुए, न सुन्नत हुए बच्चे पैदा हुए और न छोटे पैरोंवाली लड़कियाँ पैदा हुईं तो किसी व्यक्ति के हाथ के निकम्मा हो जाने से बिना हाथ के मनुष्य पैदा होने लगेंगे, ऐसी क्लिष्ट कल्पना करना मूर्खता होगी।

ज्ञान का विकास

मधुमक्खी छत्ता बनाती है और फूलों से पराग ले उसे मधु बनाकर उसमें मधु एकत्र करती है, बिना किसी फार्मेसी में प्रशिक्षण प्राप्त किये। किसी सिविल इंजीनियरिंग कॉलिज से डिग्री प्राप्त किये बिना बया नामक छोटा-सा प्राणी जैसा सुन्दर, सुदृढ़ और सुरक्षित घर बनाता है, वैसा मनुष्य से एक सीढ़ी नीचे माना जानेवाला बन्दर नहीं बना सकता। पर यह भी सत्य है कि जैसा घर बया लाखों-करोड़ों वर्ष पहले बनाता था, वैसा ही आज भी बनाता है। उन्होंने ये कलाएँ किसी से सीखी नहीं। वे उनके अपने आविष्कार भी नहीं हैं। अपनी ये कलाएँ उन्होंने किसी को सिखाई भी नहीं। जिसको जैसा आता है वह उसे उसी रूप में करता आ रहा है। न वे किसी से कुछ सीखते हैं और न किसी को सिखाते हैं।

प्राणिजगत् में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित करता है, नियमों को स्मृति में रखकर उनका पालन कर जीवन-यापन करता है, अपनी सन्तति में हस्तान्तरित करता है और अपनी जाति के अस्वस्थ निर्बल सदस्यों की सहायता के लिए संवेदनशील व्यवस्थाओं को संगठित करता है। यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन-शक्ति के साहचर्य से होता है, तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है। मानव-बुद्धि जड़ होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित शक्ति है। इसलिए मनुष्य में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि उसे स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। मनुष्य को प्रारम्भ में गुरुज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, मनन, संवेदन आदि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है। परन्तु, यह विकास स्वतः नहीं होता। यदि ज्ञान का स्वतः विकास होता और जीवात्मा स्वभावतः उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति से करोड़ों वर्ष बीतने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। बहुत-से सर्वज्ञ हो गए होते। यदि प्रकृति मनुष्य को ज्ञान दे सकती तो करोड़ों वर्षों से प्रकृति की खुली पुस्तक सामने रहने पर भी भील, सन्थाल, नागा, हब्शी आदि असभ्य-अशिक्षित क्यों बने रहते?

वस्तुतः कोई भी नवजात शिशु-प्राणी इतने लम्बे समय तक असहाय नहीं रहता जितने समय तक मानव-शिशु। तुलनात्मक दृष्टि से

स्तनधारी का बच्चा कुछ ही दिन में चलने लगता है; कुछ सप्ताह या महीने बाद अपना भोजन खोजने लगता है और एक या दो वर्ष में पूरी तरह वयस्क हो जाता है; किन्तु मानव-शिशु में यह सामर्थ्य धीरे-धीरे आता है। अपने पहले वर्ष में उसके मस्तिष्क का आकार तिगुना होता है। तदनन्तर मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित होनेवाले कार्य क्रमशः विकसित होते हैं। यह कैसे होता है ? उत्तर है—नकल के द्वारा। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता जाता है, वह अपने चारों ओरवाले लोगों की नकल करके मानव बन जाता है। वह मनुष्यों की तरह भोजन करने लगता है, मनुष्य की आवाज़ों को समझने लगता है और शब्दों के अर्थ लगाने लगता है। धीरे-धीरे बोलना, सीधा चलना और कपड़े पहनना सीख जाता है। उसके जीवन का हर पहलू, अर्थात् उसके विचार, कार्य, आजीविका कमाने के साधन बहुत-कुछ उसी समाज के अनुरूप होते हैं जिसमें वह पलता है। यदि वह पाश्चात्य संस्कृति में पैदा हुआ है तो वह कुर्सी पर बैठेगा, यदि जापान में पैदा हुआ है तो फ़र्श पर घुटने टेककर बैठेगा, और यदि भारत में पैदा हुआ है तो वह पाल्थी मारकर बैठना पसन्द करेगा। मानव बनना कितना कठिन है! सभ्य देशों में तो वयस्क बनने में काफी समय लग जाता है, क्योंकि सुसंगठित समाज में और भी अधिक जटिलताएँ होती हैं। समाज प्रत्येक नवजात शिशु को वयस्क बनने में सहायता देता है।

मानव ने एक नई विरासत विकसित की है जिसका जीनों (Genes) द्वारा जीवविज्ञानीय आनुवंशिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक ऐसी विरासत है जिसका नियन्त्रण और विकास समाज करता है। मानव-शिशु अपने जनकों से शारीरिक सादृश्य अर्थात् शारीरिक गठन, रंग, रासायनिक गतिविधियाँ 'जीनों' के द्वारा ठीक उसी प्रकार प्राप्त करता है, जैसे निम्नतर प्राणी प्राप्त करते हैं। किन्तु वे सभी विशेषताएँ जिन्हें हम लाक्षणिक रूप से मानवीय कहते हैं, जैसे कि—भाषा, कला, कृषि, उद्योग, पारिवारिक व सामाजिक जीवन आदि, शिक्षा के प्रक्रम के द्वारा विरासत में आते हैं। इनको हम जीवविज्ञानीय (Biological) न कहकर सांस्कृतिक विरासत कहते हैं। समाज से प्राप्त इसी विरासत से मनुष्य का जीवन मानवीय बनता है।

वर्त्तमान समाजशास्त्री भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसलिए आज भी यदि किसी मानव-शिशु को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह सर्वथा अज्ञ रह

जाएगा और पशुवत् व्यवहार करता रहेगा। जो परीक्षण किये गए, उनसे यही पता चला कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानव-समाज से पृथक् करके पशुओं की संगति में रख दिया जाए तो उसका सारा व्यवहार पशुओं की भाँति होगा। वैसे ही चले-फिरेगा, वैसी ही बोली बोलेगा और उन्हीं की तरह अपना पेट भरेगा। आकृति के सिवा उस मानव-शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। सुदूर अतीत में सीरिया के राजा बनीपाल, यूनान के बादशाह सेमिटिकल फ़ैड्रिक द्वितीय और इंग्लैण्ड के बादशाह जेम्स चतुर्थ ने १०-१२ बच्चों को निर्जन स्थान में रक्खा और देखभाल के लिए नियुक्त व्यक्तियों को उनके सामने किसी भी प्रकार का मानवोचित व्यवहार करने को मना कर दिया। इसी प्रकार का एक प्रयोग भारत में अकबर ने भी किया था। वे बच्चे मनुष्यों की तरह न चल सकते थे, न बोल सकते थे और न खा-पी सकते थे। सन् १९३८ में एक अवैध अमरीकन बच्ची को उसका अध्ययन करने के लिए ६ मास की अवस्था में एक कमरे में बन्द कर दिया गया। ४ वर्ष की अवस्था होने पर जब उसका निरीक्षण किया गया तो पता चला कि उसमें ४ वर्ष की आयुवाले मानव-शिशु का कोई लक्षण नहीं था। जन्म के तत्काल बाद से ही भेड़ियों की माँद में पलनेवाले रामू और कमला की कहानी तो देश-भर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की भाँति चारों हाथों-पैरों से चलते थे और बोलने के नाम पर भेड़ियों की तरह गुर्राते थे। मानव-समाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गए थे। इसलिए विकासवाद की यह मान्यता कि ज्ञान व अनुभव के द्वारा मनुष्य की बुद्धि धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञानप्राप्ति में समर्थ हो जाती है, प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से तर्कसंगत नहीं है।

कोई परिवार कितना ही शिक्षित और ज्ञानी हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का ज्ञान परम्परा से चला आता हो, उस परिवार की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े विद्वान् बन जाए, यह सम्भव नहीं। ज्ञान का क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति-अनुसन्तति में स्वतः संक्रमित होता जाता। यदि मनुष्य अपने अनुभवमात्र से ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति व्याकरणाचार्य, डॉक्टर, इंजिनीयर और वैज्ञानिक बन गया होता, परन्तु अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि स्वभाव से मनुष्य

उन्नति कर सकता तो उसकी दशा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी रहती? दूसरी ओर हम देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े प्रदेशों में जाकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते हैं, वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते जाते हैं। जो काम स्वतः लाखों-करोड़ों वर्षों में न हो सका, प्रयत्न करने पर वह सब-कुछ दशकों में हो गया।

जिस प्रकार हमने अपने माता-पिता से ज्ञान प्राप्त किया, वैसे ही हमारे माता-पिता ने अपने माता-पिता आदि से प्राप्त किया। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में पहुँचेगा तब वहाँ परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा। इस प्रकार **संसार में जितना भी ज्ञान है, उसका आदि-स्रोत परमेश्वर** ही ठहरता है ।

□□

सृष्टिविज्ञान

सृष्टि-रचना के मूल तत्त्व

जगत् के मूल तत्त्वों का गम्भीर एवं सूक्ष्म विवेचन करने पर जितनी विचारधाराएँ उभरकर हमारे सामने आती हैं, उन्हें मुख्यत: तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

१. आचार्य बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित और चार्वाक द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित पहली विचारधारा के अनुसार जगत् का एकमात्र मूलतत्त्व अचेतन है। अवस्था-विशेष में आकर वही अपने वास्तविक रूप से इतना भिन्न हो जाता है कि हमें उसके चेतन होने की प्रतीति होने लगती है। अन्यथा, चेतन नाम की पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली कोई वस्तु नहीं है। प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर, जो प्राय: भारतीय विचारधारा से प्रभावित था, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन इसी विचारधारा का पोषक है। आधुनिक काल में मार्क्स, हेगल और डारविन आदि आधिभौतिक तत्त्वज्ञों द्वारा स्थापित मान्यताओं को इसी विचारधारा के अन्तर्गत माना जा सकता है।

२. आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित एवं प्रसारित दूसरी विचारधारा के अनुसार जगत् के मूल में एकमात्र चेतन तत्त्व है। चेतन से अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है। यह जो जड़ जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब चेतन का ही विकार, परिणाम अथवा आभासमात्र है।

चेतन तत्त्व का जड़ परिणाम मानने पर, जड़ तत्त्व का चेतन परिणाम मानने पर भी आपत्ति नहीं की जा सकती। जैसे शंकर ने प्रकृतिरूप उपादान को न मानकर एकमात्र चेतन तत्त्व से जड़-चेतन जगत् की उत्पत्ति मानी, वैसे ही चार्वाक ने चेतन तत्त्व की सत्ता को नकारते हुए केवल जड़ उपादान से जड़-चेतनरूप समस्त विश्व की उत्पत्ति की घोषणा की। सिद्धान्तत: दोनों ही अद्वैतवादी हैं, क्योंकि सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप में दोनों एक ही पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं। मूल में जब एक ही तत्त्व को माना जाए और जगत् में अनुभूयमान चेतन और अचेतन दोनों को उसी का विकार माना जाए तो वह मूल तत्त्व चाहे चेतन हो,

अथवा अचेतन, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। ऐसी अवस्था में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** को माननेवाले वेदान्ती, तथा भौतिकवादी चार्वाक, दोनों एक ही स्तर पर आ जाते हैं।

३. तीसरी विचारधारा के अनुसार चेतन तथा अचेतन दो प्रकार के तत्त्वों से जगत् की रचना हुई है। दोनों की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है और दोनों के परस्पर सहयोग से ही सृष्टि की रचना आदि और जगत्-कार्य का निर्वाह सम्भव है। चेतन तत्त्व दो हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। अचेतन तत्त्व प्रकृति, प्रधान, स्वधा, अव्यक्त आदि नामों से जाना जाता है। यह वैदिक विचारधारा है और इसका संकेत व निर्देश आर्ष ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, दर्शन, गीता आदि—में अनेकत्र उपलब्ध हैं।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—जड़ और चेतन, अथवा व्यक्त और अव्यक्त। चेतनता और प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की यथार्थता को प्रस्तुत करती हैं। एक को दूसरी में परिणत नहीं किया जा सकता।[1] चित् और अचित् दोनों तात्त्विक हैं। कोई एक-दूसरे से उत्पन्न नहीं होता। चेतन तत्त्व अपरिणामी होता है। न वह किसी पदार्थ का उपादान होता है और न स्वयं किसी का कार्य। चेतन तत्त्व में किसी प्रकार की प्रक्रिया सम्भव नहीं। समस्त विकारी विश्व अचेतन है, अतएव वह किसी अचेतन तत्त्व का ही परिणमित रूप है। चेतन तत्त्व को परिणामी मानने पर चेतन-अचेतन का भेद जाता रहेगा। इसलिए उपादानभूत चेतन तत्त्व से जड़-जगत् का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जगत् का जड़ होना सिद्ध है। ब्रह्म को ही सब-कुछ माननेवाले भी उसे जड़ मानते हैं। ब्रह्म के चेतनस्वरूप होने में किसी को शंका नहीं है। अपने-अपने स्वरूप में ब्रह्म की अपनी सत्ता है, जगत् की अपनी। मूलतः इन सत्ताओं को एक नहीं कहा जा सकता। चैतन्य ब्रह्म की कोई अवस्था नहीं, प्रत्युत स्वरूप है—वह सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है। इसके विपरीत जगत् का स्वरूप अचैतन्य है। एक बुद्धिसम्पन्न तत्त्व ऐसी सामग्री में परिणत नहीं हो सकता जिससे जड़-जगत् का निर्माण हो सके। इसलिए अचेतन जगत् किसी चेतन तत्त्व का परिणाम नहीं हो सकता। वह अपने

१. The universe is or contains more than one kind of things. Both life and matter are real in the sense that neither can be derived from the other.

—C.E.M.Joad : *Guide to Modern Thought*, p. 126

समान अचेतन प्रकृति का ही परिणाम है।

यदि चेतन तत्त्व जड़-जगत् का कारण है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि चेतन तत्त्व जड़-रूप में कैसे परिणत हो जाता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्रकृतिरूप जड़-मूल भी तो अव्यक्त है। जैसे वह अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है वैसे ही चेतन से जड़ हो जाता है। परन्तु यह समाधान युक्तियुक्त नहीं है। अव्यक्त से व्यक्त होना एक अवस्था से दूसरी में परिणत होना है। उस प्रक्रिया में कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती । प्रकृति जब अव्यक्त से व्यक्त दशा में आती है तो उसका जड़त्व अर्थात् जड़स्वरूप बना रहता है, किन्तु जब चेतन तत्त्व जगद्रूप में परिणत होता है तो उसे अपने चेतन स्वरूप का परित्याग करके जड़ होना पड़ता है। किन्तु, कोई भी तत्त्व किसी भी अवस्था में अपने स्वरूप का परित्याग करके आत्महत्या नहीं कर सकता।

जड़ यदि चेतन और चेतन यदि जड़ हो सकता तो सम्भव है, चेतन-ब्रह्म जगद्रूप में परिणत हो जाता। पर ऐसा दृष्टान्त लोक में कहीं उपलब्ध नहीं होता। निमित्त कारणरूप किसी चेतन तत्त्व को उपादानकारण के रूप में परिवर्तित होते नहीं देखा जाता। जुलाहे को सूत से कपड़ा बनाते, बढ़ई को लकड़ी से मेज़ बनाते और राज को ईंटों से मकान बनाते देखा जाता है, परन्तु किसी जुलाहे को स्वयं कपड़ा बनते, बढ़ई को स्वयं मेज़ बनते या राज को स्वयं मकान के रूप में परिणत होते नहीं देखा जाता। इसलिए मात्र चेतन से या मात्र जड़ से जड़-चेतनरूप जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

उपादानकारण के गुण तत्त्वतः उसके कार्य में अवश्य रहते हैं। परस्पर विलक्षण वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि किसी कारण से उसके विपरीत गुणवाले कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हार आदि को मिट्टी का और घड़े आदि को सोने का विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी से बना पदार्थ मिट्टी-जैसा और सोने से बना सोने-जैसा होना चाहिए। ब्रह्म का कार्यरूप माना जानेवाला जगत् ब्रह्म से, और ब्रह्म दृश्यमान जगत् से, सर्वथा भिन्न दिखाई देते हैं, इसलिए नश्वर परिणामी जगत् का उपादान अविनाशी-अविकारी ब्रह्म नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से तन्तुओं को निकालकर जाला बनाती है और फिर अपने भीतर ही समेट लेती है, उसी प्रकार परमेश्वर अपने से भिन्न प्रकृति की अपेक्षा किये बिना

जगत् की रचना और प्रलय करता रहता है। इस प्रकार एक ही तत्त्व के निमित्त तथा उपादानकारण होने को 'अभिन्न निमित्तोपादान' कारण कहते हैं। परमेश्वर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इस दृष्टान्त के अनुसार एकमात्र चेतन ब्रह्म से सृष्टि-रचना होने में कोई बाधा नहीं आती।

जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है उसी प्रकार परमेश्वर जगत् को बनाता है। देखना यह है कि मकड़ी जाले को किस प्रकार बनाती है ? एक विशेष आकार-प्रकार के भौतिक देह तथा उसमें अधिष्ठित जीव-चेतन से संयुक्त रूप का नाम मकड़ी है। जाला बनाने में उसके प्राकृत देह के अवयवों का उपयोग होता है, और इस उपयोग को करनेवाली वह चेतन सत्ता है जो वहाँ अधिष्ठित है। यदि भौतिक शरीर न हो तो केवल चेतन जाले की रचना नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि चेतन-स्फुरण वहाँ न हो तो केवल शरीर जाला बनाने में असमर्थ होगा। इसलिए जाला तभी तक बनता है जब तक मकड़ी जीवित रहती है। न मृत शरीर से जाला बनते देखा गया है और न शरीर से निकलने के बाद मकड़ी की विदेह आत्मा को जाला बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकड़ी की आत्मा तन्तुजाल में परिणत नहीं होती; चेतना के वहाँ रहते उसके भौतिक शरीर के अंश ही तन्तुजाल में परिणत होते हैं। इस प्रकार मकड़ी का जड़ शरीर तन्तुजाल की उत्पत्ति में उपादानकारण है और उसमें व्याप्त जीवात्मा निमित्तकारण। इसी प्रकार व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल जगत् की रचना करता है। ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं होता, उसकी प्रेरणा से प्रकृति ही विश्व के रूप में परिणत होती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति ब्रह्म के ईक्षण से पहले ही वर्त्तमान थी। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** इत्यादि प्रसिद्ध मन्त्र में 'हिरण्यगर्भ' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह समस्तपद ईश्वर और प्रकृति दोनों की संयुक्त संज्ञा है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि 'हिरण्य' (प्रकृति) को गर्भ में धारण किये हुए परमेश्वर पहले से अर्थात् जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में विद्यमान था—अग्रे समवर्तत। इससे स्पष्ट है जगत्सर्ग से पूर्व निमित्तकारण ब्रह्म, तथा उपादानकारण प्रकृति, दोनों की एक-साथ पृथक्-पृथक् सत्ता थी। हाँ, व्यवहार में न होने के कारण, सृष्टि से पूर्व प्रकृति ईश्वर के गर्भ में अर्थात् अव्यक्त दशा में थी।

स्थूल प्रकृति से निर्मित विविध जगत् सूक्ष्म भूतों के संयुक्त रूपों

से मिलकर बना है, किन्तु चेतन की प्रेरणा के बिना केवल जड़ उपादान से जगत् की रचना नहीं हो सकती। जिन तत्त्वों के संयोग-वियोग से सृष्टि की रचना हुई है, वे स्वयम् अपना विकास नहीं कर सकते। किसी कार्य-विशेष के लिए की जानेवाली विशिष्ट क्रिया का नाम 'प्रवृत्ति' है। जड़ तत्त्व में ऐसी क्रिया स्वतः नहीं हो सकती।

यदि जड़ तत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति मान ली जाए तो उसमें निवृत्ति असम्भव होगी। जड़ तत्त्व का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर, यान्त्रिक क्रिया की भाँति, सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी, विनाश कभी नहीं होगा। तब संसार इसी रूप में बना रहना चाहिए। जगत् की सर्ग के विपरीत प्रलय-अवस्था कभी नहीं आनी चाहिए, जबकि संसार में बनी हुई वस्तुओं को बिगड़ते देखा जाता है। केवल चेतन में ज्ञान होने से यह सामर्थ्य रहता है कि वह इच्छानुसार विपरीत क्रिया को उत्पन्न कर दे। यदि उपादान-तत्त्व केवल प्रवृत्तिस्वभाव है तो जड़ होने से वह स्वतः अपने प्रवृत्तिस्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता ।

यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का होगा तो स्वभाव से विनाश होते रहने पर उत्पत्ति कभी नहीं होगी, यद्यपि पदार्थों को बनते देखा जाता है ।

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाए, तो यदि संयोग-स्वभाववाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति ही होगी, और यदि वियोग-स्वभाववाले परमाणुओं की शक्ति अधिक होगी तो सदा विनाश ही होगा, निर्माण की स्थिति कभी नहीं होगी। यदि प्रत्येक परमाणु में दोनों स्वभाव युगपत् माने जाएँ (यद्यपि एकधर्मी में दो विरुद्ध धर्म एक काल में नहीं रह सकते) तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि उत्पत्ति और विनाश का एक समय में प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् जगत् में बनना और बिगड़ना दोनों देखे जाते हैं। इसलिए प्रवृत्ति और निवृत्ति का समय तथा मर्यादापूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। इसके लिए किसी नियामक चेतनसत्ता का होना नितान्त आवश्यक है।

पृथिवी आदि पदार्थों की रचना संयोगविशेष से होती है। जो संयोग से बनता है, उसका संयोग करनेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा अवश्य होता है। घी, चीनी, सूजी आदि को पास-पास रख देने से हलवा नहीं

बन जाता; हल्दी, चूना और नीबू को एक-साथ रख देने से रोली नहीं बन जाती; कागज, रंग और ब्रुश पास-पास रख देने से चित्र तैयार नहीं होता और कागज, स्याही और लेखनी एकत्र रख देने से पुस्तक नहीं लिखी जाती। इसी प्रकार जड़ परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से मिलाए बिना सृष्टि की रचना नहीं होती। मकड़ी के देह से जाला निकलता है, किन्तु तभी तक जब तक क्रिया का प्रेरक आत्मतत्त्व वहाँ बैठा है। मकड़ी का मृत शरीर जाला नहीं बना सकता, यद्यपि भौतिक तत्त्व तब भी ज्यों-के-त्यों विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार कारणरूप में विद्यमान जगत्, चेतन की प्रेरणा के बिना, जड़ उपादान से कार्यरूप में परिणत नहीं होता।

लोक में चेतन मानव द्वारा की गई रचनाओं में व्यवस्था या प्रयोजन प्रत्यक्ष देखा जाता है। इस संसार के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। जगत् के मूल उपादान जड़ तत्त्व स्वयं व्यवस्थित जगत् की रचना नहीं कर सकते। जगत् की रचना इस बात को सिद्ध करती है कि इस रचना का कर्त्ता कोई पूर्ण पुरुष है जिसने अपनी रचना को इतना गूढ़ और विचित्र बनाया है कि उसे देखकर कोई भी उसकी सत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। हमारे शरीर का बनना-बढ़ना अपने-आप में एक चमत्कारपूर्ण रचना है। माता की कोख में पिता के वीर्य की एक बूँद से गर्भ स्थापित होता है और बढ़ने लगता है। अन्दर ही अन्दर शरीर के अंग-प्रत्यंग, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विकास होता रहता है। नौ-दस महीने बाद बना-बनाया बच्चा माँ के पेट से बाहर आ जाता है। शरीर की रचना इतनी दुरूह है कि अनादिकाल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य उसे पूरी तरह नहीं समझ पाया। जिस माता के गर्भ में नौ मास तक उसका निर्माण होता है, वह भी इस विषय में कुछ नहीं जानती। शरीर में रक्त आदि धातु, प्राण तथा रक्तवाहिनी नाड़ियों का जाल बिछा है। यह नाड़ीजाल इतना सूक्ष्म तथा परस्पर गुँथा हुआ है कि उसकी पूरी जानकारी मानवशक्ति से बाहर है। त्वगिन्द्रिय का समस्त शरीर में व्याप्त रहना तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे-छोटे अंश पर संवेदनशीलता व संचारशक्ति का विद्यमान होना, न्यूनाधिक मांसपेशियों का यथास्थान संगठन तथा विभिन्न अंगों में छोटे-बड़े जोड़ों का सामंजस्य, सिर-भुजाओं-उदर आदि की अद्‌भुत रचना, विभिन्न प्रकोष्ठों में वात-पित्त-कफ के प्रतिष्ठान व संचार आदि की व्यवस्था, मुख-कण्ठ आदि में ध्वनि के उपयोगी अवयवों

का सन्निवेश, आमाशय, पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व-अधः स्रोतों का नितान्त व्यवस्थित प्रसार आदि के रूप में शरीर की रचना इतनी सुविचारपूर्ण, नियमित और दृढ़ है कि किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन सत्ता की योजना के बिना जड़ तत्त्वों द्वारा इसका स्वयमेव सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। आज के भौतिक विज्ञान, आयुर्विज्ञान एवं जन्तुविज्ञान के इतना अधिक उन्नत हो जाने पर भी शरीर-रचना के पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं किया जा सकता, रचना कर सकने की तो बात ही क्या !

शरीर की ही भाँति एक-एक फूल-पत्ती में—यहाँ तक कि एक-एक परमाणु की संरचना में हमें विचित्र रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् फ्लिण्ट का कथन है—"यदि यह माना जाए कि प्रकृति के परमाणुओं ने, बिना किसी सर्वोपरि चेतनसत्ता के निर्देशन के, स्वयमेव मिलकर इस विचित्र एवं दुरूह सृष्टि की रचना कर डाली तो यह भी मानना होगा कि शैक्सपीयर के नाटकों की रचना अंग्रेजी भाषा की वर्णमाला के अक्षरों ने उछल-उछलकर स्वयं कर डाली। शैक्सपीयर नाम से प्रसिद्ध किसी चेतन प्राणी का इसमें कोई हाथ नहीं।"[१]

ऋग्वेद के शब्दों में यही मानना पड़ता है कि "दिव्य लोक-लोकान्तरों की रचना के अवसर पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म इन समस्त लोकों का उसी प्रकार निर्माण करता है जिस प्रकार कोई शिल्पी उपयुक्त साधनों से कार्य की रचना करता है, अर्थात् परमात्मा के द्वारा यह जगत् अव्यक्त से व्यक्त दशा में आ जाता है।"[२] समस्त जगत् आदि से अन्त

---

१. It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a supreme mind, this wonderful universe, than that the letters of English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest assistance from the human mind known by that famous name. These atoms might, perhaps now and then, produce, by a chance contact, some curious collection or compound, but never could they produce order or organisation on extensive scale or a durable character, unless ordered, arranged and adjusted in ways of which intelligence could be the ultimate explanation.

--Flint : *Theism*, p. 48

२. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥ —ऋ० १०।७२।२

तक सुव्यवस्थित है और सब वस्तुओं में विधान और युक्तियुक्तता को पूरा करता है। सृष्टि का संचालन किन्हीं नियमों के आधार पर हो रहा है। नियमबद्धता प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों और नियमबद्धता से अनुशासित विश्व परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है। विश्व के बृहत् आकार, ग्रह-नक्षत्रों की अगणित संख्या और उन सब पर शासन करनेवाले नियमों के वैविध्य को देखकर बुद्धिपूर्वक नियोजन करनेवाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है।[१] यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उनकी संगति को प्रकट करने के लिए नियम खोजने पड़ते हैं। इन नियमों की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है।

नियम क्या है?— ज्ञात तथ्यों का साधारणीकरण। जो नियम आज सत्य हैं, वे कल भी सत्य रहेंगे और परसों भी—जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सत्य रहेंगे। यदि ऐसा न हो—इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा करना व्यर्थ हो जाए और सारी वैज्ञानिक प्रगति ठप्प हो जाए। सृष्टि के रहस्यों को जानने में मन की असमर्थता का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर आइंस्टीन ने अपने समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लांक (Max Plank) की पुस्तक 'Where is Science going' की भूमिका में लिखा है—"भौतिक विज्ञानी का मुख्य उद्देश्य उन मूलभूत सामान्य नियमों की खोज करना है जिनसे सृष्टि-रचना का तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो सके, किन्तु उन नियमों को जानने के लिए कोई तर्कशास्त्रीय मार्ग है नहीं। यह तो अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है।"[२]

---

१. Scientific study shows the presence, in the physical universe, order, stability, directing power, intelligibility and capability of being understood by us. These qualities are not spontaneously produced—they do not come by chance. They are not the result of mere accident. They always imply thought and intelligence; and thought always necessitates a thinker. Hence, in this universe, there is a supreme thinker or intelligence of which our intelligence is but a faint copy.

— *Science and Religion*, p. 48

२. The supreme task of the physicist is the discovery of the most general elementary laws from which the world-picture can be logically deduced. But there is no logical way to the discovery of these elemental laws. There is only the way of intuition.

प्रत्येक विज्ञान बताता है कि संसार की स्थिति नियमों पर है। इन नियमों का संग्रहभूत विज्ञान है। इन्हीं नियमों के आश्रय से समस्त व्यवहार चलता है। यदि कृषक पृथिवी में बीज डाले जाने के पश्चात् उसके विशेष सिंचन आदि संस्कारों के अनन्तर उसके फलस्वरूप में परिणत होने में शंकित हो तो कृषिकर्म में कभी प्रवृत्त न हो। इन्हीं नियमों का समुच्चय कृषिविज्ञान (Science of Agriculture) है। यही अवस्था अन्य विज्ञानों की है। विज्ञान नाम ही नियमों का है। ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से और फिर सारा भौतिक प्रपंच प्राणिजगत् से एक सूत्र में बँधा हुआ है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रत्येक क्षेत्र की रचना विचित्र प्रतीत होती है। इन सब रचनाओं की फिर एक व्यापक रचना है। यह रचना सर्वज्ञ रचयिता के सिवा और किसकी हो सकती है? जो प्रत्येक विज्ञान के क्षेत्र में फैले हुए उस सूत्र को जानता है, और फिर उस सूत्र के सूत्र को जानता है, वह परमात्मा को जानता है।[1]

जैसे मकान की एक ईंट से दूसरी ईंट जुड़ी होती है, वैसे ही सूर्य चन्द्रमा से, चन्द्रमा पृथिवी से, पृथिवी वनस्पति से और वनस्पति जीव-जन्तुओं से जुड़ी है। बड़ी से बड़ी वस्तु से लेकर छोटी से छोटी वस्तु में नियम काम कर रहे हैं। सूक्ष्मतम परमाणु भी सौरमण्डल का संक्षिप्त संस्करण है। सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से ज्यों ही किसी नियम का पता चलता है, त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है–"मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है।" सृष्टि में असंख्य ग्रह-उपग्रह हैं जो अपनी-अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं, परन्तु करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी एक-दूसरे के मार्ग में आकर नहीं टकराए। इसी कारण सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सैकड़ों वर्ष पहले की जा सकती है। संसार के विविध पदार्थ एक-दूसरे की आकर्षण आदि शक्तियों से स्थिर हैं, परन्तु यह आकर्षण भी तो बुद्धिपूर्वक कार्य कर रहा है। ग्रहों-उपग्रहों ने आकर्षण करना भी किसी की नियामकता से स्वीकार किया है। ज्वार-भाटे के नियत समय की जानकारी रहने के कारण ही यथासमय जहाज चलाए जाते हैं। चक्रवर्ती राजा के कार्यालय

---

१. यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
–अथर्व० १०।८।३७

में कार्यरत कर्मचारी भी कभी-कभी देर से पहुँच पाते हैं, परन्तु सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम में कभी एक पल भी इधर-उधर नहीं हो पाता।[1] दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओं का चक्र घूमता रहता है। पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पहले फल आ जाए और फिर फूल खिले। गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज से गेंदा ही पैदा होता है। जो आधारभूत नियम भारत में चलते हैं, वही अन्य देशों में भी। इस प्रकार की क्रमबद्धता और कार्य-कारण- शृंखला का बना रहना प्रभुसत्तासम्पन्न विश्वात्मा के बिना सम्भव नहीं।[2] वस्तुतः विश्व के चमत्कारों ने निष्पक्ष ज्योतिर्विदों को किसी ऐसी अज्ञात और कदाचित् अज्ञेय शक्ति पर विश्वास करने को विवश कर दिया जो विश्व की विशालता और नियमबद्धता के लिए जिम्मेदार है। परमात्मा की सत्ता से शून्य विश्व के ढाँचे में व्यवस्था की कल्पना

---

१. कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः। —अथर्व० १९।५४।१

२. Things did not happen by chance. Law reigned everywhere.

—Aristotle quoted in the *'Book of Knowledge'*

The universe begins to look more like a great thought than a great machine. Mind no longer appears to be an accidental intruder into the realm of matter. We are beginning to suspect that we ought rather to hail it as a creater and governor of the realm of matter.

—James Jeanes : *The Mysterious Universe*, p. 148

God is not only a thinker, but also a great poet, musician, a spirit that conceives in beauty and attains in song.

—J.H. Holmes : *Is Science Vindicating Religion*, p. 20

Beyond all finite existences and secondary causes, laws, ideas and principles, there is an intelligence, the principle of all principles, the supreme idea on which all ideas are grounded, the Monarch and Law-giver of the universe; the ultimate substance from which all things derive their being; the first and efficient cause of all order and harmony, beauty, excellence and good which pervades the universe—who is called, by his preeminence and excellence, the Ṣupreme God, the God, the God overall.

—Plato quoted in Cocker : *Christianity and Greek Philosophy*

करना ऐसा विरोधाभास है जिसका कोई अर्थ नहीं बनता। व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा बगीचे की शोभा और उसके सौन्दर्य की तो सराहना करना, पर माली के अस्तित्व को स्वीकार न करना।

तीन कारण

सृष्टि-रचना में तीन कारण हैं–निमित्त, उपादान व साधारण। जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, प्रकारान्तर से दूसरों को बना दे–उसे 'निमित्तकारण' कहते हैं। निमित्तकारण दो प्रकार का होता है–मुख्य और साधारण। प्रकृति से सृष्टि को बनानेवाला परमात्मा मुख्य निमित्तकारण है। परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर करनेवाला जीवात्मा साधारण निमित्तकारण है। निमित्तकारण स्वयं अपरिणामी रहकर अपने से इतर पदार्थों को नाम-रूप प्रदान करता है। अवस्थान्तर को प्राप्त होकर बनने-बिगड़नेवाला 'उपादानकारण' कहलाता है। उपादान के बिना कोई वस्तु नहीं बन सकती। उसी से नाम-रूप की सिद्धि होती है। निमित्त और उपादान से अतिरिक्त अन्य अपेक्षित साधन 'साधारणकारण' कहाते हैं। घड़े के बनने में कुम्हार निमित्तकारण, मिट्टी उपादानकारण तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल आदि साधारणकारण हैं। इस प्रकार किसी वस्तु के कार्यरूप में आने के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है–(१) नामरूप देनेवाली चेतन सत्ता जो स्वयं अपरिणामी रहकर परिणमन में समर्थ हो; (२) मूल उपादान जो स्वयं तो कार्यरूप में परिणत न हो सके, किन्तु किसी चेतन सत्ता द्वारा प्रभावित होने पर नामरूप धारण कर सके; (३) वे साधन जो जड़ होने से न तो निमित्तकारण के समान कुछ बना सकें, न स्वयं कुछ बन सकें, किन्तु जिनके सहयोग के बिना नामरूप न दिये जा सकें। सृष्टि-रचना में परमेश्वर निमित्तकारण है, प्रकृति वह उपादान है जिसे विभिन्न नामरूप देकर वह सृष्टि का निर्माण करता है और जीवात्मा वह चेतनसत्ता है जिसके लिए सृष्टि की रचना की जाती है। ऐसा कोई समय नहीं था जब इनमें से किसी एक का भी अभाव रहा हो और न कोई ऐसा समय होगा जब इनमें से कोई एक न होगा। ये तीनों सदा से हैं और सदा रहेंगे। ये तीनों अनादि सत्ता में हैं और इनके अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।

जीवात्माएँ अनेक हैं, किन्तु अल्पज्ञ एवम् अल्पशक्ति। परमात्मा के समान जीवात्माएँ भी अभौतिक हैं, किन्तु अपने निर्वाह एवं विकास के

लिए उन्हें भौतिक साधन अपेक्षित हैं। वे अपूर्ण हैं, किन्तु प्रगतिशील हैं। सम्यग्ज्ञान तथा कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए उन्हें परमेश्वर के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। जीवात्मा नित्य हैं, किसी भी अवस्था में उनका नाश नहीं होता। प्रलय के बाद जब-जब सृष्टि होती है, तब-तब अपने कर्मानुसार प्राप्त भोग के लिए वे अपेक्षित शरीर धारण करती रहती हैं।

परमेश्वर भौतिकता से सर्वथा असम्पृक्त सर्वोच्च सत्ता है। न उसकी सत्ता प्रकृति पर निर्भर है और न वह अपनी स्थिति के लिए उस पर आश्रित है। फिर भी वह सब पर शासन करता है। वह सर्वशक्तिमान् है, पर स्वेच्छाचारी नहीं। विधि-विधान के अन्तर्गत रहकर ही वह अपना कार्य करता है।

किसी कार्य अथवा परिणाम के लिए अनेक कारण अपेक्षित होते हैं; कम से कम तीन का होना अनिवार्य है। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग० २।१८) के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और इसका नियमन करनेवाली सत्ता का होना आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादानकारण अचेतन तत्त्व होता है। चेतन तत्त्व केवल कर्त्ता या भोक्ता होता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्-सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है। इस प्रकार परमात्मा प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१२) में इन तीन कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख **'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च'** नामों से किया है। ईश्वर के पूर्ण एवं आप्तकाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उसके लिए कोई उपयोग नहीं। इसलिए उससे भिन्न कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, अन्यथा सृष्टि-रचना निष्प्रयोजन होगी। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। खानेवाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैठेगा ? इस भोक्ता की संज्ञा 'जीव' है। यदि खाने के लिए कुछ न हो तो खानेवालों को कौन घर में बुलाकर बिठाएगा? भोग्यरूप में प्रस्तुत 'प्रकृति' है। जड़ होने से वह स्वयं भोक्ता नहीं हो सकती। कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं होती। कर्तृत्व चेतन का धर्म है। अचेतन तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। उसे गति देने तथा नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् पुरुषविशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही 'ईश्वर' कहाता है। इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग सम्भव न होता।

नासदीय सूक्त

वेद के जिन प्रसंगों में सृष्टि-रचना का निर्देश किया गया है, उनमें नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) मुख्य है। सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है। प्रलयकाल में सब-कुछ अभावरूप नहीं हो जाता। उसकी कुछ सत्ता अवश्य रहती है। परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं होती जैसी सर्गकाल में देखी जाती है; अर्थात् सर्गकाल के समान लोक-लोकान्तर, भोक्ता आत्मा, उसके सुख-दुःख आदि उपभोग के साधन देह आदि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदि उस समय नहीं थे। यह सब 'नो सदासीत्' (असत् नहीं था) का व्याख्यान है। किन्तु सूक्त की प्रथम ऋचा में 'नो सदासीत्' के साथ ही 'नासदासीत्' भी कहा है, अर्थात् न सत् था और न असत् था। सत् का निषेध तो समझ में आता है, किन्तु 'सत्' और 'असत्' दोनों का एक-साथ निषेध सम्भव है? उधर छान्दोग्य उपनिषद् (६।२।१-३) में कहा है-"कुछ लोग कहते हैं कि पहले एकमात्र 'असत्' ही रहता है। इस 'असत्' (अभाव) से 'सत्' (भाव) हो जाता है। पर हे सौम्य! यह कैसे हो सकता है? असत् से सत् कैसे हो सकता है? इसलिए हे सौम्य ! पहले सत् ही था।" वहीं पर अन्यत्र (छा० ३।१९।१ में) कहा है कि "पहले 'असत्' ही था।" सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं। दोनों एक-साथ कैसे रह सकते हैं? इतना ही नहीं, उपनिषद् ने एकत्र ही 'असदेवेदमग्र आसीत् तत्-सदासीत्' भी कह दिया। इस प्रकार जहाँ श्रुति (वेद) सत् और असत् दोनों का निषेध करती है, वहाँ उपनिषद् दोनों का एक-साथ उपपादन करती है।

इस उलझन का कारण 'असत्' को 'अभाव' का पर्याय समझना है। वास्तव में 'सत्' व्याकृतनामरूप अवस्था का वाचक है और असत् अव्याकृतनामरूप अवस्था का। जब तक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक सूक्ष्मरूप होने के कारण अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक अर्थात् कारणरूप में विद्यमान रहना 'सद्रूप' कहाता है और कार्यरूप में न रहना 'असद्रूप'। ऋग्वेद में उस अवस्था का वर्णन 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' कहकर किया है। प्रलय-दशा में मूल कारण तमः=अन्धकार से आवृत्त रहता है। उस अवस्था में समस्त दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के रूप में अविभागापन्न रहता है। दूसरे शब्दों में, प्रलय-दशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व व्यवस्थित रहता है। समस्त व्याकृत जगत् कारण में लीन होने से ज्ञेय

नहीं था, इसीलिए कहा गया कि सत् नहीं था। परन्तु यदि कुछ न होता तो कालान्तर में कहाँ से आ जाता? वह कारणरूप में विद्यमान था, इसीलिए कहा गया कि 'असत्' नहीं था। विष्णुपुराण में जगत्सर्ग से पूर्व प्रलय-दशा का वर्णन इन शब्दों में किया है–

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत् तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्।।

–१।२।२३

अर्थात् प्रलयकाल में दिन-रात, द्यु, भूमि आदि कुछ भी नहीं था। उस समय श्रोत्रादि इन्द्रियों से उपलब्ध न होनेवाला प्रधान (प्रकृति), ब्रह्म तथा पुरुष (जीव) था। टीकाकार श्रीधर स्वामी ने प्रस्तुत श्लोक के अन्तिम चरण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रलयकाल में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति–इन तीन तत्त्वों का अस्तित्व था– 'प्राधानिकं–प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च पुमांश्चेति त्रयमेव तथा प्रलये आसीत्।' मूलतः प्रकृति केवल त्रिगुणात्मक है। यही उसका वास्तविक स्वरूप है। विष्णुपुराण के उक्त सन्दर्भ में २१वें श्लोक में 'त्रिगुणं तज्जगद्योनिः' कहकर स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि का उपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है, चेतन ब्रह्म नहीं। शंकराचार्य को भी स्वीकार करना पड़ा–

"न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः। किं तर्हि ? व्याकृतनामरूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव ।"

–ब्र० शा० भा० २।१।१७

अर्थात्–कार्य की उत्पत्ति से पूर्व असत् कहना अत्यन्ताभाव के अभिप्राय से नहीं है; केवल नाम और रूप से अव्याकृत होने के कारण है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के नामरूप अव्याकृत रहते हैं, उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त होते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है।

विवेच्य सूक्त के द्वितीय मन्त्र में सदसत् के अतिरिक्त जिन वस्तुओं के अस्तित्व को नकारा गया है, उनमें मुख्य हैं–मृत्यु, अमृत, प्रकाश व अन्धकार में भेद और प्राण। इसका कारण था प्रलयकाल में कारणावस्था में होने से जगत् में किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव न होना। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है–**"आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत्।"** (ऐत० १।१) अर्थात् सर्ग से पूर्व एक परमात्मा

था, अन्य कोई वस्तु गति में नहीं थी। वस्तुतः सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था में जब कोई जन्म ही नहीं लेता था तो उसकी मृत्यु कैसे होती? इसलिए मृत्यु नहीं थी। उस अवस्था में जब न कोई जन्म लेता था और न मरता था तो मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्षलाभ का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसलिए अमृत नहीं था। सर्गकाल में जिन पदार्थों के कारण दिन व रात के विभाग होते हैं, वे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रलयकाल में नहीं थे। दिन और रात के 'प्रकेत' वे ही होते हैं जिनके कारण दिन और रात अस्तित्व में आते हैं। इस प्रकार जब अभी सूर्य की सृष्टि नहीं हुई थी तब प्रकाश और अन्धकार में भेद कैसे हो सकता था? इसी प्रकार जब तक जीवात्मा ने कोई शरीर धारण नहीं किया था, तब तक उसे प्राण की अपेक्षा क्यों होती? इसलिए प्राण नहीं था।

सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी ब्रह्म से अतिरिक्त जिन दो वस्तुओं के विद्यमान होने का निर्देश सूक्त में स्पष्ट रूप से उपलब्ध है, वे हैं–'स्वधा' तथा 'रेतोधाः'। वेद में स्वधा, अदिति, वृक्ष, तमस् आदि नामों से जगत् के मूल उपादानतत्त्व का निर्देश हुआ है। जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी परमेश्वर अकेला नहीं था। 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' में तृतीया विभक्त्यन्त 'स्वधा' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में भी ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता थी। प्रकृति के साथ (स्वधया) ही ब्रह्म विद्यमान था। एक क्रिया के साथ दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। इससे उन दो पदार्थों के दो निश्चित होने के साथ-साथ यह भी स्वतः सिद्ध है कि उन दोनों में एक मुख्य, प्रधान अथवा उत्कृष्ट है और तृतीयान्त दूसरा अप्रधान अथवा अपकृष्ट है। अचेतन, चेतन के अधीन और उसके द्वारा नियन्त्रित होता है, अतः दोनों तत्त्वों में चेतन 'ब्रह्म' उत्कृष्ट (परः) है और अचेतन 'स्वधा' (प्रकृति) स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी ब्रह्म के अधीन होने से उसकी अपेक्षा अपकृष्ट है। उस प्रलयावस्था में स्वधा का विद्यमान रहना यह प्रकट करता है कि समस्त कार्य तब केवल अपने उपादानकारण में अवस्थित रहता है। यही बात **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** (ऋ० १०।१२१।१) में कही गई है–प्रकृति परमेश्वर के गर्भ में थी। उसे व्यक्त करके उसी के सहयोग से उसने सृष्टि की रचना की।

सूक्तगत पञ्चम ऋचा में आए **'रेतोधा आसन्'** पदों से यह भी स्पष्ट है कि स्वधा के अतिरिक्त 'रेतोधा'–रेतस् को धारण करनेवाले

जीवात्मा भी सर्ग से पूर्व विद्यमान थे। सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के भाष्य में लिखा है–**'रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन्'**। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्गकाल में ब्रह्म स्वयं जीवरूप में परिणत नहीं हुआ। ब्रह्म के साथ जीव पहले से विद्यमान थे। बहुवचनान्त 'रेतोधाः' से यह भी स्पष्ट है कि ये जीव संख्या में अनेक थे। प्रलय के पश्चात् और सर्ग से पूर्व शरीरधारी न होने के कारण प्रलयकाल में जीवों की नामरूप पहचान नहीं की जा सकती। इस अवधि में वे मूर्च्छित अथवा सुषुप्ति की अवस्था में पड़े रहते हैं–सर्वथा निष्क्रिय। जगत्सर्ग में अव्यक्त न रहकर सब-कुछ व्यक्त हो जाता है। प्रकृति अनेकविध रूप धारण करनेवाली है। जीवात्माएँ अपने-अपने कर्मानुसार भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होती हैं और इस प्रकार सृष्टिक्रम चालू रहता है।

सर्गकाल में उपलब्ध अनेक वस्तुओं का निषेध प्रकारान्तर से प्रलयकाल की अवस्था का निर्देश करने के लिए किया गया है। प्रकृति तब भी विद्यमान थी, किन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण ज्ञेय नहीं थी। अन्ततः परमेश्वर ने ईक्षण किया **'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति'**–छा० ६।२।३) और पूर्व-कल्पना के अनुसार सृष्टि बन गई।

परन्तु सूक्त के द्वितीय मन्त्र के अन्तर्गत **'तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास'** शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सृष्टि से पूर्व ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। इसलिए यह सारा जगत् मात्र ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। यह विचारधारा शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। यहाँ जीवात्मा तथा प्रकृति के अस्तित्व को नकारा नहीं गया है, अपितु 'स्वधया तदेकम्' तथा 'रेतोधा आसन्' इन शब्दों में दोनों के अस्तित्व की घोषणा की गई है। वस्तुतः इस सूक्त में तीनों अनादि तत्त्वों के अस्तित्व की स्थापना करते हुए निमित्तकारण परब्रह्म की प्रधानता दिखाने का प्रयास किया गया है। जड़ उपादान की तुलना में चेतन निमित्त का आसन निश्चय ही ऊँचा है। मिट्टी की अपेक्षा कुम्हार बड़ा है, काग़ज़-पेंसिल की अपेक्षा चित्रकार बड़ा है। घड़ा या चित्र बनने से पूर्व इनका ज्ञान कुम्हार वा चित्रकार के मस्तिष्क में रहता है। मिट्टी को हाथ लगाने या पेंसिल अथवा ब्रुश को हाथ में लेने से पहले कुम्हार या चित्रकार अपने मन में अपनी कृति की रचना कर लेते हैं। निमित्तकारण की यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आए **'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव'** शब्दों से स्पष्ट है। ऐसे स्तुतिवाक्य (तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास) अभीष्ट के प्रति श्रद्धान्वित कर अनुष्ठान

में प्रवृत्त करते हैं, अतः ये विधिवाक्य नहीं होते। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग ब्रह्म की उत्पादक शक्ति की प्रशंसा करते हुए उसके प्रधानत्व-द्योतन के लिए हुआ समझना चाहिए।

लोकमान्य तिलक ने इस ऋचा में 'परः' पद का अर्थ 'परे' किया है, अर्थात् 'ब्रह्मचेतन' के परे अन्य कुछ न था। वस्तुतः चेतन परमात्मा के प्रसंग में 'परः' पद का यह अर्थ संगत नहीं लगता, क्योंकि वह चेतन सर्वत्र एक-समान व्याप्त है। उरे-परे सापेक्ष पद हैं, अतः इनका प्रयोग एकदेशी सत्ता के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। परमात्मा के सर्वव्यापी होने से कोई भी देश उसका भेदक या व्यवच्छेदक नहीं हो सकता। तब किसी के उरे-परे होने का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः प्रस्तुत संदर्भ में 'परः' का अर्थ उत्कृष्ट ही संगत है। इस अर्थ की पुष्टि मुण्डकोपनिषद् (२।१२) से भी होती है। वहाँ ब्रह्म का निर्देश करते हुए उसे 'अक्षर' से 'परात्पर' कहा है। अक्षर अर्थात् प्रकृति से उत्कृष्ट (पर) जीवात्मा और जीवात्मा से भी उत्कृष्ट (परात्पर) ब्रह्म है।

लोक में 'सलिल' शब्द जल का वाचक है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अर्थ सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रलयकाल में जल का अस्तित्व नहीं होता। इसलिए यहाँ उसके अस्तित्व का कथन कैसे हो सकता है? वस्तुतः कार्य का कारण में लीन हो जाना ही 'सलिल' पद का अर्थ है। सायण से अति प्राचीन दुर्गाचार्य ने निरुक्त ७/३ में इस ऋचा की व्याख्या करते हुए 'सलिलं' का अर्थ 'सद्भावे लीनम्' किया है। निरुक्त के एक अन्य प्राचीन टीकाकार स्कन्दस्वामी ने भी इस पद का ऐसा ही अर्थ किया है। वह लिखता है–**'सलिलं सति–सत्तालक्षणे कारणात्मनि लीनम्'**।

इस प्रकार नासदीय सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन करते हुए अन्तिम पदों में आदिसर्ग का आभास दिया है। चतुर्थ ऋचा के अनुसार अव्यक्त को व्यक्त रूप में लाने के लिए परमात्म-संकल्प प्रथम कारण है। यद्यपि मूल उपादान ही परिणत होकर विविधरूप जगत् में परिणत होता है, तथापि यह परिणाम उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक नियन्ता चेतन उसे प्रवृत्ति के लिए प्रेरित न करे। इसलिए प्रस्तुत ऋचा में चेतन के संकल्प अथवा प्रेरणा को जगत्सर्ग का प्रथम अर्थात् मुख्य कारण कहा गया है। ज़गत्सर्ग में नियन्ता चेतन और अव्यक्त अचेतन दोनों अपेक्षित हैं। प्रस्तुत ऋचा के आधार पर चेतन

और अचेतन दोनों की भिन्न सत्ता का मानना आवश्यक है। इसलिए जिन व्याख्याकारों ने इस ऋचा के आधार पर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि परमात्मा स्वयं परिणत होकर कार्यरूप जगत् हो जाता है, वे वस्तुस्थिति से बहुत दूर जा पड़े हैं। चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि होना न शास्त्रसम्मत है और न तर्कसंगत।

आदिकाल में जब सर्ग होने लगता है तब उसमें कितना समय लग जाता है अथवा उसका क्या क्रम होता है, इसकी ओर पञ्चम ऋचा संकेत करती है। सर्वोत्कृष्ट चेतन की प्रेरणा के अनन्तर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर अपनी स्थिति में आ जाते हैं। पहले मध्यलोक बने, अथवा अधोलोक अथवा ऊर्ध्वलोक, इस बात को नहीं कहा जा सकता। वह अज्ञेय काल है। प्रकृति के अनन्तानन्त मूलतत्त्वों में, चेतन की प्रेरणा से सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर अखिल लोक-लोकान्तर प्रकाश में आ जाते हैं। इनका अन्तरालवर्त्ती पूर्ण क्रमिक विकास-कथन अशक्य है, क्योंकि उसका अस्तित्व कल्पनाशील है। ऋचा में 'महिमानः' पद कार्यरूप इस दृश्यादृश्य समस्त जगत् के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋचा के अन्तिम चरण में, सर्ग के उपसंहाररूप में चेतन और अचेतन की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। स्वधा=अचेतन प्रकृति अपकृष्ट (अवस्तात्) है तथा उसका नियन्ता चेतन उत्कृष्ट (परस्तात्) है, क्योंकि चेतन की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। यद्यपि जगत् का मूल उपादान होने से प्रकृति उसका मुख्य साधन है, तथापि चेतन की उत्कृष्टता के कारण चतुर्थ ऋचा में चेतन संकल्प को जगत् का प्रथम=मुख्य कारण कहा गया है। इसी आधार पर अनेक स्थलों पर औपचारिक रूप से चेतन को जगत् का मूल कारण कह दिया गया है।

सर्वव्यापक चेतन परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि अवस्थाओं का अध्यक्ष या नियन्ता है। इन तीनों अवस्थाओं के निर्देश के लिए ऋचा में तीन वाक्य इस प्रकार हैं—'यत आबभूव' (उत्पत्ति), 'यदि वा दधे' (स्थिति), 'यदि वा न' (प्रलय)। इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में इन शब्दों में कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

इस प्रकार नासदीय सूक्त में उपादानरूप प्रकृति, उसके भोक्ता जीवात्मा और सब के नियामक परमात्मा, इन तीनों अनादि सत्ताओं का

स्पष्ट वर्णन किया है। रामानुज के अनुसार प्रकृति तथा जीव पूर्णतः परमात्मा के अधीन हैं जो अन्तर्यामि-रूप से समस्त जड़-चेतन का नियमन करता है। अनादि काल से इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी अवस्था में उनका ब्रह्म में विलय नहीं होता। प्रलय-काल में जब वे अपना नामरूप खोकर कारणावस्था को प्राप्त होते हैं, तब भी परमात्मा बीजरूप में प्रकृति तथा जीवों को अपने भीतर धारण किये रहता है।[१]

वेद के दो अन्य सूक्तों (अस्यवामीय सूक्त ऋ० १।१६४ तथा पुरुषसूक्त ऋ० १०।९०) में जगत्सर्ग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इन सूक्तों में अत्यन्त रहस्यपूर्ण, रुचिकर एवम् आकर्षक रीति पर जगत्सर्ग का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

जीवात्मा

चेतन तथा अचेतन दो प्रकार के पदार्थों के संयोग से सृष्टि की रचना होती है। देहादि समस्त पदार्थ जड़, परिणामी और नश्वर हैं, किन्तु

---

१. Ramanuja takes his stand on the *Antaryamin Brahman* (Br. Up. 4.3.7) which says that within all elements, all these organs, all souls there dwells an inward ruler whose bodies these elements, sense organs and souls are. *Brahman* comprises within himself all elements of plurality, matter with its various modifications and souls of different classes and degrees. They are entirely dependent on and subservient to the lord who pervades and rules things, material and immaterial as their inmost self, *Antaryamin*. There individual existence has been there from all eternity and will never be entirely dissolved or resolved into Brahman. They exist in two periodically alternating conditions. In *pralaya* state which occurs at the end of each world period, when *Brahman* is said to be in a causal condition (Karanavastha) distinctions of names and forms disappear. Matter is unmanifested (avyakta), souls are not attached to bodies and their intelligence in a state of contraction (samkocha). Even then *Brahman* contains within itself matter and souls in seed (बीज) condition. When, owing to an act of volition on the part of the Lord, *pralaya* is succeeded by creation, unmanifested matter becomes gross and evident to the senses and the souls enter into connection with material bodies corresponding with their accumulated merit and demerit, and their intelligence undergoes expansion, vikas.

—S. Radhakrishnan : *Brahmasutra*, p. 53-54

जीवात्मा नित्य, चेतन तथा अपरिणामी है। देहादि पदार्थ भोग्य अथवा भोग का साधन हैं, पर आत्मा स्वयं भोक्ता है। शरीर का परिणामी और जीवात्मा का अपरिणामी होना हम हर समय अनुभव करते हैं। शरीर के परमाणु हर समय बदलते रहते हैं। बुढ़ापे तक पहुँचते-पहुँचते शरीर पूरी तरह बदल जाता है। फिर भी हम कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है जो कभी बालक था, क्योंकि हम समझते हैं कि इस नित्य परिवर्तनशील शरीर में कुछ ऐसा है, जो किंचित् नहीं बदलता, क्योंकि शरीर की उत्पत्ति के साथ जीवात्मा की उत्पत्ति और उसके विनाश के साथ जीवात्मा का नाश नहीं होता। इसलिए जन्म-जन्मान्तरों में शरीरभेद होने पर भी जीवात्मभेद नहीं होता।

बौद्धों का विचार है कि अस्थायी मानसिक अवस्थाओं की शृंखला से अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नहीं। यह विचारों की ऐसी शृंखला है जिसमें प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्त्तियों से अपने भूतकाल के विचार संगृहीत करता है। ऐसा मानने पर आत्मचैतन्य, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, इच्छा, सुख-दुःख आदि सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या नहीं हो सकती । यदि इस समस्त जगत् को शून्य घोषित करें, तो भी यह शून्यता अपने बोध को ग्रहण करनेवाले की पूर्वकल्पना कर लेती है। सुषुप्ति-अवस्था में आत्मा उपस्थित रहती है, क्योंकि जागने पर मनुष्य को इस बात का ज्ञान रहता है कि वह प्रगाढ़ निद्रा में था जिसमें स्वप्नों ने विघ्न नहीं डाला। उस अवस्था में आनुभविक मन निष्क्रिय रहता है। केवल विशुद्ध चेतना उपस्थित रहती है। जब ज्ञान के विषय में परिवर्तन हो जाता है, तब भी ज्ञाता अपरिवर्तित रहता है। भूत, वर्तमान और भविष्य में उसका अस्तित्व यथावत् बना रहता है। यदि कर्मविधान का कुछ अर्थ है तो एक सामान्य अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। इसलिए एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है जो विचारों की सम्भाव्य क्षमता को धारण करती हो, नित्य हो और प्रतिफल के विधान अथवा पुनर्जन्म की व्याख्या करने में समर्थ हो।

जीवात्मा द्रव्य है। द्रव्य भौतिक-अभौतिक तथा नित्य-अनित्य दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि आत्मा को भौतिक माना जाएगा तो उसे अनित्य भी मानना होगा। भौतिकवादियों के मत में आत्मा जड़ व अनित्य है। भारतीय दर्शन में चार्वाक इसी मत का पोषक था। संसार में जितने मत केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, वे सभी आत्मा को भौतिक तथा अनित्य मानते हैं, क्योंकि वे केवल उन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार

करते हैं जिनका प्रत्यक्ष हो सकता है। प्रत्यक्ष केवल जड़ वस्तुओं का होता है। इसलिए यदि आत्मा का अस्तित्व है तो उसका जड़ होना अपरिहार्य है। परन्तु प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है–बाह्य तथा आन्तरिक। आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा हम आन्तरिक भावों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आन्तरिक भावों के ज्ञान से चैतन्य का भी प्रत्यक्ष होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि चैतन्य बाह्य जड़ पदार्थों में नहीं पाया जाता, तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि हमारे भीतर एक अभौतिक सत्ता है जिसे हम 'आत्मा' नाम से अभिहित करते हैं? इसके उत्तर में चार्वाक का कहना है कि यद्यपि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, तो भी चैतन्य को किसी अभौतिक द्रव्य या आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता। चैतन्य का प्रत्यक्ष शरीर में होता है, इसलिए शरीर को ही आत्मा मानना चाहिए।[१]

स्थूल देह पाँच भूतों से मिलकर बना है। इन भूतों का विश्लेषण करने पर किसी भी मूलभूत तत्त्व में चेतन की प्रतीति नहीं होती। भूतों का मूल उत्पादनतत्त्व सर्वथा जड़ है। जब उनमें से किसी में भी चैतन्य नहीं है तो उनके संघात में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा? जो है ही नहीं, वह व्यक्त कैसे होगा? तिल के एक-एक दाने में तेल है तो इन दानों के संघात से तेल की धार निकलेगी। बालू के एक कण में भी तेल नहीं तो उसके ढेर से भी तेल की बूँद न टपकेगी। शरीर के इन्द्रियादि सभी अवयव भौतिक होने से जड़ हैं, तब उनका संघात चैतन्य कैसे उत्पन्न कर सकता है?

यदि पाञ्चभौतिक शरीर को आत्मा मान लिया जाए तो मरण आदि अवस्थाओं का अभाव हो जाना चाहिए। देह में चेतना का न रहना अथवा चेतन का देह को छोड़कर चला जाना मृत्यु है। यदि समस्त देह स्वतः चेतन है तो किसी के छोड़कर चले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। जहाँ तक आत्मा के प्रत्यक्ष न होने का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष गुणों का होता है और गुण-गुणी का समवाय-सम्बन्ध होने से गुणों के द्वारा गुणी का प्रत्यक्ष होता है। जब जीवात्मा सदेह होता है, तभी उसके गुणों की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ही उसका प्रत्यक्ष है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न सुख-दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं। जब तक शरीर में जीवात्मा रहता है तब तक ये प्रत्यक्ष रहते हैं। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यों-के-त्यों रहने पर भी, इन सब का लोप हो जाता है।[२] यदि चेतना

१. चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा।
२. व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्। —वे०द० ३।३।५४

देह का धर्म होता तो मृत देह में भी रहती। उसके न रहने से स्पष्ट है कि चेतना देह का धर्म नहीं है। जिसके होने से जो हो, और न रहने से न हो, वे गुण उसी के होते हैं, जैसे सूर्य व दीप आदि के होने से प्रकाश होता है और न होने से नहीं होता, क्योंकि सूर्य आदि प्रकाश के कारण हैं। यदि देह से भिन्न कुछ न हो तो देह के रहते ज्ञान आदि का अभाव न होना चाहिए। अतः जिसके संयोग से चेतना और वियोग से जड़ता आती है, वही आत्मा है। इस प्रकार चेतनतत्त्व जीवात्मा देह से सर्वथा अतिरिक्त है।

आत्मा एक ऐसी सत्ता है जो इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञानसामग्री का संश्लेषण-विश्लेषण करती, भिन्न-भिन्न अनुभवों में एकत्व स्थापित करती और आवश्यकता-अनुसार उसका उपयोग करती है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण और प्रतिसन्धान कर सकती है, अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का नहीं । किन्तु जिस वस्तु को हम आँख से देखते हैं, उसी को हाथ से छूकर कहते हैं कि जिसे आँख से देखा था उसी को हाथ से छू रहे हैं। खाद्य पदार्थ को आँख से देखते ही रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियाँ ही ज्ञाता होतीं तो ऐसा कभी न होता, क्योंकि एक के देखे-सुने का अन्य को स्मरण नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ भौतिक (प्रकृति से उत्पन्न) हैं, अतः चेतन उनका गुण नहीं हो सकता। वे साधनमात्र हैं, इसलिए उनका उपयोग करने के लिए कर्त्ता के रूप में चेतनतत्त्व की आवश्यकता है। इन्द्रियों के क्षत हो जाने, नष्ट हो जाने अथवा दृष्ट पदार्थ का अभाव हो जाने पर भी उसके संस्कार का बना रहना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि समस्त भौतिक पदार्थों से परे एक चेतन सत्ता है जो अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधनरूप में शरीर का उपयोग करती है।

यदि देहादि संघात को आत्मा माना जाए जो उसके न रहने पर कोई पाप-पुण्य भी न रहेंगे, क्योंकि जिस शरीररूपी आत्मा ने पाप-पुण्य किये थे वह तो भस्म हो गया और भस्म हुआ शरीर फिर आने से रहा।[१] इस प्रकार कर्मफल की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा एकदेशी है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में परतन्त्र (ईश्वराधीन) है।

---

१. भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। —चार्वाक

प्रकृति

'प्रकृति' शब्द ही यह सिद्ध करता है कि जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, क्योंकि जिससे कोई पदार्थ बनता है उसे प्रकृति कहते हैं– प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः। उपादान जब तक विकृत न हो तब तक कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। कार्यावस्था में आने पर प्रकृति नामरूप धारण करती है। तब वह 'विकृति' कहाती है। वेद एवं वैदिक साहित्य में उस तत्त्व को स्वधा, त्रिधातु, अदिति, वृक्ष, अजा, तमस् आदि पदों से तथा दर्शन, उपनिषद् व पुराण–साहित्य में उसे प्रकृति, प्रधान, त्रिगुण, अजा, अक्षर, ब्रह्म–महद्ब्रह्म, प्रसवधर्मिणी, तमस् आदि नामों से जाना जाता है। तथापि उसे मुख्यतः प्रकृति और प्रधान, इन दो नामों से पुकारा जाता है। 'प्रधान' पद अपने निर्वचन के आधार पर मुख्य रूप से जगत् की प्रलयावस्था की ओर संकेत करता है–**प्रकर्षेण अन्तर्त्वीयते सर्वं जगत् यस्मिंस्तत् प्रधानम्।** क्योंकि जगत् की दृश्यमान अवस्था का आधार सर्ग है और उसका द्योतन 'प्रकृति' पद से होता है, इसलिए सर्वाधिक प्रचलित नाम यही है।

प्रकृति एक मौलिक द्रव्य है जिसमें से इस जगत् का विकास होता है। साम्यावस्था में त्रिगुण के संघात का नाम प्रकृति है। साम्यावस्था में उसमें कोई क्रिया नहीं होती। विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा गया है। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूलभूत स्थिति प्रकृति कहाती है, अर्थात् जब तक ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, अपितु मूलकारण–रूप में अवस्थित रहते हैं, तभी तक इनका नाम प्रकृति है। जब गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न होता है तो प्रकृति में परिणमन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, अर्थात् इनमें वैषम्य आने पर नामरूपयुक्त सृष्टि बनती है। विकृति का ही दूसरा नाम कार्यावस्था है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति–अवस्था में संभव है। कार्यमात्र का मूल उपादान होने से प्रकृति को एक भले ही कहा जाए, पर प्रकृति नाम का व्यक्तिरूप में कोई एक तत्त्व नहीं है। वस्तुतः मूलतत्त्व तीन वर्गों में विभक्त हैं, परन्तु उनकी संख्या अनन्त है।

भारतीय दर्शन में सत्त्व, रजस्, तमस् को मूलतत्त्व माना है। समस्त जड़ जगत् मूलतः इन्हीं तत्त्वों से मिलकर बना है। सत्त्व (शुद्ध) प्रीतिरूप है। प्रीति का अर्थ है–दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् (मध्य) अप्रीतिरूप है और इस कारण दूर हटाने की प्रवृत्ति रखता

है। तीसरा 'तमस्' (जाड्य) विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप है और न अप्रीतिरूप। प्रलयकाल में बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं कि कार्य करने की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। व्यक्त होने की प्रवृत्ति (सत्त्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध रहती है। सत्त्व, रजस् और तमस्, इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रधान पक्ष को लेकर किया जाता है, एकान्तिक अथवा अनन्य स्वरूप को लक्ष्य करके नहीं। भौतिक जड़ पदार्थों में तमोगुण प्रधान है और सत्त्व तथा रजस् गौण। गतिमान् पदार्थों में रजोगुण प्रधान होता है और अन्य गुण प्रच्छन्न।[१]

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन नामक तीन तत्त्वों को मानता है। प्रोटोन आकर्षण-शक्ति का पुंज है। इसके विपरीत इलेक्ट्रॉन अपकर्षणस्वरूप है। पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है, जबकि दूसरा पहले को अपकर्षण (दूर करने या हटाने) में प्रवृत्त रहता है। इन्हें पॉज़िटिव और नैगेटिव पॉवर कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन में ये दोनों बातें नहीं होतीं। इस सन्तुलन का यह अभिप्राय नहीं कि सत्त्व-रजस्-तमस् पूर्णतया क्रमशः प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन हैं। किन्तु मूलतत्त्व-विषयक चिन्तन में आधुनिक विज्ञान और प्राचीन भारतीय विज्ञान (दर्शन) दोनों में पर्याप्त समानता है। अतः इस सन्तुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है, उसे भारतीय तत्त्वज्ञ ऋषियों ने बहुत पहले कह दिया था। यह भी सम्भव है कि भारतीय मनीषियों का चिन्तन उससे भी परे की मूल अवस्था की ओर हो।

उत्पन्न पदार्थ अपनी सत्ता के लिए पराधीन हैं, किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ संख्या में अनेक हैं तथा देश-काल में सीमित हैं, किन्तु प्रकृति एक है और नित्य है। प्रकृति कभी नष्ट नहीं होती, इसलिए कभी उत्पन्न नहीं होती। व्यक्त कार्य तथा अव्यक्त प्रकृति में भेद करते हुए सांख्यकारिका में कहा है—"व्यक्त कारणयुक्त, नाशवान्, एकदेशीय, अनेकरूपात्मक, परमुखापेक्षी, सावयव और नित्य कारणों के अधीन होता है, किन्तु अव्यक्त इसके विपरीत होता है।"[२] उत्पन्न पदार्थ प्रकृति के

---

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ —सां० का० १२

२. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ —सां० का० १०

अन्दर अपना अस्तित्व रखते हैं। अव्यक्त दशा में अपने-आपको मिटाते नहीं, प्रत्युत साम्यावस्था में अवस्थित रहते हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था होने के कारण यह समस्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों का आधार है। वह विशुद्ध समता है।

कारणरूप प्रकृति एक होते हुए भी अनेक संभाव्यताओं से युक्त है। उस एक में अनेक शक्तियाँ अन्तर्हित रहती हैं। अविशेषता साम्यावस्था का पर्याय है। विषमता और विशेषता एकार्थवाची हैं। कुम्हार और सुनार आदि का काम साम्य में वैषम्य उत्पन्न करना, अर्थात् मिट्टी और स्वर्ण को मनचाहे रूप देना है। स्वर्ण से अंगूठी, कंगन, कण्ठहार आदि कितने ही प्रकार के आभूषण बनाए जा सकते हैं। कार्यरूप में अनेक नामरूपवाले होते हुए भी कारणरूप में सब एक-स्वर्ण हैं। स्वर्ण उन सबकी साम्यावस्था है, अर्थात् अभी उसमें इनका भेद उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए अभी उसमें अनेक नामरूपात्मक आभूषणों की सम्भाव्यताएँ अन्तर्हित हैं। मिट्टी भी घड़े, सुराही, शकोरे, खिलौने आदि के उपादानकारण की साम्यावस्था है जिसमें अभी भेद उत्पन्न नहीं हुआ है। इसी प्रकार कागज़ में अनेक आकार, चित्र आदि अन्तर्हित रहते हैं। सुनार, कुम्हार तथा चित्रकार स्वर्ण, मिट्टी और कागज़ को जैसा चाहें वैसा रूप दे सकते हैं। किन्तु कार्यावस्था में आने पर उनसे जो चाहें नहीं बनाया जा सकता। साम्यावस्था में वैषम्य अथवा भेद उत्पन्न होने अथवा प्रकृति के विकृति की अवस्था में आने पर उसका सामर्थ्य सीमित हो जाता है।[१] इस प्रकार ऐश्वरी सृष्टि का उपादानकारण साम्यावस्थारूप प्रकृति है, जबकि जैवी सृष्टि का उपादान विकृति है।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्तित होती है, अपितु ऊर्जा (Energy) को वस्तुतत्त्व (Matter) के रूप में और वस्तुतत्त्व को ऊर्जा के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि यह ठीक है तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऊर्जा और वस्तुतत्त्व का उपादान एक ही है, अर्थात् दोनों मूलतः एक हैं। सामान्य व्यक्ति समझता है कि रोटी गेहूँ से बनती है। कुछ अधिक समझदार व्यक्ति जानता है कि गेहूँ उस पौधे से उत्पन्न होता है जिसका कारण अर्थात् बीज स्वयं गेहूँ है। परन्तु गेहूँ के एक दाने से

---

१. सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्। —शां० भा० २।३।९

इतने अधिक दाने कैसे बन जाते हैं? वनस्पतिशास्त्र का ज्ञाता बताता है कि धरती और वायुमण्डल में उपलब्ध जल, कार्बनडायोक्साइड और नाइट्रोजन से प्राप्त स्टार्च और प्रोटीन के संश्लेषण से एक से अनेक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार के विश्लेषण द्वारा हम स्थूल रोटी से उसके मूल उपादान जल, कार्बनडायोक्साइड और नाइट्रोजन तक पहुँच जाते हैं। रसायनशास्त्री और गहराई में जाकर देखता है और इनके मूल में ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्बन मिलते हैं। जहाँ रसायनशास्त्री परमाणुओं पर जाकर ठहर जाता है, वहाँ भौतिक वैज्ञानिक परमाणुओं को इलेक्ट्रॉन आदि में विभक्त करता है। इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की खोज करते हुए जब हम सूक्ष्मतम पर पहुँचते हैं तो हमें सत्त्व-रजस्-तमोगुणात्मक प्रकृति का दर्शन होता है।

विश्वसम्बन्धी प्रक्रिया के दो रूप हैं—रचनात्मक तथा विज्ञानात्मक। मूल प्रकृति में से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विश्लिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन होने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होने के परिणामस्वरूप विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साथ विकसित होता है और सर्गकाल की समाप्ति पर विपरीत क्रम से विकास की पूर्वस्थिति में लौट जाता है और अन्त में प्रकृतिरूप होकर विलीन हो जाता है। विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

प्रकृति और परमाणु

किसी पदार्थ का छोटे-से-छोटा अवयव, जिसके आगे टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहाता है। पृथिवी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विश्लेषण या विभाग करते-करते जब हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे कण पर पहुँच जाते हैं जिसमें पृथिवीत्व बना रहता है, वह पृथिवी का मूल परमाणु है। परमाणु में परिधि और व्यास होता है और जिसमें परिधि और व्यास है वह अन्तिम तत्त्व नहीं है, क्योंकि उसका आगे और भी विघटन हो सकता है। जब तक वह एकमात्र नहीं हो जाता, तब तक बराबर कटता चला जाता है। फिर भी उसे अविभाज्य इसलिए कहा जाता है कि उस अवस्था में अर्थात् कार्यावस्था को खोए बिना उसके और टुकड़े नहीं किये जा सकते। पृथिवी के परमाणु का और आगे विश्लेषण अथवा विखण्डन

तो किया जा सकता है, किन्तु तब उसमें पृथिवीत्व नहीं रहेगा, प्रत्युत वह अपने मूल कारणों के रूप में बिखर जाएगा। पृथिवीत्व की प्रतीति न रहने पर उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त हो जाएगी। तब उसकी संज्ञा 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' हो जाएगी जो अन्ततः सत्त्व, रजस्, तमस् के रूप में एकमात्र हो मूल कारणावस्था को प्राप्त हो जाएगा। जलादि के परमाणुओं के विषय में भी यही स्थिति है। किसी भी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते हुए उसका जो अन्तिम खण्ड वा कण है, दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के समय वही उसका परमाणु है और प्रारम्भिक या आदि-कण होने से अविभाज्य मूल तत्त्व है। मूलतः सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण परमाणु प्रकृति का परिणाम अथवा कार्य है। प्रकृति की कार्यावस्था में परमाणु सृष्टि का उपादान है। परमाणु से नीचे कार्य-सृष्टि की रचना सम्भव नहीं। इस प्रकार कार्यावस्था में प्रकृति का सूक्ष्मतम अवयव होने और स्थूलाकार जगत् की उत्पत्ति में कारण होने से द्रव्य की परमाणु-अवस्था को भी प्रकृति अथवा मूल उपादान कहा जाता है।

गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से उत्पन्न होने के कारण परमाणु नित्य नहीं कहाता। न्याय-वैशेषिक ने प्राकृत तन्मात्रों से परिणत सूक्ष्मभूत की अवस्था तक विचार प्रस्तुत किया, जबकि सांख्य ने प्रकृति की मूल अवस्था तक पहुँचने का प्रयास किया, अर्थात् जहाँ से सांख्य मूल जड़ तत्त्व की खोज में सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया, वहीं से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया। इस प्रकार सांख्य और न्याय-वैशेषिक में परस्पर विरोध न होकर सभी एक-दूसरे के पूरक बन चले हैं। वास्तव में तन्मात्र के रूप में उद्भूत होने से स्वयं प्रकृति का कार्य और साथ ही स्थूलाकार जगत् का (उपादान) कारण होने से परमाणु प्रकृति-विकृति की अवस्था में आ जाते हैं। उन्हीं परमाणुओं के विभिन्न अनुपात और रूपों में संयुक्त होने से स्थूलाकार विविध जगत् की रचना होती है।

प्रकृति से विकृति की अवस्था में आने पर उसका प्रथम विकार अथवा परिणाम 'महत्' कहाता है। उस 'महत्' से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार भेद का सिद्धान्त है, अतः उससे प्रकृति में पृथक्ता का भाव उत्पन्न होता है। अहंकार से पंचतन्मात्र तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तन्मात्र से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल

और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म तत्त्वों का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता, किन्तु पृथिवी आदि स्थूल तत्त्व इन्द्रियगोचर हैं। इसलिए इनके अस्तित्व से उनके उपादान तन्मात्र-तत्त्वों के अस्तित्व का अनुमान होता है।

तन्मात्र क्या है ? उनके स्वरूप को समझने के लिए स्वर्ण के एक कण का विश्लेषण करना उपयुक्त होगा। उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण में जब तक उसके स्वर्ण होने की प्रतीति होगी, तब तक वह परमाणुसंज्ञक होगा। जब विश्लेषण करते-करते वह कण उस अवस्था में पहुँच जाएगा जहाँ उसके अवयवों में स्वर्ण की प्रतीति नहीं रहेगी, तब उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त समझी जाएगी। तत्त्व की वह अवस्था अविशेष अथवा तन्मात्र है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ मूलतः इसी प्रकार के सूक्ष्म अवयवों से परिणत होकर स्थूल अवस्था में आता है। इन्हें 'तन्मात्र' इसलिए कहते हैं क्योंकि ये अन्य किसी भी तत्त्व से अमिश्रित रहते हैं। इनको 'अविशेष' नाम भी दिया गया है, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की बाह्य विशेषता अर्थात् कार्यगत विशेषता नहीं रहती।

ऋषि दयानन्द के अनुसार "साठ परमाणुओं के संघात का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल और पाँच द्व्यणुक की पृथिवी है, अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलाकर भूगोलादि परमेश्वर ने बनाए हैं।" एक अणु=६०परमाणु, द्व्यणुक २×६०=१२० परमाणु, त्रसरेणु=३×१२०=३६० परमाणु, त्रसरेणु का दुगुना २×३६०=७२० परमाणु। इस प्रकार किसी द्रव्य पदार्थ के दृश्य रूप में आने के लिए सर्वप्रथम न्यूनातिन्यून ७२०परमाणुओं का संघात अनिवार्य है। फिर उनके संयोगविशेष से प्रथमतः कोई तत्त्व बनकर सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम बनता जाता है।

जो पंचभूत हमें दृष्टिगोचर होते हैं वे सब संयुक्त हैं। उनमें जो स्थूल हैं, उनमें सूक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथिवी सबसे स्थूल है, इसलिए उसमें सब भूतों के रहने से उन सब गुणों का पृथिवी में प्रत्यक्ष होता है। पंचभूतों में सूक्ष्मतम आकाश है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। वह विभु एवं नित्य है। फिर भी जब 'आकाशः सम्भूतः' कहा जाता है तो इसका इतना ही अभिप्राय होता है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश-अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैला हुआ था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न हुआ-सा दीखता है।

जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं

प्रत्येक शरीर में जीवात्मा नाम के चेतन तत्त्व का अनुभव किया जाता है। ब्रह्म प्रकृति-उपादान से जगत् की रचना करता है। जीवात्मा का प्रादुर्भाव भी कहीं न कहीं से होना चाहिए। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ईश्वर हमारे हाथ, पैर, नाक, कान आदि बना शरीर की रचना करता है, हो सकता है उसी प्रकार किसी उपादान से जीवात्मा को भी बनाता हो ! परन्तु जगत् में जो कुछ परिणाम है, सब जड़ प्रकृति का है। जड़ का परिणाम जड़ ही हो सकता है, चेतन नहीं। प्राणियों को प्राप्त देह जड़ है, इसलिए प्राकृत तत्त्वों से उसकी रचना सम्भव है। जीवात्मा चेतन है, इसलिए देह की भाँति जीवात्मा जड़ प्रकृति का परिणाम नहीं हो सकता। वस्तुतः कोई चेतन तत्त्व न किसी का कार्य हो सकता है और न किसी का उपादान कारण। इसलिए चेतन ब्रह्म से भी जीवात्मा की उत्पत्ति सम्भव नहीं। जीवात्मा को उत्पन्न न करने पर भी परमात्मा उसका नियन्ता इसलिए कहाता है कि वह अपने सामर्थ्य से उसके कर्मफल का नियामक है और उसके भोगापवर्ग के लिए जगत् की रचना करता है ।

जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना ईश्वर का काम है; उन्हें उत्पन्न करना नहीं। जिनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना अपेक्षित है, यदि उन जीवों का अस्तित्व ही नहीं था तो सृष्टि-रचना की क्या आवश्यकता थी? पहले भोक्ता जीवों को उत्पन्न करना और फिर उनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि-रचना के लिए विवश होना कहाँ की समझदारी है? फिर, जीवों की उत्पत्ति कार्य है जो कारण के बिना सम्भव नहीं। जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा? जीव के न होने पर दो ही पदार्थ शेष रह जाते हैं—ईश्वर और प्रकृति । जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति असम्भव है। इसी प्रकार सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमात्मा से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यदि दुर्जनतोष-न्याय से जीव का परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होना मान भी लिया जाए तो उसका विनाश होना और उत्पाद-विनाश होने से उसका अनित्य होना मानना होगा। जिसका आदि होगा उसका अन्त अवश्य होगा। जो उत्पन्न होगा वह मरेगा अवश्य। इसलिए जैसे परमेश्वर द्वारा बनाए गए हमारे शरीर का अन्त होता है, वैसे ही उसके बनाए आत्मा का भी अन्त मानना होगा। परन्तु ये देह तो अन्तवाले हैं, पर उनमें निवास करनेवाला देही (जीव) नित्य

एवम् अविनाशी है। न वह कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होकर न रहे।[१] यह तो अजन्मा, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का वध हो जाए तो यह नहीं मरता।[२] शरीर के न रहने पर भी यह बना रहता है। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीव से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं।[३] जड़ (प्रकृति) और चेतन (जीव)—एक शासक और दूसरा शासित, दोनों ही अजन्मा हैं।[४] यह चेतन आत्मा न जन्मता है, न मरता है।[५] जब यह जीवात्मा शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है, और जब शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहाता है।[६] इस प्रकार जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह से संयोग-वियोग के आधार पर होता है, क्योंकि जब आश्रित वस्तुएँ उत्पन्न या विलय होती हैं, कहा यह जाता है कि आत्मा उत्पन्न हुआ या विलय हुआ। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में लिखा है—"जीव की उत्पत्ति-प्रलय नहीं होते। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाए तो दूसरे शरीर में इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो? और शास्त्र में जो विधि-निषेधात्मक उपदेश हैं, वे व्यर्थ हो जाएँ।"[७] इसलिए यदि कहीं जीव की उत्पत्ति या विनाश का उल्लेख पाया जाए तो वह शरीर की अपेक्षा से ही मानना चाहिए।

मनुष्य (प्राणी) देह और आत्मा का समुच्चय है। इनमें आत्मा

---

१. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
—गीता १८,२०

२. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
—गीता २।२०

३. जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते। —छां० ६।११।३

४. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। —श्वेता० १।९

५. न जायते म्रियते वा विपश्चित्। —कठ० २।१८

६. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः।
—बृहद्० ४।३।१८

७. न जीवस्योत्पत्तिविनाशौ स्तः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गते इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्।
—शां० भा० २।३।१६

नित्य और अमर है। वह आज है, कल था और कल भी रहेगा। अतएव जन्म-मरण शब्द उसके लिए प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। पूर्वजन्म में अनुष्ठित कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के शरीरों को धारण करना जीवात्मा की अनादि और अनन्त जन्म-कर्म-फल-परम्परा को सिद्ध करता है। यह जीवात्मा के अविनाशी होने और अविनाशी होने से अनुत्पन्न होने का स्पष्ट प्रमाण है। आत्मा को अविनाशी माने बिना संसार में वैषम्य एवं नैर्घृण्य की व्याख्या भी नहीं की जा सकती।

जिस प्रकार भाव का अभाव या विनाश सम्भव नहीं, उसी प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यदि वर्तमान में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है, तो उसका अनादि-अनन्त होना स्वतः सिद्ध है। यदि 'हम हैं' सत्य है तो 'हम थे' और 'हम होंगे' भी उतना ही सत्य है। जिस तर्क से 'हम हैं' उसी तर्क से 'होंगे भी'। इस संसार में ऐसा कोई नहीं है जो न कभी इससे पहले यहाँ आया हो और न यहाँ से एक बार जाने के बाद यहाँ लौटेगा। मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त उसका यहाँ आना-जाना निरन्तर बना रहता है।

बाइबल के अनुसार जीवात्मा ईश्वर का बनाया है। परमेश्वर ने धरती की मिट्टी से एक पुतला बनाया और उसमें अपनी रूह फूँक दी। इस प्रकार जीता-जागता मनुष्य बन गया।[१] ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिए एक नई आत्मा को उत्पन्न करता है।[२] ईसाई विचारक सन्त थॉमस के अनुसार जीवात्मा अमर है, किन्तु नित्य नहीं है। नित्य वह है जो त्रिकालाबाधित है। ईसाइयत के मत में जीवात्मा उत्पन्न तो होता है, पर मरता नहीं। उसका आदि है, पर अन्त नहीं। इस विषय में डेकार्टे पर भी ईसाई मत का आंशिक प्रभाव प्रतीत होता है। डेकार्टे ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानता है। परन्तु उसका मत है कि जीव और प्रकृति ईश्वर के बनाए हैं और यदि वह चाहे तो उन्हें नष्ट कर सकता है।[३] इस प्रकार परमात्मा ही एकमात्र वास्तविक

---

१. And the Lord God formed man out of dust and breathed into his nostrils the breath of life and man became a living soul.

The Bible, Genesis II, 7

२. The soul is not transmitted with the semen, but is created afresh with each man.

--Bertrand Russell : *Hist. of West. Phil.*, p. 480

३. Decartes admitted three substances, God, Mind and Matter. It is true that even for him God was, in a sense, more substantial than mind and matter, since he had created them and could, if he so, chose, annihilate them. --Ibid, P. 594

तत्त्व ठहरता है। जीव और प्रकृति उसकी कृतियाँ हैं और अपने अस्तित्व के लिए परमात्मा की इच्छा पर आश्रित हैं। कुरान के अनुसार भी आदिम पुरुष आदम की उत्पत्ति बाइबल के आदिम पुरुष की भाँति ही हुई थी।[1] एक बार उत्पन्न होने के बाद जीव कभी मरता नहीं। मृत्यु के बाद न्याय के दिन तक कब्र में पड़ा रहता है और बाद में कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिए अनन्त काल तक स्वर्ग या नरक में पड़ा रहता है। तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका आदि है उसका अन्त अवश्यंभावी है। न एक किनारे की नदी हो सकती है और न एक सिरे की रस्सी की कल्पना की जा सकती है। इस्लाम और ईसाई मत के अनुसार यदि शरीर के साथ उसकी आत्मा की उत्पत्ति मानी जाएगी तो शरीर के अन्त के साथ उसका अन्त भी मानना होगा। परन्तु आत्मा को सभी अविनाशी मानते हैं।[2] अविनाशी मानने पर अनिवार्यतः उसे अनुत्पन्न मानना होगा।

उत्पन्न पदार्थ परिणामी होता है और प्रत्येक परिणामी पदार्थ संघात में अवस्थित रहता है। संघात में विकार होते रहते हैं, किन्तु जीवात्मा अविकारी है।[3] और अविकारी होने के कारण उसका अनुत्पन्न होना सिद्ध है। यदि जीवात्मा को उत्पन्न हुआ माना जाएगा तो उसकी उत्पत्ति के लिए कालविशेष की भी कल्पना करनी होगी। फिर उस कालविशेष में जीवों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्धारण करना होगा। बैठे-बिठाए परमेश्वर को क्या सूझी कि उसने असंख्य जीवों की सृष्टि कर डाली? पूर्णकाम ब्रह्म को अपने भीतर कौन-सी कमी जान पड़ी जिसे पूरा करने के लिए उसे जीवों की आवश्यकता पड़ गई? जब जीव नहीं थे तो उनके भोगापवर्ग के लिए अपेक्षित सृष्टि भी नहीं थी। तब उसमें सृष्टि-कर्तृत्व भी नहीं था। वस्तुतः जीवों के न होने की दशा में परमात्मा अन्यथा सिद्ध हो जाएगा।

जीव अपनी स्वभावगत अल्पज्ञता के कारण पाप-पुण्य में प्रवृत्त होता है। यदि परमेश्वर जीव को बनाता तो उसे अपने-जैसा बनाना चाहिए

---

१. कुरान, अलहिजरा, आयत २८-२९

२. तुलना करें—Life is real, life is earnest,
And the grave is not its goal,
Dust thou art, to dust returnest,
Was not spoken of the soul.

३. असङ्गोऽयं पुरुषः ।—सां० १।१५

था जिससे संसार में सब कहीं **सत्यं शिवं सुन्दरम्** का साम्राज्य होता। न कहीं अज्ञान होता, न अज्ञान के कारण पाप और न उसके फलस्वरूप दुःख। सर्वत्र शान्ति होती।

जगत् मिथ्या नहीं

जिस प्रकार 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार 'सत्' का अभाव नहीं हो सकता। यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाए अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादानकारण भी माना जाए, अथवा ब्रह्म को जगद्रूप में परिणत माना जाए, तो भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। जैसे ब्रह्मरूप नित्य है वैसे ही जगद्रूप नित्य है। दोनों के समान रूप से नित्य होने पर एक सत्य और दूसरा मिथ्या है—ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'**—इस सार्वभौम एवं सार्वकालिक नियम के अनुसार तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं जो उसके कारण में। अतएव यदि 'ब्रह्म सत्यम्' है अर्थात् जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् मिथ्या नहीं हो सकता । अद्वैतमत के अनुसार यदि कारण का कार्य से अनन्यत्व है तो कारण के सत्य होने पर उसके कार्य को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ?[१] कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप जगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जाएगा तो स्वयं ब्रह्म मिथ्या हो जाएगा। किन्तु ब्रह्म का सत्य होना निर्विवाद है, इसलिए उसके कार्यरूप जगत् का सत्य होना स्वतःसिद्ध है। यदि स्वर्ण सत्य है तो उससे बननेवाले आभूषण मिथ्या नहीं हो सकते, और यदि आभूषण मिथ्या हैं तो उनका उपादान स्वर्ण कैसे सत्य हो सकता है?

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्त्तक गौडपादाचार्य का कथन है—**'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा'** अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं होता, वह वर्तमान में भी नहीं होता। तदनुसार—जगत् की उत्पत्ति से पूर्व

---

१. Brahma, though himself immaterial, is said to be the material cause of the world. And yet the world, of which he is the cause, is considered unreal, while at the same time the cause and effect are held to be identical in substance. If the cause and effect be really identical, how could the unreal world be the effect of real Brahma? *—Maxmueller*

न होने तथा अन्त में न रहने से जगत् स्थितिकाल में भी मिथ्या है। इसका तात्पर्य यह है कि क्योंकि मैं (लेखक) आज से ७५ वर्ष पूर्व नहीं था और मृत्यु के पश्चात् मैं नहीं रहूँगा, इसलिए मैं वर्तमान में (लिखते समय) भी नहीं हूँ। कौन समझदार व्यक्ति स्वीकार करेगा गौड़वाद के इस तर्क को और इसके आधार पर स्थापित जगत् के मिथ्या होने की बात को? गौडपादाचार्य के प्रशिष्य और अद्वैतवाद के प्रमुख प्रचारक एवं प्रसारक होते हुए भी शंकराचार्य को घोषणा करनी पड़ी कि जैसे कारणब्रह्म तीनों कालों में भी व्यभिचरित नहीं होता, वैसे ही कार्यजगत् भी सत्त्व से व्यभिचरित नहीं होता।[1]

अद्वैतवादियों के अनुसार इस तथाकथित जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**–ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। उससे भिन्न जो कुछ दीखता है, वह सब मिथ्या है, वास्तविकता नहीं। इस भ्रम या भ्रान्ति का कारण अविद्या या अज्ञान है। जिस प्रकार अँधेरे में रस्सी का साँप दिखाई पड़ता है और प्रकाश आने पर साँप का लोप हो जाता है और केवल रस्सी रह जाती है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर जगत् दीखना बन्द हो जाता है और केवल ब्रह्म शेष रह जाता है।

रस्सी में साँप का भ्रम तभी सम्भव है जब देखनेवाले ने कभी न कभी या कहीं न कहीं वास्तविक साँप देख रक्खा हो। जिसने अपने जीवन में कभी साँप का प्रत्यक्ष न किया होगा उसे कभी भी रस्सी में साँप की प्रतीति नहीं होगी। तब सर्प को असत् या अवस्तु नहीं माना जा सकता। सत्य और मिथ्या सापेक्ष शब्द हैं। सत्य की अपेक्षा से ही मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। जब हम हाथ में रक्खे सोने को खोटा या नकली कहते हैं तो कहीं न कहीं खरे या असली सोने की अपेक्षा से कहते हैं। इसी प्रकार जब हम आँखों के सामने फैले जगत् को मिथ्या कहते हैं तो किसी सत्य जगत् की अपेक्षा से कहते हैं। जब हम सहस्रों बार दूर से जलाशय को देख वहाँ जाकर जल प्राप्त कर लेते हैं, तभी कभी-कभी बालू को देखकर वहाँ जल की भ्रान्ति होती है। मिथ्या ज्ञान की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ भी सत्य की अपेक्षा से हैं। मायावादियों के अनुसार यदि सब संसार मिथ्या ही मिथ्या होता–सत्य नाम की कोई वस्तु होती ही नहीं, तो हम व्यवहार-दशा में भी किसी को सत्य न कह सकते।

---

१. यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। –शा० भा० २।१।१६

भ्रान्ति किसी को, किसी में, किसी की, किसी कारण होती है, जैसे देवदत्त को, रस्सी में, साँप की, अँधेरे (झुटपुटे) के कारण भ्रान्ति होती है। देवदत्त न हो तो भ्रान्ति किसको होगी? रस्सी न हो तो साँप की भ्रान्ति किसमें होगी? साँप नाम की वस्तु कहीं न हो तो रस्सी में उसकी प्रतीति कैसे होगी? यदि झुटपुटा न होकर पूर्ण प्रकाश या पूर्ण अन्धकार नहीं होगा तो भी भ्रान्ति नहीं होगी। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं होगी तो यही कहा जाएगा कि ब्रह्म को ब्रह्म में, ब्रह्म की भ्रान्ति होगी, अज्ञान के कारण। दूसरे शब्दों में, स्वयं ब्रह्म अपने-आप को जगत् समझने की भूल करेगा। स्वयं ब्रह्म अपने स्वरूप को भूलकर कुछ का कुछ समझने लगता है—ऐसा मानना सर्वथा असंगत होगा। प्रकाश में वस्तु जैसी होती है वैसी ही दीखती है और अँधेरे में बिल्कुल कुछ नहीं दिखाई पड़ता। रस्सी का साँप तब दिखाई पड़ता है जब न पूर्ण प्रकाश होता है और न पूर्ण अन्धकार, बल्कि कुछ प्रकाश भी होता है और कुछ अन्धकार भी। भ्रम न सर्वज्ञ ब्रह्म को होता है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति को। वह अल्पज्ञ जीव को ही हो सकता है।

भ्रान्ति की प्रत्येक अवस्था में दो यथार्थ वस्तुओं का संकेत होता है—एक प्रस्तुत वस्तु का और एक स्मृत वस्तु का। एक को देखकर उसके समान दूसरी वस्तु का स्मरण होने से भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति का कारण अधूरी समानता होती है। अभावरूप पदार्थ तो सब समान हैं। रस्सी में साँप नहीं तो गाय, घोड़ा, बन्दर भी नहीं हैं। फिर, क्या कारण है कि रस्सी में साँप की ही भ्रान्ति होती है, गाय आदि की नहीं? स्पष्ट है कि रस्सी और साँप में सादृश्य होने और इस कारण रस्सी को देखने पर तत्सदृश साँप का ही स्मरण होता है, गाय आदि का नहीं। वर्तमान में जो कुछ हमारे सामने प्रस्तुत है, उसे देखकर उसमें जगत् की प्रतीति होने से भी स्पष्ट है कि जगत् नाम की वस्तु का अभाव नहीं है। ब्रह्म के सदृश न होने से उसे ब्रह्मरूप नहीं माना जा सकता।

यदि संसार सचमुच मिथ्या हो तो उस व्यक्ति को, जिसे उसके मिथ्या होने का ज्ञान हो चुका है, उसे उसकी विद्यमानता का आभास नहीं होना चाहिए। कोई भी समझदार व्यक्ति मदारी के तमाशे को देखकर भ्रमित नहीं होता। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने का ज्ञान और उसके यथार्थ न होने का ज्ञान एक-साथ नहीं रह सकते। भ्रम कभी-कभी किसी-किसी को होता है। इसलिए संसार की यथार्थताविषयक विश्वास की व्यापकता

को देखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि उसकी प्रतीति या भ्रान्ति अज्ञान के कारण है। संसार को बार-बार मिथ्या कहते जाने का क्या लाभ है जबकि कितना ही प्रयास करने पर भी हम उसका लोप नहीं कर सकते?

सृष्टि में विषमता

जगत् में सर्वत्र अनेकविध वैषम्य व्याप्त है। आत्माओं को लाखों योनियों में डाल रक्खा है। मनुष्य-योनि में भी सबके दैहिक रूप व सामर्थ्य में समानता नहीं है। एक आत्मा अत्यन्त सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता है और दूसरा दरिद्र की सन्तान होकर जीवन-भर दर-दर की ठोकरें खाता रहता है। ऐसा क्यों ? बाढ़, भूचाल, अग्निकाण्ड, महामारी आदि के कारण अनेक बार लहलहाते संसार में अचानक संहार का दृश्य उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार मनुष्य तथा अन्य प्राणी निर्दयता के साथ नष्ट कर दिये जाते हैं। ऐसी अवस्था में परमेश्वर वैषम्य और निर्दयता के दोषों से नहीं बच सकता। वह ऐसे जगत् का स्रष्टा नहीं हो सकता जिसमें कुछ के साथ अच्छा और कुछ के साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक लेख में लिखा था–

"निश्चय ही सृष्टि के मूल में कोई बड़ा दोष है जिसके कारण संसार में व्याप्त अव्यवस्था तथा दुःख के पीछे किसी प्रयोजनवत्ता के होने में सन्देह होने लगता है। आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने संसार में व्याप्त पीड़ा को देखकर सोचा था–'यह कैसे हो सकता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना करे और उसे दुःखी रक्खे ! क्योंकि वह यदि सर्वशक्तिमान् है और फ़िर भी संसार को दुःखी रहने देता है तो वह भला नहीं है, और यदि वह सर्वशक्तिमान् नहीं है तो वह ईश्वर नहीं है।'"[1]

१. There is something radically wrong with the world and one is led to doubt if there is any ultimate purpose behind this chaos and unhappiness. Two thousand and five hundred years ago the great Buddha saw this misery and in agony of spirit asked himself—

How can it be that Brahma
Would make a world and keep it miserable?
Since if all powerful He leaves it so
He is not good, and if not all powerful,
He is not God.

—*Promises to Keep*

वैदिक धर्म और भारतीय दर्शन के मूल तत्त्वों से अनभिज्ञ लोग ही ऐसी बात करते हैं। ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का तात्पर्य है कि वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को किसी अन्य की सहायता के बिना करने में समर्थ है।[1] अर्थात् ईश्वर के जो स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे–सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना, जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करना आदि, उनके करने में उसे किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं। किन्तु अपनी सीमा के बाहर अर्थात् अपने गुण, कर्म, स्वभाव तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर और जीव के स्वरूप को न समझने के कारण ही बुद्ध ने यह कह दिया कि या तो परमात्मा निष्पाप नहीं या सर्वशक्तिमान् नहीं। यदि दोनों होता तो सृष्टि में कहीं पाप न होता। वस्तुतस्तु यदि जीव को ईश्वर ने बनाया होता तो ऐसा होना सम्भव था। किन्तु जीव तो अनादि–अनुत्पन्न है। बाइबल का यह कथन मिथ्या है कि ईश्वर ने जीव को अपने–जैसा बनाया।[2] यदि अपने–जैसा बनाया होता तो जीव भी परमेश्वर की तरह शुद्ध एवं निष्पाप होता। तब वह पाप कभी करता ही नहीं। ईश्वर कभी नहीं चाहेगा कि उसकी प्रजा में कहीं कोई पाप करे, परन्तु पाप तो प्रत्यक्ष है। वास्तव में जीव की स्वतन्त्र सत्ता है; वह अपने स्वभाव से कर्म करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होने से जीव कभी–कभी पाप में प्रवृत्त हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है–"यदि ईश्वर सृष्टि को मनमाने ढंग से बना पाता तो उसमें कहीं भी बुराई न दीखती। किन्तु वह ऐसा जीवात्मा की स्वतन्त्रता को छीनकर ही कर सकता था। परमात्मा की सृष्टि में बुराई इसलिए है कि वह जीवात्मा की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।"[3] अन्यत्र उन्होंने लिखा है–"सृष्टि में स्वतन्त्र निर्णय लेने में जीव समर्थ हैं, इसलिए उन्हें प्रभावित तो किया जा सकता है, किन्तु सर्वथा वश में नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमात्मा तानाशाह नहीं है।"[4]

---

१. God is omnipotent, because there are no external limits to his power. —*Gita*, p. 25
२. God made man in his own image. —*The Bible*
३. If God had desired to create a world automata, there would have been no evil; for God would have eliminated evil, if he had so wished, by denying freedom of choice. God permits evil because he does not interfere with human choice. —*Brahmasutra*, p. 155
४. The world consists of active choosing individuals who can be influenced but not controlled. —*Commentary on the Gita*, Introductory Essay, p. 24

यह जगत् ईश्वर के संकल्प का परिणाम है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसने वैषम्य और नैर्घृण्य की सृष्टि स्वेच्छा से, अपनी प्रसन्नता के लिए की है। एक ऐसा ईश्वर जो आनन्दस्वरूप होता हुआ दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होता है, ईश्वर कहलाने का अधिकारी नहीं है। सच तो यह है कि परमात्मा प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि का सर्जन व संहार करता है। स्वभावतः आत्माओं की स्थिति समान है, मूलकारण की स्थिति भी समान है। अनन्त आत्माओं के अनन्त प्रकार के कर्म ही प्राकृत रचना की विलक्षणता में कारण बनते हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि "आत्मा के किये हुए धर्म-अधर्म के कारण शरीर नहीं हैं। शरीर का सम्बन्ध तो सिद्ध ही नहीं और धर्म-अधर्म आत्मकृत हैं, यह भी सिद्ध नहीं।"[1] परन्तु वही शंकर अन्यत्र मान लेते हैं कि "मनुष्य-जाति में जो विषमता पाई जाती है, उसका निर्णय जीवों के अपने कर्मों के आधार पर होता है। उसके लिए ईश्वर दोषी नहीं।"[2] शुभकर्म से सुख और पाप से दुःख प्राप्त होता है।[3] जीवात्मा पुण्यकर्म से उच्च योनियों को और पापकर्म से पापयोनियों को तथा दोनों शुभाशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्ययोनि को पाता है।[4] साधारणतया शरीरधारी जीवात्माओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है—देवता (जीवन्मुक्त) जो अनन्त सुख-भोग की अवस्था में हैं; मनुष्य जिनका भोग्य सुख-दुःख दोनों का मिश्रण है; और पशु जिनके भाग्य में अनन्त दुःख है। जब तक मोक्षलाभ नहीं होता, तब तक सूक्ष्म शरीर के साथ जीवात्मा शरीररूप में बना रहता है। इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों में वैलक्षण्य से संसार में वैषम्य है। सांख्यदर्शन में कहा है कि कर्मों की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है।[5] इसी प्रकार न्यायदर्शन में बताया है कि शरीर आदि कार्यजगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार हुआ करती है।[6]

---

१. तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न; शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद् धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। —शा० भा० १।१।४

२. सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मपेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। —शा० भा० २।१।३४

३. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। —बृहद्० ३।२।१३

४. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् । —प्रश्न० ३।७

५. कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्। —सांख्य० ६।४१

६. पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः। —न्याय० ३।२।६०

जीव जो कर्म करते हैं उनके फल की प्राप्ति हेतु उनमें एक प्रकार के संस्कार या बीजशक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उनको कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। जीव के शरीर तथा शरीरों द्वारा प्राप्त भोग अदृष्ट की प्रेरणा से होते हैं। जैसे भूमि में बोया हुआ बीज प्राकृतिक नियमों द्वारा वृक्षरूप होता हुआ कालान्तर में फल लाता है, इसी प्रकार कर्मों से उत्पन्न हुआ अदृष्टरूपी बीज ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार कालान्तर में सुख-दुःखरूपी फलों को प्राप्त कराता है। बीज का वृक्षरूप होना प्राकृतिक नियमों के अनुसार है जो दृष्ट है। कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट आचार-सम्बन्धी नियमों के अनुसार है।[१]

प्राणी कर्म तो स्वतन्त्रता से करता है, पर उनके कर्मों का फल उस अवस्था में भोगना नहीं चाहता जब वे उसके प्रतिकूल हों। इसलिए यह व्यवस्था ईश्वर के कार्यक्षेत्र में आ जाती हैं। जगत् की रचना तथा प्राणियों के कर्मफल-प्रदान का नियन्ता वही है। नानाविध कर्मों के यथायोग्य उपभोग के लिए उन्हीं के अनुसार जगत् की विविधता प्रकट होती और उपयोग में आती है। जगत् की रचना प्राणियों के लिए है, इसलिए परमात्मा ऐसी सृष्टि की रचना करता है जो उनके अनुकूल हो, पर इस अनुकूलता का नियमन उनके कर्मों के आधार पर होता है। वर्षा से पौधों को बढ़ने में सहायता मिलती है, किन्तु बढ़कर वे क्या बनेंगे, यह वर्षा पर नहीं, अपितु बीजों की प्रकृति पर निर्भर करता है। धरती, खाद, जलवायु आदि सबमें समानता होने पर भी गन्ने से गन्ना, मिर्च से मिर्च और आम से आम पैदा होते हैं। इसी प्रकार नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता का निर्णय जीवात्माओं के पूर्व-जन्मों के नैतिक गुणों के आधार पर होता है। सर्वज्ञ होने के कारण परमेश्वर प्रत्येक जीव के विषय में उसकी अल्पज्ञता, अल्पशक्ति, अन्तःस्थिति, परिस्थिति आदि के विषय में इतना जानता है जितना वह (जीव) स्वयं नहीं जानता। इस प्रकार परमात्मा की न्यायबुद्धि में आस्था रखने और कार्य-कारण-भाव को जाननेवाला व्यक्ति उसपर वैषम्य अथवा नैर्घृण्य का आरोप नहीं लगा सकता।

संसार में विषमता आदि की स्थिति जहाँ प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से है, वहाँ मूल उपादान-तत्त्वों का परस्पर वैलक्षण्य तथा उनका अनन्त विविधताओं के साथ अन्योन्य-मिथुनीभूत होकर सम्मिश्रण भी

---

१. देखें – वैशेषिक ५।१।१५, ५।२।२, ५।२।७, ५।२।१३, ५।२।१७, ६।२।२, ६।२।१३

प्राकृत जगत् की विलक्षणता अथवा विविधता में महान् कारण है। गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ होने पर ये गुण एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। गुणों की नानाविध प्रतिक्रिया के कारण जगत् में विविधता पाई जाती है। कार्यरूप जगत् की उत्पत्ति में तीनों गुण एक-साथ भाग लेते हैं। पारस्परिक प्रभाव तथा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होता है और वे परस्पर मिलते तथा पृथक् होते रहते हैं। सत्त्वादि सभी द्रव्य सहकारिभाव से सृष्टि करते हैं। सर्वत्र एक की प्रधानता और अन्य दो की सहकारिता रहती है। भोग की भावना से वह रचना प्राणियों के अनुकूल हो, इसलिए पृथिव्यादि भूतों, अन्न-तत्त्वों, ओषधि-वनस्पतियों आदि की रचना में उनके कर्म भी सहयोगी रहते हैं। परमात्मा केवल उनकी व्यवस्था करता है। इस प्रकार संसार की विलक्षणता में प्राणियों के नानाविध कर्मों के अतिरिक्त सत्त्व, रजस्, तमस् की विविध क्रियाओं का अर्थात् अन्योन्य-मिथुनता का विविध रूपों में उपस्थित होना भी कारण है। ये उपादानतत्त्व एक-दूसरे के साथ जितने रूपों में मिथुनीभूत होते हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलने के कारण पदार्थों में वैविध्य अनिवार्य है।

शरीर के सम्बन्ध और आत्मकृत धर्माधर्म के एक-दूसरे के आश्रित होने से अनवस्था-दोष की प्राप्ति उभरकर सामने आती है। जीवात्मा देहादि के सहयोग से कर्म कर सकता है, अन्यथा नहीं। प्रलयावस्था में जीवात्माओं के साथ शरीरों का अभाव रहता है, इसलिए देहादि का होना सर्ग के अनन्तर सम्भव है। प्रलयावस्था में देहादि के न होने से जीवात्माओं के कर्मों की संभावना नहीं। जब प्रारम्भ में ईश्वर ने सृष्टि की रचना की तो जीवों के पाप-पुण्य निर्णायक के रूप में विद्यमान नहीं थे। उस समय ईश्वर को ऐसे जगत् की रचना करनी चाहिए थी जो वैषम्य, दुःख और कष्ट से सर्वथा मुक्त होता। जितना यह सत्य है कि पाप व पुण्य कर्मों के बिना विभिन्न देहों व योनियों की प्राप्ति नहीं होती, उतना ही यह भी सत्य है कि बिना शरीर प्राप्त किये जीवात्मा पाप-पुण्य नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म होंगे तो फलस्वरूप शरीर मिलेगा और शरीर होगा तो उसके द्वारा कर्म होंगे। इस प्रकार दोनों के एक-दूसरे पर आश्रित होने से, अन्योन्याश्रित होने से अन्योन्याश्रय-दोष की प्राप्ति होगी।

कर्म और ईश्वर के एक-दूसरे में प्रवृत्ति उत्पन्न करने से भी

अन्योन्याश्रय-दोष उपपन्न होगा। यदि परमात्मा कर्मविधान के अनुसार कार्य करने को विवश है तो इसके द्वारा उस पर प्रतिबन्ध लग जाता है। मनुष्य का संकल्प ईश्वर की निरपेक्षता को सीमाबद्ध कर देता है, क्योंकि यदि ईश्वर कर्म का विचार करके तदनुसार कार्य करने को विवश है तो वह निरपेक्ष नहीं रहता। ईश्वर के स्वातन्त्र्य की रक्षा बिना कर्म-सिद्धान्त के निषेध के नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि कर्म अपना फल पाने के लिए ईश्वर के अधीन है अर्थात् कर्म-विधान ईश्वर पर निर्भर करता है तो कर्मों का क्या महत्त्व रह जाता है? ईश्वरेच्छा के बिना मनुष्य के कितने ही कर्म व्यर्थ रह जाएँगे। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहेगा, देगा; और जिसका नहीं देना चाहेगा, नहीं देगा। इससे कर्मफल सर्वथा ईश्वरेच्छा पर निर्भर हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर के कर्मों पर और कर्मों के ईश्वर पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय-दोष उपपन्न होता है।

परन्तु सृष्टि के प्रवाह से अनादि होने के कारण ये दोष उपपन्न नहीं होते। वर्तमान सृष्टि का आदि भी है और एक दिन अन्त भी होगा, क्योंकि संयोग से उत्पन्न होनेवाला कभी अनादि-अनन्त अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। जो संयोग से बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के पश्चात् नहीं रहता। संसार में पदार्थों का बनते-बिगड़ते रहना प्रत्यक्ष है। कठोर से कठोर पाषाण, हीरे या फौलाद को तोड़ने, गलाने या भस्म कर देने से स्पष्ट हो जाएगा कि वे सब परमाणुओं के संयोग से बने हैं। जो संयुक्त हैं वे समय पाकर पृथक्-पृथक् भी अवश्य होंगे। इसलिए जिन पृथिवी आदि पदार्थों की रचना संयोग-विशेष से हुई है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो अनादि नहीं, वे अनन्त भी नहीं हो सकते। अतः संयोगजन्य होने से इस सृष्टि का कभी न कभी विनाश अवश्यंभावी है। किन्तु जैसे वर्तमान संसार सदा बना नहीं रह सकता, वैसे ही सदा के लिए इसका उच्छेद भी नहीं हो सकता। प्रकृति का परिणाम होने से संसार परिणामी है। इस कारण वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। वे एक-दूसरी के अनन्तर आवर्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् कभी नहीं होता। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह सत् है तो **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** के सिद्धान्तानुसार वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा। परन्तु उसका वर्तमान में बना रहना आवश्यक नहीं। प्रत्येक दिन और रात्रि का अन्त देखने में आता है। किन्तु दिन के पूर्व रात और

रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न तो आदि है और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त तो होता रहता है, किन्तु सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न अन्त होगा। जैसी सृष्टि अब है, वैसी ही पहले होती थी और वैसी ही आगे रहेगी। जो अल्पज्ञ है और इस कारण जिसके ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है, उसी के काम में भूल-चूक हो जाने से उसे उसमें उत्तरोत्तर संशोधन-परिवर्धन करते रहना पड़ता है। परमेश्वर के निर्भ्रान्त और पूर्ण होने से उसके सभी कार्य पूर्ण व निर्दोष होते हैं, अतः वे सदा एक-जैसे होते हैं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाए तो ईश्वर में सृष्टि के कर्तृत्व आदि गुणों का अभाव हो जाए। इसलिए जैसे जगत् के तीन कारण–ईश्वर, जीव और प्रकृति–स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके गुण, कर्म, स्वभाव (ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्वादि और उसका कर्म-फलभोक्तृत्वादि) आदि हैं वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं।

सृष्टि को प्रवाह से अनादि मानने पर 'आद्य' कर्म का प्रश्न नहीं उठता। जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं। अनादि काल से वे कर्म करते और फल भोगते चले आ रहे हैं। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना–यह क्रम अनादिकाल से चालू है। प्रत्येक जन्म अपने भीतर किसी न किसी पूर्वजन्म के स्वरूप को धारण करता है। समय-समय पर होनेवाली सृष्टि-रचनाओं तथा विलय की अवस्थाओं में भी कर्म का विधान देखा जाता है। इसलिए यह कहना कि सर्ग से पूर्व जीवात्माओं के कर्म सम्भव नहीं, सर्वथा असंगत है। जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, वे समाप्त हो जाते हैं। शेष वासना-रूप से अथवा धर्माधर्म-संस्कार-रूप से जीवात्माओं में अवस्थित रहते हैं और अगले जन्म का कारण बनते हैं। जब तक कर्म का फल भोग नहीं लिया जाता तब तक वह बना रहता है।[1] इसलिए यदि सर्ग के अन्त में कुछ अनुपभुक्त कर्म शेष रह जाते हैं तो उन्हें भोगने के लिए जीवात्माओं को आगामी सर्ग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। किसी एक सर्ग से पूर्व प्रलय-दशा

---

१. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

में गत सर्ग-अवस्था में किये गए कर्मों का अस्तित्व आत्मा में बना रहता है। उन्हीं को भोगने के लिए जीवात्माओं को अगले सर्ग में शरीर धारण करना पड़ता है।

आत्माओं का विभिन्न देहों के साथ सम्बन्ध कर्मों के बिना सम्भव नहीं तथा देहादि बिना कर्म सम्भव नहीं। वस्तुतः कर्म और देहादि-सम्बन्ध का क्रम बीज-अंकुर के समान सदा से चला आ रहा है। बीज से अंकुर बनता है और अंकुर वृक्ष बनकर पहले के समान अन्य बीजों को उत्पन्न करता है। ये बीज अन्य समान वृक्षों को उत्पन्न करते हैं। आत्मा के कर्म देह के साथ सम्बन्ध का कारण बनते हैं। वह देह-सम्बन्ध अन्य कर्मों का साधन बनता है। इसलिए चालू संसार की रचना से पहले आत्माओं के कर्मों का माना जाना आवश्यक है, अन्यथा सर्ग के आदि में विभिन्न देहों के साथ आत्मा का सम्बन्ध निर्निमित्तक हो जाएगा। कर्मों से पूर्व देहादि-सम्बन्ध मानना होगा, क्योंकि इसके बिना कर्मों का होना सम्भव नहीं। इस प्रकार चालू सर्ग से पहले संसार का होना, आत्माओं का देहादि-सम्बन्ध और उनके कर्मों का होना निश्चित होता है। फलतः इन सब को अनादि मानना युक्तियुक्त है। यह क्रम अनादि है, इसलिए इसमें अनवस्था-दोष नहीं आता। अनुपयुक्त, अवशिष्ट कर्म आनेवाली सर्गरचना में वैषम्य और तथाकथित नैर्घृण्य का कारण बनते हैं।

संसार में प्रत्यक्ष वैषम्य तथा नैर्घृण्य-दोष का परिहार आद्य शंकराचार्य भी संसार के अनादित्व के आधार पर ही करते हैं। वे कहते हैं—"संसार अनादि है, इसलिए यह दोष नहीं है। यदि संसार का आदिमान होता तो दोष आ सकता था। अनादि संसार में कर्म और सृष्टि के वैषम्य में विरोध नहीं आता। बीज से अंकुर होता है, अंकुर से बीज।"[१]

प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यकर्म का अधिकार है। प्राप्त अधिकार में बाधा पड़ने पर ही किसी की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचता है। विधान के अनुसार कार्य करने से ईश्वर की निरपेक्षता का व्याघात नहीं होता। फलसिद्धि के लिए कर्मों की अपेक्षा अनिवार्य है और उनका नियमन ईश्वर के अधीन है। यदि ईश्वर कर्मों की अपेक्षा से फल देता है तो इसमें अन्योन्याश्रय-दोष कहाँ है? सृष्टि की रचना ईश्वर के

---

१. नैष दोषः अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजांकुरवद्धेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते। —शा० भा० २।१।३५

अधीन केवल उन नियमों के अनुसार रही जिनका निर्माता वह स्वयं है। इस प्रकार उसकी निरपेक्षता भी अक्षुण्ण रहती है और वह वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषों से भी मुक्त रहता है।

सुख-दुःख-विवेचन

साधारण बुद्धि रखनेवाला मनुष्य भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[1] यदि ईश्वर तात्त्विक रूप से स्वतन्त्र है तो उसे सृष्टिरचना के लिए कोई विवश नहीं कर सकता। ईश्वर के पक्ष में किसी प्रयोजन का निर्देश करने से उसकी पूर्णता से विरोध होता है। यदि इस जगत् की उत्पत्ति किसी प्रयोजन से हुई है, अथवा वह रचयिता की किसी इच्छा को व्यक्त करती है, अथवा किसी अभाव की पूर्ति करती है तो इसका अर्थ होगा कि उसके अन्दर किसी वस्तु की आवश्यकता का भाव है, क्योंकि अप्राप्त को प्राप्त करने अथवा प्राप्त की रक्षा करने की भावना का नाम इच्छा है। इच्छा ही मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करती है। सृष्टि की रचना तो ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। दिव्य लोक-लोकान्तरों की रचना के अवसर पर ईश्वर ने सब लोकों का निर्माण इस प्रकार किया है जैसे कोई शिल्पी कार्य करता है। बिना किसी प्रयोजन के इस प्रकार की रचना का कोई अर्थ नहीं।

परन्तु परमेश्वर में किसी प्रकार की अपूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती, न ही उसकी कोई अतृप्त इच्छा है। जगद्रचना में उसका कोई स्वार्थ सम्भव नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे अकाम, आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप कहा गया है।[2] इसलिए ईश्वर के पक्ष में किसी प्रकार के प्रयोजन का निर्देश नहीं किया जा सकता। उसमें उसके किसी प्रयोजन को खोजना उसके स्वभाव और उसकी पूर्णता को चुनौती देना है। वास्तव में जगन्नियन्ता परमेश्वर का यह स्वभाव है कि वह जगत् के जन्मादि में प्रवृत्त होता है। सृष्टिरचना का उद्देश्य पूर्व-जन्मों में किये कर्मों के फलोपभोग के लिए समुचित सामग्री प्रस्तुत करना है। परन्तु स्वयं परमेश्वर तो क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से सर्वथा अछूता है।[3] जिसे फलोपभोग की अपेक्षा नहीं उसके लिए जगत् किस काम का ?[4] इन्द्रियविहीन प्रकृति

१. न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते।
२. अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः। —अथर्व० १०।८।४४
३. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —योग १।२४
४. आप्तकामस्य का स्पृहा?

परार्थ है, क्योंकि अचेतन प्रकृति स्वयम् अपना भोग्य नहीं हो सकती।

अपने या पराए हित की प्राप्ति अथवा अहित का परिहार प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है। अपना और पराया-भेद से प्रयोजन दो प्रकार का होता है। कुछ पुरुषार्थ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा सुख-समृद्धि के लिए करता है और कुछ दूसरों के हित के लिए। परोपकारप्रिय चेतन स्वभाव से परहित-निरत होता है। अनेक निरीह, निष्काम एवं निःस्पृह व्यक्ति दूसरों की सुख-सुविधा के लिए कार्य में प्रवृत्त होते हैं। वहाँ उनका निजी प्रयोजन प्रायः कुछ नहीं रहता। जहाँ लोग अपने रहने के लिए मकान बनवाते हैं, वहाँ दूसरों के लाभ के लिए धर्मशालाओं का भी निर्माण करवाते हैं। जहाँ लोग अपने लिए अपने घर में नल लगवाते या कुआँ खुदवाते हैं, वहाँ राजमार्गों और सार्वजनिक स्थानों पर दूसरों की प्यास बुझाने के लिए भी कुएँ बनवाते हैं। सार्वजनिक औषधालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों आदि के बनवाने में भी लोग इसी भावना से प्रवृत्त होते हैं। उनका ऐसा स्वभाव-सा बन जाता है—**परोपकाराय सतां विभूतयः।**

अपने स्वार्थ के अभाव में प्राणियों की भलाई ही जगद्रचना में ईश्वर का प्रयोजन है। सांख्यदर्शन के अनुसार **'संहतपरार्थत्वात्'** सृष्टि की रचना परार्थ=दूसरों के लिए है। निश्चय ही पूर्ण एवं आप्तकाम परमेश्वर से भिन्न कोई अपूर्ण चेतन-सत्ता ही उसकी भोक्ता हो सकती है। परमात्मा से भिन्न ऐसी चेतन-सत्ता जीवात्माएँ हैं। जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग और अपवर्ग का सम्पादन करता है। प्रकृति में यह सामर्थ्य नहीं कि वह जीवों के हिताहित का विचार करके तद्नुसार अपने को प्रवृत्त कर सके। परन्तु उसमें ओत-प्रोत एक ऐसी शक्ति है जो इस कार्य को करने में समर्थ है। वह शक्ति चेतन ब्रह्म है। ईश्वर की प्रेरणा से और उसके निर्देशन में प्रकृति सर्वतोभावेन जीव के लिए प्रवृत्त रहती है। ईश्वर प्रकृति का प्रेरकमात्र है। इस प्रवृत्ति में उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। उपभोक्ता दूसरे चेतन आत्मा हैं। उन्हीं के हितार्थ जगद्रचना की गई है। भूतानुग्रह की भावना ही ईश्वर का प्रयोजन है।

परन्तु संसार में व्याप्त दुःख को देखते हुए यह कैसे माना जा सकता है कि परमात्मा ने जीवात्माओं पर अनुग्रह किया है? यदि जीवात्माओं पर अनुग्रह की भावना से ईश्वर जगत् की रचना करता तो उसे सुखमय बनाता । पर संसार में सुख कहाँ ? जिधर देखो दुःख ही दुःख है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं। सारा

जीवन त्रिविध दुःखों (आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक) से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष करने में व्यतीत हो जाता है। दुःख न होता तो कपिलमुनि ऐसी बात क्यों कहते?[१] एक दुःख से मनुष्य छूट नहीं पाता कि दूसरा सामने आ खड़ा होता है।[२] बौद्धमत में विश्व के आधारभूत पाँच स्कन्ध माने हैं। ये पाँचों स्कन्ध दुःखात्मक हैं। इसीलिए बौद्ध तथा बौद्धों की भाँति अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक संसार को दुःखरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। संसार में दुःख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। परन्तु आनन्दस्वरूप परमात्मा की सृष्टि में दुःख ही दुःख हो, सुख कहीं हो ही नहीं—यह कैसे सम्भव है? सुख-दुःख सापेक्ष होने से सुख का अस्तित्व माने बिना दुःख की कल्पना नहीं की जा सकती । मनुष्य का स्वभाव है कि वह सुख को बड़ी जल्दी भूल जाता है, जबकि दुःख की स्मृति देर तक बनाए रखता है। सुख में बीते महीने क्षण-भर में बीत गए लगते हैं, किन्तु दुःख की एक रात बहुत लम्बी जान पड़ती है। वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का अंश रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है। अतः अपवर्ग की अपेक्षा भोग हेय है और भोग की अपेक्षा अपवर्ग ग्राह्य है। ऐसा जानकर और 'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्' के सिद्धान्त को मानकर, भोग को अपवर्ग के साधन-रूप में अपनानेवालों के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष है और इसका उपाय है विवेकख्याति, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार । इस प्रकार दुःख का कारण संसार नहीं, अपितु उसके यथार्थ स्वरूप को न समझना है। परमात्मा ने तो संसार की अनन्त विभूतियाँ जीवात्मा के लिए प्रस्तुत कर दी हैं। आत्मा का यह अपना प्रयास है कि वह उनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। सुख-दुःख तो आत्मा की अपनी कमाई है। उसे परमात्मा पर आरोपित करना अपने-आपको धोखे में रखना है।

जीवात्मा की संसार में प्रवृत्ति होने से भी संसार में सुख का अस्तित्व सिद्ध है। प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमें प्रवृत्त होता और दुःख जानकर उससे विरत होता है। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है।

---

१. त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। —सांख्य १।१

२. एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे.................. ॥ —हितोपदेश १।१९३

कोई व्यक्ति संसार को छोड़ना नहीं चाहता। सर्वथा दुःखी रहनेवाला व्यक्ति भी यहाँ बना रहना चाहता है। जीवों में जीने की लालसा बड़ी बलवती होती है।[1] इन्द्रपद के बदले भी मनुष्य शरीर का परित्याग करना नहीं चाहता।[2] जहाँ शरीर दुःखों का कारण है, वहाँ सुख और आनन्द की प्राप्ति का साधन भी है। मानव-शरीर प्राप्त होने पर ही जीवात्मा उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है जिनके फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। यदि संसार में दुःख ही दुःख होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करते रहने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री जुटाने के लिए आवश्यक साधनोपायों के चिन्तन में सदा प्रवृत्त रहता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने तथा असह्य पीड़ा अनुभव करने पर भी येन केन प्रकारेण मौत को भगाकर कुछ और काल तक यहाँ बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि उसे विश्वास है कि संसार में दुःख की तुलना में सुख की मात्रा कहीं अधिक है।

ईश्वर की दयालुता और न्यायप्रियता में सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में दुःख अकारण-निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। कार्य-कारण-सम्बन्ध त्रिकालाबाधित है। दुःख भी न अकारण हो सकता है और न निष्प्रयोजन। कर्म में प्रवृत्त होना जीवात्मा का स्वभाव है। कर्म शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी। उचित-अनुचित, सराहनीय-निन्दनीय, धर्म-अधर्म वस्तुतः शुभ-अशुभ के ही पर्याय हैं। धर्म में प्रवृत्त होने और अधर्म से विरत होने की प्रेरणा होना ईश्वरीय व्यवस्था है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी शुभ कर्मों के निमित्त प्रोत्साहन देने और अशुभ कर्मों के प्रति निरुत्साहित करने के लिए क्रमशः दण्ड और पुरस्कार दिया जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था में वह सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होता है। दोनों का प्रयोजन एक है—मनुष्य का कल्याण। सुख-दुःख आदि के रूप में कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उसके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय होता है। जैसे रोगग्रस्त होने पर रोगी यह अनुभव करता है कि यह किसी न किसी कुपथ्य का परिणाम है, वैसे ही संसार में व्याप्त

---

१. अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा बलीयसी।
२. देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदमपि न वाञ्छति।

सुख-दुःख और विषमता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं, अपने-आपको या दूसरों को दुःखी देखकर और इसका कारण अशुभ कर्मों को जानकर मनुष्य को दुष्कर्मों से दूर रहकर सत्कर्मों में प्रवृत्त होने से सहायता मिलती है। यदि सबको समानरूप से सुखी रक्खा जाए तो कृतहानि तथा अकृताभ्यागम-दोष आने से ईश्वर की न्याय-व्यवस्था दूषित होगी। परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। इसलिए मनुष्य का हित इसी में है कि जहाँ उसे शुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख की उपलब्धि हो, वहाँ दुष्कर्म करने पर दुःख के रूप में समुचित दण्ड मिले।

□□

विकासवाद

भारत के इतिहास में विकृतियों का एक प्रमुख कारण विकासवाद या सतत प्रगतिवाद का भ्रामक मत है। आधुनिक काल में विकासवाद एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों ही विचारधाराओं में उसका प्रवेश हो गया है। वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता दी जाती है, और ऐतिहासिक विचारधारा में मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में विकासवाद को आधार माना जाता है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

विकासवाद के अनुसार प्राणी अथवा जीवन-तत्त्व का प्रथम आविर्भाव जलों में उद्भिज्ज के रूप में हुआ। पहले जल-मिट्टी-वायु आदि के संयोग से एक प्रकार की सूक्ष्म काई बनी। उसी से पुनः जल-वायु का विलक्षण प्रभाव प्राप्त कर समस्त जलीय तथा पृथिवी के तृण, वीरुध, लता, गुल्म, ओषधि, वनस्पति तथा विविध वृक्षों आदि का क्रमशः विकास हुआ। कालान्तर में इसी मूल जीव-बीज से सर्वप्रथम जल में ही एक दूसरी जीवन-शाखा चली। आरम्भ में अमीबा (Amaeba, एक कोश का प्राणी) की भाँति के सूक्ष्म जलजन्तु हुए। धीरे-धीरे जलीय कीट, मछली, मेंढक, कछुआ, वराह, रीछ, बन्दर, बनमानुष आदि विभिन्न प्राणिस्तरों को पार करता तथा विकसित होता हुआ मनुष्य बन गया। आदिकालीन एक कोश के प्राणी से मनुष्य तक पहुँचने के लिए मध्य में जीवन के न जाने कितने स्तर पार किये गए। तब कहीं लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य अपने वर्त्तमान रूप में आया।

इस विचार के अनुसार यदि हम मनुष्य की उत्पत्ति एक करोड़ वर्ष पूर्व मानें और हैकल की 'History of Creation' के पृष्ठ २९५ में लिखी हुई प्राणियों की कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष का समय दें, तो प्रथम प्राणी की उत्पत्ति से

मनुष्य की उत्पत्ति तक लगभग बाईस करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' में डॉक्टर गैडो (Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीतीं।' इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं। कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है। यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव को आज २५ करोड़ वर्ष होते हैं। यह भी माना जाता है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २५ करोड़ वर्ष हो गए। इस प्रकार यह अवधि विकासवादियों की निश्चित की गई अवधि (दस करोड़ वर्ष) से बहुत आगे निकल गई है।

आद्यकालिक प्राणिरचना को क्रमिक विकास के सिद्धान्त पर माननेवाले विद्वानों ने इस बात पर विचार किया है कि एकमात्र मूल से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर विभिन्न योनियों के रूप में जीवन कैसे पहुँच जाता है। उनका कहना है कि प्राणी की इच्छा और अवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके विकास और परिवर्तन का कारण बनती हैं। प्राण-रक्षा की भावना प्राणिमात्र में नैसर्गिक है। उस भावना से विवश होकर प्राणी को जो क्रिया बारम्बार करनी पड़ती है, धीरे-धीरे उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और फिर धीरे-धीरे क्रिया को करने में समर्थ अंग का विकास हो जाता है। दूसरी ओर प्राणरक्षा के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती, उसका अभ्यास नहीं रहता। अभ्यास न रहने से वह अंग अशक्त हो जाता है और अन्त में एक दिन उसका लोप हो जाता है। भोजन के लिए प्रयत्न तथा प्राकृतिक संघर्ष एवं शत्रुओं से रक्षा के लिए प्राणी को अनेक परिवर्तनों में से गुज़रना पड़ता है। उनमें से जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना सके वे बच गए। जो उन संघर्षों में अपने को आवश्यकतानुसार परिवर्तित न कर सके वे नष्ट हो गए। इन्हीं कारणों से शरीर में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा और प्राणी विभिन्न योनियों में बँट गया। आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा तथा उसको पूरा करने के लिए किये गए चिरकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप होनेवाले आकृति-परिवर्तन के उदाहरण के रूप में अफ्रीका के मरुदेश में पाए जानेवाले लम्बी गर्दनवाले जिराफ़ नामक पशु का उल्लेख किया जाता

है। कहते हैं, यह पहले ऐसा नहीं था, जैसा आज देखा जाता है। जिराफ़ ने जब वृक्षों पर नीचे के पत्ते खा लिये तो ऊपर के पत्ते खाने की इच्छा हुई। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह गर्दन उठा-उठाकर प्रयत्न करने लगा। चिरकाल तक ऐसा करते रहने से उसकी गर्दन लम्बी हो गई।

परन्तु परिस्थिति के अनुरूप आवश्यकतावश आकृति-परिवर्तन की मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। बकरी जब नीचे के पत्ते चुग लेती है तब तने पर या टहनियों पर अगले पैर टिकाकर पत्ते चुग लेती है। लाखों वर्षों से वह इसी तरह अपना पेट भरती आ रही है। परन्तु आज तक न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ, और न उसके लिए चारे की कमी हुई। यहाँ यह भी विचारणीय है कि गर्दन बढ़ाने के बजाय जिराफ़ में बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति का विकास क्यों नहीं हुआ? न जाने कब से मनुष्य उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैण्ड जैसे शीतप्रधान देशों में बसा हुआ है, किन्तु शीत से बचने की इच्छा तथा आवश्यकता के होते हुए भी उसके शरीर पर रीछ जैसे बाल पैदा नहीं हुए। इतना ही नहीं, जैसे लम्बे बाल राजस्थान की तपती मरुभूमि में रहनेवाली भेड़ के होते हैं वैसे ही हिमालय के शीतप्रधान देश में रहनेवाली भेड़ के होते हैं। अफ्रीका के अति उष्ण प्रदेशों में दीर्घरोमा रीछ और रोमरहित गैंडा एक-साथ रहते हैं। अपने ही देश में एक-जैसी परिस्थिति में रहनेवाली गाय और भैंस में इसके विपरीत अन्तर देखा जाता है। भैंस का चर्म पतला, चिकना और लघु-रोम होता है। इसके विपरीत गाय का चर्म अपेक्षाकृत कठोर और चर्मबहुल होता है। विकासवाद के अनुसार आत्मरक्षा की भावना के कारण हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक प्रकार के जंगली पशुओं में नर के सींग होते हैं, मादा के नहीं। क्या आत्मरक्षा के लिए सीगों की आवश्यकता नर को ही होती है, मादा को नहीं? जंगली पशुओं की अपेक्षा मनुष्य द्वारा पालित व सुरक्षित गाय-भैंस आदि को कम खतरा होता है, फिर क्या कारण है कि उनमें नर-मादा दोनों के सींग होते हैं? फिर, कोयल के मधुर कण्ठ और मोर के सुन्दर पंखों का प्राणरक्षा से क्या सम्बन्ध है? फिर भी ये दोनों गुण अपने-अपने स्थान पर विद्यमान हैं। कौए को क्या अपनी काँ-काँ अच्छी लगती होगी और मोर के सुन्दर पंख देखकर क्या मोरनी को ईर्ष्या नहीं होती होगी?

भाई और बहन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं और बढ़ते

हैं। पर बहन के मुँह पर दाढ़ी-मूँछ का नाम भी नहीं होता। हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में रहते हैं, पर हथिनी के मुँह में बाहर को निकले बड़े दाँत नहीं होते। 'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और' हाथी पर ही लागू होता है, हथिनी पर नहीं। मोर और मयूरी और इसी प्रकार मुर्गा और मुर्गी एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते, पलते और बढ़ते हैं, पर मयूरी और मुर्गी के वे सुन्दर पर और कलगी नहीं होते जो मोर और मुर्गे के होते हैं।

भारत में व्याघ्र, सिंह व हाथी होते हैं, पर इंगलैण्ड आदि देशों में नहीं होते। जिराफ़ अफ्रीका में, कंगारू आस्ट्रेलिया में और मोर भारत में होता है। यूरोपवासियों द्वारा वहाँ पहुँचाए जाने से पहले आस्ट्रेलिया में खरगोश नहीं होता था। स्पष्ट है कि जब तक कोई प्राणी कहीं न पहुँचे और सन्तति का विस्तार न करे, तब तक कोई प्राणी आप-ही-आप वहाँ पैदा नहीं होता।

मनुष्यों को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उनके बालों में, पैदा होने से मृत्युपर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है, परन्तु न चाहते हुए भी मनुष्य के बाल रंग बदलते रहते हैं। जितने पशु हैं, पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। मनुष्य का तथाकथित पूर्वज बन्दर भी पैदा होते ही तैरने लग जाता है। यहाँ तक कि राजस्थान की वह भैंस भी, जिसने जीवन में कभी तालाब के दर्शन भी कभी नहीं किये होते, अवसर मिलने पर झट तैरने लग जाती है। परन्तु सदा नदी या समुद्र के तट पर रहनेवाला मल्लाह का बेटा भी तैरना सीखे बिना तैर नहीं सकता। प्राणरक्षा की भावना के होते हुए भी जंगली मनुष्यों के सिर में सींग नहीं निकले और न नदी के किनारे रहनेवाले लोगों में स्वतः तैरने की शक्ति का विकास हुआ। अनादि काल से कछुआ पृथिवी पर चलता आ रहा है, किन्तु उसके पेट की कोमलता में अन्तर नहीं आया। दूसरी ओर उसकी पीठ पत्थर की तरह कठोर है, जबकि वह एक दिन भी धरती पर रगड़ी नहीं गई। विकासवाद के अनुसार इसके विपरीत होना चाहिए था। प्राणिमात्र में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह प्रवृत्ति पतंगे में भी होनी चाहिए। दीपशिखा के सम्पर्क में आते ही वह जल जाता है। न जाने कब से जलता आ रहा है, परन्तु उसने कभी भी उससे बचने का प्रयास नहीं किया; इसके लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न भी न करना पड़ता। दीपशिखा से

तनिक दूर रहने का अभ्यासमात्र करना था। किन्तु लाखों-करोड़ों वर्षों में वह इतना भी नहीं कर पाया।

मनुष्य को विकासक्रम में अन्तिम-श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है। तब मनुष्य की तुलना में चींटी-जैसे क्षुद्र प्राणी को वर्षा का और कुत्ते जैसे निकृष्ट प्राणी को भूकम्प का पूर्वानुमान कैसे हो जाता है? प्रशासनिक योग्यता की दृष्टि से मधुमक्खी को आदर्श क्यों माना जाता है? प्रत्येक प्राणी अधिक से अधिक काल तक जीना चाहता है। विकास के किसी भी स्तर पर उसने इस इच्छा का परित्याग नहीं किया होगा। तब, मनुष्य की अपेक्षा कहीं निम्न स्तर के प्राणी कछुआ, साँप आदि क्यों दीर्घजीवी होते हैं? थोड़े काल में अधिक मार्ग तय करने के लिए मनुष्य मोटरों, वायुयानों आदि का आविष्कार और विकास कर रहा है। तब, उसने चीते की तेज़ गति को छोड़ना कब चाहा होगा? कुत्ते की घ्राणशक्ति और गृध्र की दूरदृष्टि को भी उसने जानबूझकर खोना कभी नहीं चाहा होगा। अनुपयोगी जानकर उसने उनकी उपेक्षा कर दी होती तो आज अपराधियों को पकड़ने के लिए कुत्तों की सहायता क्यों लेता?

छोटी-सी चिड़िया बया जैसा सुन्दर घर बनाता है, वैसा मनुष्य से केवल एक पीढ़ी नीचे माना जानेवाना बन्दर नहीं बना सकता। पर यह भी सत्य है कि जैसा घर वह लाखों-करोड़ों वर्ष पहले बनाता था, आज भी वैसा ही बनाता है। मकड़ी जाला बनाती है। मधुमक्खी छत्ता बनाती है और फूलों से पराग लाकर और उसे मधु बनाकर उसमें एकत्र करती है। किन्तु इन्होंने ये कलाएँ किसी से सीखीं नहीं; ये उनके अपने आविष्कार भी नहीं हैं। उन्होंने अपनी ये कलाएँ अन्य प्राणियों को सिखाईं भी नहीं। जिसको जो आता है और जैसा आता है, वह उसे उसी रूप में करता आ रहा है।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करने चाहे। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा करता रहा। पर बिना पूँछ के चूहे पैदा न हुए। हिन्दुओं के लड़के-लड़कियाँ लाखों वर्षों से कान छिदवाते आ रहे हैं; हज़रत इब्राहीम के समय से यहूदी और मुसलमान खतना कराते आ रहे हैं; चीनी स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटे करने का प्रयास कर रही हैं। परन्तु न हिन्दुओं के घरों में कनछिंदे बच्चे पैदा हुए, न मुसलमानों के यहाँ खतना की हुई सन्तान पैदा हुई और न चीनी घरों में छोटे पैरोंवाली लड़कियाँ पैदा हुईं।

मोटर आदि का विकासक्रम में उपलब्ध अन्तिम रूप (Latest Model) ही बनता है। जब मनुष्य-जैसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी तैयार हो गया तो निचले स्तर के सभी पशु-पक्षियों का सर्वथा लोप हो जाना चाहिए था। परन्तु हम देखते हैं कि आज भी मछली से मछली, भेड़ से भेड़ और कुत्ते से कुत्ते ही पैदा हो रहे हैं। यहाँ तक कि जिस बन्दर से मनुष्य बना कहा जाता है, उससे भी बन्दर ही पैदा हो रहे हैं, मनुष्य नहीं। फिर, विकास तो विकास है, उसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं आ सकती; तो फिर, विकास का क्रम कैसे रुक गया ? मनुष्य से आगे अन्य कुछ क्यों नहीं बना?

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जो विकास-वाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के व्यतिक्रम को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः जो योनियाँ जिस प्रकार की हैं, वे सदा से वैसी ही हैं और भविष्य में वैसी ही बनी रहेंगी। आवश्यकता, तन्मूलक इच्छा, अभ्यास एवं वातावरण या परिस्थिति के कारण उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में अनेक जातियाँ नष्ट भले ही हो जाएँ, पर उनमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता जो उनकी नैसर्गिक जाति को बदल डाले। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि आदिम मनुष्यों ने हीन-मस्तिष्क प्राणियों से विकसित होकर उन्नति नहीं की, प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत एवं विकसित थे।

विज्ञान कहता है कि सर्वप्रथम एक कोश का प्राणी हुआ; पर इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया कि एक कोश का प्राणी कैसे हो गया? अमीबा नाम का प्राणी एक कोश का देह है। ठीक वही देह अनेकानेक संख्या में मिलकर अन्य अनेक कोशयुक्त प्राणिदेह की रचना करते हैं—ऐसा विज्ञान के लिए भी सिद्ध करना कठिन है। यदि एक कोश का प्राणी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा, जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल (Cell) का अमीबा उत्पन्न हो सकता है, उसी शक्ति से मनुष्य-शरीर की रचना होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉक्टर बीरबल साहनी से पूछा गया—"आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-बड़े प्राणी बन गए। आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा ज्ञान था, धीरे-धीरे उन्नति होते हुए ज्ञान उस अवस्था को पहुँच गया जिसको

विज्ञान आज पहुँचा हुआ है। तब आप यह तो बताइये कि—"Wherefrom did life come in the very beginning and wherefrom did knowledge come in the very beginning?" अर्थात् "प्रारम्भ में जीवन कहाँ से आया और प्रारम्भ में ज्ञान कहाँ से आया? क्योंकि जीवन शून्य से उत्पन्न हो गया, यह नहीं माना जा सकता।" डॉक्टर साहनी ने उत्तर में कहा—"इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन या ज्ञान कहाँ से आया। हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में कुछ जीवन भी था और कुछ ज्ञान भी था—With this we are not concerned as to wherefrom life came in the very beginning or wherefrom knowledge came in the very beginning. We are to take it for granted that there was some life in the beginning of the world and there was knowledge also in the beginning of the world and by slow progress it increased." इससे स्पष्ट है कि विकासवाद, जिसका इतना शोर है और जिसे अर्धशिक्षित जन अन्तिमेत्थम् के रूप में मानते चले जा रहे हैं, युक्ति के सामने नहीं ठहर सकता। सच तो यह है कि जब जड़ पदार्थों में स्वयं-संचालन (self direction) तथा सम्प्रयोग (co-ordination) की शक्ति है ही नहीं, तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार अरबों वर्षों में भी जड़ परमाणुओं में इस प्रकार संचालन कि अन्ततोगत्वा जीवित प्राणियों का विकास हो सके, असम्भव है। इसी प्रकार यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन-शक्ति के साहचर्य से होता है, तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है।

मानव-बुद्धि जड़ होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। उसे आरम्भ में गुरु-ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है। मनुष्य-योनि की यही विशेषता है। इसी व्यवस्था में मनुष्य-योनि की सार्थकता है। यही ऐसी योनि है जिसमें रहकर जीव को विकास का अवसर मिलता है। परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता; समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है। इसी को लक्ष्य कर शास्त्रों में कहा है—**'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'**—अर्थात् माता, पिता तथा आचार्य की सहायता

से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

अफ्रीका में गृहीतजन्म हब्शीपुत्र को इंगलैण्ड में लाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर उसका पालन-पोषण किया जाए तो वह अंग्रेजों की भाँति व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज बालक को अफ्रीका के किसी हब्शी के घर में रखकर पालन-पोषण किया जाए तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा। गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बँगला बोलता है। इस सब का कारण यही है कि जहाँ जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है, वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है। जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े-से बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता ।

स्वाभाविक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से पीछे है। पशु को तैरना सिखाना नहीं पड़ता, परन्तु तैरने की कौन कहे, जब तक अँगुली पकड़कर चलाया न जाए तब तक मनुष्य का बालक चल भी नहीं सकता।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, किन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए अध्यापक के पास जाना पड़ता है। यदि मात्र स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े ही कभी-न-कभी गणित या व्याकरण का आचार्य, डॉक्टर, इंजीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता। परन्तु अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, हज़ारों-लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में भी सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, सन्थाल, नागा आदि जातियाँ आज तक असभ्य बनी हैं। कौन कह सकता है कि उनमें चेतना या संवेदना का सर्वथा अभाव है? यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति कर सकता तो उनकी दशा अब तक ज्यों की त्यों क्यों बनी रहती? दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े क्षेत्रों में पहुँचकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते चले जाते हैं। जो काम स्वतः लाखों वर्षों में न हो पाया, प्रयत्न करने पर वह कुछ ही वर्षों में हो गया।

समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो,

समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसीलिए यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह सर्वथा अज्ञ रह जाएगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर जो परीक्षण किये गए हैं उनसे यही पता चला कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानव-समाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। आकृति के सिवा उस मानव-शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जन्म के तत्काल बाद से भेड़ियों की माँद में पलनेवाले रामू और कमला की कहानी तो देशभर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की भाँति चारों हाथों-पैरों से चलते थे, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाते थे और बोलने के नाम पर उन्हीं की तरह गुर्राते थे। मानव-समाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गए थे।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन तथा आत्मसंरक्षण-विषयक पशु-जगत् का कार्य नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है; परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। विकासवाद के अनुसार मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। यह कहा जाता है कि यद्यपि एक मनुष्य अपने जीवनकाल में स्वतः ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि वंशानुक्रम से धीरे-धीरे विकास करता हुआ ज्ञान का संचय कर लेगा। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है। जब से दीपक और पतंगा हैं, तभी से ऐसा होता आ रहा है। पतंगों के लाखों-करोड़ों वर्ष के अनुभव ने उन्हें वह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते। सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, हाथी, घोड़े आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखाते हैं, परन्तु स्वतन्त्र रूप में उनका आचरण आज भी वैसा ही है जैसा लाखों वर्ष पहले था। मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपांजी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है, और वह भी प्रशिक्षक के द्वारा। पशुजगत् में ही नहीं, मानवजगत् में भी यही नियम काम कर रहा है। कोई परिवार चाहे कितना ही शिक्षित और

ज्ञानी हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा हो, उस परिवार की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े-लिखे विद्वान् बन जाए, यह सम्भव नहीं। ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वतः संक्रमित होता रहता। यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में से एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाए और दूसरा उस शैक्षिक व्यवस्था से वंचित रहे तो दूसरा एक ही वंश-परम्परा में सगा भाई होने पर भी मूर्ख रह जाएगा। ज्ञान-प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित रहना ही इसमें कारण है।

यदि जीवात्मा स्वभावतः उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीतने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। स्कूल-कॉलिज होते भी तो कभी के बन्द हो गए होते। बहुत-से सर्वज्ञ हो गए होते। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि आज भी बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वे उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगेंगे। ऊपर चढ़ने की भाँति उन्नति भी परिश्रम और तपस्या माँगती है और मनुष्य उससे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से सरलता व सुगमता चाहता है। वर्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानव-गुणों के विकास का नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरलता का इतिहास है। वस्तुतः मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है। आदिमानव आज के मनुष्य से मानवीय सामर्थ्य में अधिक उन्नत था—यह निर्विवाद है। इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूँढी जा सकती है जिसका आदिमानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। वह है भाषाविज्ञान। वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ है और अधिक गठित भी। वर्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं, परन्तु न तो उनमें प्राचीन भाषाओं का-सा लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बहुत-कुछ कहने का सामर्थ्य। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से आज की तुलना में आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था।

जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाए बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा? जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही हमारे माता-पिता आदि

ने अपने माता-पिता आदि से और उन्होंने भी अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा। अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के रूप में नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। यही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में आज जितना भी ज्ञान है, उसका आदिमूल परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहकर परमात्मा को गुरुओं का गुरु बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके मार्गदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फूर्त कर दीं । इसी ज्ञानराशि को 'वेद' नाम से अभिहित किया गया है।

□□

प्रजनन-विज्ञान

"आम तौर पर हमारे समाज में रक्त-सम्बन्धियों के बीच विवाह प्रतिबन्धित है। रक्त से जुड़े सम्बन्धियों में समान एम० एच० सी० जीन इस सम्बन्ध को होने से रोकता है। डॉक्टर बेडकाइँड यह देखकर हैरान रह गए कि समान एम० एच० सी० जीनवाले पुरुष की टी-शर्ट सूँघते ही महिलाओं को उबकाई आने लगती है, जबकि भिन्न एम० एच० सी० जीनवाले मर्द की गन्ध पाकर उन्हें अपने प्रेमी की याद आने से कामेच्छा प्रबल हो उठती है। असमान एम० एच० सी० जीनवाले दम्पतियों से पैदा होनेवाली सन्तति आनुवंशिक रोगों के कोप से बच जाती है। उनके शिशु भी अधिक नीरोग रहते हैं, क्योंकि एम० एच० सी० आखिरकार एक रोग-प्रतिरोधक जीन ही है। शिकागो यूनिवर्सिटी के जीन-अभियन्त्रिकोविद् डॉ० कैरोल ओबेट का कहना है कि जिन दम्पतियों के एम०एच०सी०-जीन एक-जैसे होते हैं, उनके लिए गर्भ धारण करना भी खास तौर से कठिन होता है।

इस प्रकार शरीर-प्रतिरक्षा-प्रणाली से संबद्ध एम०एच०सी० जीन न केवल काया की रक्षा करता है, बल्कि सन्तोषजनक सहचर के चुनाव में भी मदद करता है।" —नवभारत टाइम्स, १२ मार्च १९९६

प्राचीन ऋषियों ने बहुत पहले इस तथ्य को जानकर निकट सम्बन्धियों में विवाह को निषिद्ध ठहरा दिया था। ऋषि दयानन्द ने स्वरचित संस्कारविधि में इस विषय में स्पष्ट लिखा है कि "जैसे किसी परोक्ष व्यक्ति की प्रशंसा सुनकर उससे मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र व माता के कुल में निकट सबन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए ।" इस निकटता की सीमा शास्त्रों ने इस प्रकार निर्धारित की है—जो कन्या माता के कुल की छह पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है।

मिताक्षरा-प्रणाली के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति के प्रसिद्ध

टीकाकार विज्ञानेश्वर ने सपिण्ड का अर्थ किया है—एक ही पिण्ड या शरीरवाले। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं, क्योंकि पिता के शरीर-रक्त से ही पुत्र का शरीर बनता है—"अङ्गादङ्गात् सम्भवति।" दादा और परदादा भी सपिण्ड हैं, क्योंकि उनके रक्त से ही पोते-परपोते का शरीर बनता है। इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ है—एक ही रक्त के लोग (Consenguineous)। सपिण्ड में विवाह न करने का विधान भावनात्मक (emotional) होने के साथ-साथ प्रजननिक (eugenic) भी है। यह तो सभी जानते हैं कि अतिपरिचय होने में प्रेम नहीं रहता। इसलिए भावनात्मक दृष्टि से भाई-बहन का विवाह वर्जित है, इसके साथ यह भी ठीक है कि समान रक्त की सन्तानों में उत्कृष्टता नहीं रहती ।

एक वंश-परम्परा में खानदान का जो प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ, उसके नाम से गोत्र चल पड़ा 'परम्पराप्रसिद्ध गोत्रम्' । गोत्र-सम्बन्धी परम्परा का निष्कर्ष यह है कि जिन लोगों का आदिपुरुष एक समझा गया, वे आपस में भाई-बहन समझे जाने से उनके बीच विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध माना गया ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जैसे पिता का गोत्र छोड़ा जाता है, वैसे ही माता का गोत्र न छोड़कर केवल छह पीढ़ियाँ ही छोड़ना काफी क्यों माना गया है? माता के समान पिता की भी छह पीढ़ियाँ ही छोड़नी चाहिए थीं। इस विषय में हमारा कहना है कि माता-पिता के रक्त का एक-सा प्रभाव नहीं होता। बीज के तुल्य पृथिवी की प्रधानता नहीं होती। यदि एक ही भूमि में विभिन्न प्रकार के बीज बोए जाएँ तो भूमि के एक-जैसी होने पर भी विभिन्न प्रकार की उपज होगी। आयुर्वेद के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने में स्त्री का रज मुख्यत: बीज की रक्षा करने का काम करता है। मुख्यता बीज की होती है। पिता की भाँति माता का कुल भी पूरी तरह छोड़ दिया जाए तो अति उत्तम है, परन्तु माता की छह पीढ़ियाँ छोड़ने से भी काम चल सकता है, क्योंकि इतने से ही रक्त में आनेवाले दोषों से बचा जा सकता है। वीर्य की प्रधानता होने से पिता के गोत्र को पूरी तरह छोड़ना श्रेयस्कर है।

सन् १९५५ में संसद् द्वारा पारित हिन्दू विवाह अधिनियम (Hindu Marriage Act) के अनुसार सपिण्डता के निषेध की सीमा कम कर दी गई है। तदनुसार इस सीमा को पिता की ओर से पाँच और माता की ओर से तीन पीढ़ी तक सीमित कर दिया गया है।

जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है, हिन्दू समाज में सपिण्ड-विवाह पहले भी होते रहे हैं और दक्षिण भारत में आज भी हो रहे हैं। उदाहरणार्थ अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया जिससे उसका पुत्र अभिमन्यु पैदा हुआ। यह मुमेरे-फुफेरे भाई-बहन (maternal cousins) का विवाह था। श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न का विवाह भी अपने मामा की लड़की पद्मावती के साथ हुआ था। श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने अपने मामा की लड़की रोचना से और परीक्षित ने अपने मामा की लड़की इन्द्रावती से विवाह किया था। सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का विवाह अपने मामा की लड़की यशोधरा से हुआ था और पृथ्वीराज चौहान ने अपनी मौसी की लड़की संयुक्ता (संयोगिता) से विवाह किया था। वर्तमान में दक्षिण में मामा की लड़की से विवाह होना आम बात है। किसी-किसी जाति या वर्ग में भानजी और साले-साली की लड़की से भी विवाह करने का रिवाज़ है। सम्भव है, दक्षिण में सपिण्ड-विवाह होने का कारण वहाँ प्रचलित मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal Family) रहा हो।

परन्तु यह सब महाभारतकाल से आरम्भ हुआ, जो आर्यावर्त्त (भारतवर्ष) के सांस्कृतिक तथा नैतिक पतन का काल माना जाता है। शास्त्रसम्मत न होने से उस काल के कृत्यों को आदर्श नहीं माना जा सकता। वस्तुतः एक रक्त के सम्बन्धियों में विवाह होना हितकर नहीं है—न प्रजननिक आधार पर और न भावनात्मक आधार पर। ऋषि दयानन्द के अनुसार जब तक दूरस्थ कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि पूर्ण नहीं होती। उनके इस शास्त्रानुमोदित कथन की आधुनिक प्रजनन-विज्ञान (Science of eugenics) से पुष्टि होती है।

बालक के निर्माण की प्रक्रिया गर्भाधान से आरम्भ होती है, परन्तु जैसे मकान बनाने से पहले उसकी योजना बनाकर उसके लिए अपेक्षित उत्तम कोटि की सामग्री का होना नितान्त आवश्यक है, वैसे ही उत्तम सन्तान-प्राप्ति के लिए उपयुक्त दम्पती और उनके द्वारा उसके उपादान उत्तम रज-वीर्य का उत्तम कोटि का होना आवश्यक है। 'चरक संहिता' (शरीरस्थान ८१।३४) में लिखा है—जैसा भला-बुरा बीज बोया जाएगा, फल भी वैसा ही होगा। जैसे व्रीहि के बोने से व्रीहि और जौ बोने से जौ उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष और उनसे उपलब्ध रज-वीर्य जैसे होंगे, वैसी ही सन्तान होगी।

□□

अद्वैतवाद

भारत की वैचारिक परम्परा में दर्शन व धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं। दर्शन की नींव पर ही धर्म का भवन खड़ा किया जाता है। 'दृष्टि' (दर्शन) धातु से दर्शन शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है-**'दृश्यते ज्ञायते सत्यमनेनेति दर्शनम्'** अर्थात् जिससे सत्य को जाना जा सके उस ऊहापोहरूपी सन्नियत विचार-शृंखला को 'दर्शन' कहते हैं। इस दार्शनिक सत्य का धारण करना-उसका जीवन में कार्यान्वित होना 'धर्म' है। दर्शन का सम्बन्ध विचार से है, धर्म का आचार से । इस प्रकार दर्शन का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप धर्म है। दर्शन व धर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही हमारे यहाँ वेद, उपनिषद्, गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थ भी हैं और धार्मिक भी।

महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है-'जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है।'[1] हमारी संहिताएँ, उपनिषदें तथा दर्शनशास्त्र जगत् को व्यवहार-जगत् और परमार्थ-जगत् के रूप में विभक्त करना स्वीकार नहीं करते । दोनों में यथार्थ एवं समन्वय-बुद्धि होना सम्यक् दर्शन है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।[2] 'अभ्युदय' का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन में भौतिक साधनों द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। मरने के बाद क्या होगा? इसके जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं? स्थूल को जानने पर ही सूक्ष्म के प्रति जिज्ञासा एवं प्रवृत्ति जागृत होती है और जानने की क्षमता प्राप्त होती है। अतः जन्मान्तर की चिंता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना आवश्यक है। मोक्षप्राप्ति में साधन-रूप शरीर तथा **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वै० १।१)

२. तत्त्वज्ञानादभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः। (अ० त० द० १।१)

स्वरूप को जानकर ही ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों की उपलब्धि एवम् उनका समुचित उपयोग सम्भव है। द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य-ज्ञान से अभ्युदय की सिद्धि का यही अर्थ है।

अभ्युदय के साथ-साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में भी उपयोगी है। यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं, परन्तु अपने स्वरूप में वे 'श्वोभावाः' क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है, अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि जड़ पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी तत्त्व है—ऐसा जानकर वह देह और उसकी वासनाओं में लिप्त न होकर जन्म-जन्मान्तर के आवर्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस् के मार्ग में प्रवृत्त करता है। अभ्युदय और निःश्रेयस् में टकराव होने पर वह **'परोक्षप्रिया हि देवाः'** के अनुसार निःश्रेयस् को चुन लेता है। इसी रूप में तत्त्वज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में साधक है।

इन्द्रियाँ बाह्य जगत् का ज्ञान करानेवाले अधिकरण हैं, किन्तु उनकी सीमा गुणों तक है। द्रव्यों की यथार्थता का दर्शन कराने में वे अंशतः सफल होती हैं। किन्तु सधी हुई योगबुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाती है। साधारण बुद्धि के सामने आनेवाला ज्ञान बाहरी आवरण-मात्र होता है जिसे भेदकर सूक्ष्मैक्षिका दार्शनिक बुद्धि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर पाती है। इसलिए परमाणु से परमेश्वर-पर्यन्त समस्त पदार्थों के यथार्थज्ञान-साधन में प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है।

चमत्कारों में विश्वास रखनेवाला अथवा ऐन्द्रजालिक प्रदर्शनों में रुचि लेनेवाला व्यक्ति ही संसार को किसी मायावी की लीला मान सकता है। सृष्टि के रंगमंच पर किसी के हाथ की कठपुतली बनकर नाचनेवाले हम नहीं हैं। हमारे जीवन का कोई लक्ष्य है, किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरणा पाकर हमें कुछ बनना है। संसार को स्वप्न या मिथ्या समझनेवाले व्यक्ति के लिए तत्त्वज्ञान का कोई अर्थ नहीं। किन्तु मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही तत्त्वदर्शी रहा है। यदि वह संसार को मिथ्या, स्वप्न या अध्यास मानता रहता तो वह अपने सर्वतोन्मुखी ज्ञान की अभिवृद्धि न कर पाता। सृष्टि में अभिव्यक्त ऋत और सत्य को जानकर मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस् को प्राप्त करता है। साधारणतः धर्मविषयक जिज्ञासा चित्त

को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए तैयार करती है। ऐसे व्यक्ति जो सीधे ब्रह्म-जिज्ञासा में तत्पर हो जाते हैं, वे हैं जिन्होंने पूर्वजन्म में अपेक्षित कर्तव्यों का पालन किया होता है।

कार्योत्पत्ति के लिए कारण-सामग्री का नियत पूर्ववर्ती होना आवश्यक है। दृश्य जगत् कार्यरूप है, अतः जगत् के मूल कारण अथवा तत्त्व की खोज में दार्शनिकों की रुचि सदा से रही है। वह मूलतत्त्व क्या है जिसका यह सारा जगत् रूपान्तरमात्र है? दृश्यमान जगत् में हम चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार की सत्ताओं का अनुभव करते हैं। एक विचारधारा के अनुसार जगत् का एकमात्र मूल तत्त्व अचेतन है। अवस्थाविशेष में आकर वही विकसित होकर चैतन्य में परिवर्तित हो जाता है। चेतन नाम की पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली कोई वस्तु नहीं है। भारतीय दर्शन में यह विचारधारा उसके संस्थापक बृहस्पति तथा उसके महान् प्रचारक चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय विचारधारा से प्रभावित प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन, जो हेगेल तथा कार्लमार्क्स जैसे भौतिक तत्त्वज्ञों के सहारे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के रूप में विकसित हुआ है, इसी विचारधारा का पोषक है। सर्वथा समान न होते हुए भी चार्वाक तथा वर्तमान पाश्चात्य दर्शन मूलतः एक हैं।

दूसरी विचारधारा के अनुसार एकमात्र यथार्थ सत्ता चेतनब्रह्म है। उससे भिन्न अन्य कोई तत्त्व अपना अस्तित्व नहीं रखता। यह जो जड़ व चेतन जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी अपनी वास्तविक व स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म-तत्त्व ही विभिन्न रूपों में भासता है। इस विचारधारा को पल्लवित व पुष्पित करने का श्रेय आचार्य शंकर को है। उन्होंने कुछ प्राचीन ग्रन्थों को इसका आधार बनाया और इसी के अनुकूल उनकी व्याख्या की। इनमें वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र), ११ उपनिषद् और गीता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तीसरी विचारधारा के अनुसार चेतन व अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों की वास्तविक सत्ता है और दोनों के सहयोग से ही सृष्टि-रचना का कार्य सम्भव है। चेतन तत्त्व दो हैं—जीवात्मा और परमात्मा । अचेतन तत्त्व प्रकृति अथवा प्रधान के नाम से जाना जाता है। यह वैदिक विचारधारा है जिसका निर्देश एवं संकेत वेद के अनेक सूक्तों व मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इन विचारों को दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्राचीन काल में महर्षि कपिल को और चिरकाल से तिरोहित इस विचारधारा

को वर्तमान में प्रवहमान करने का श्रेय महर्षि दयानन्द को है।

सांख्याचार्य वार्षगण्य ने सृष्टि-रचना में ईश्वर को अनावश्यक मानकर उसे निकाल फेंका। बुद्ध ने वैदिक परम्परा के नाम पर होनेवाले भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह किया। उनके उपदेशों में ईश्वर के निषेधपरक कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते, परन्तु कालान्तर में उनके शिष्यों ने वार्षगण्य तथा चार्वाक के विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध मन्तव्यों में से उसे निकाल दिया। जब यह नास्तिक विचारधारा अति को पार कर गई तो इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। फलतः जब जगन्नियन्ता परमात्मा से विमुख होकर जनता के भ्रष्ट होने का भय उपस्थित हुआ तो कुछ विद्वानों ने घोषणा कर दी कि न केवल चेतन सत्ता अथवा परमात्मा का निषेध करना सम्भव नहीं, अपितु यथार्थ सत्ता एकमात्र ब्रह्म ही है, शेष सब अज्ञान या भ्रम है। इन विद्वानों ने बौद्धधर्म की बाह्य प्रक्रिया को तो ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया, परन्तु 'शून्य' के आसन पर ब्रह्म को बिठा दिया। इसी विचारधारा को आगे चलकर गौडपाद और शंकराचार्य ने पुष्ट किया।

बौद्धमत में विज्ञानवादी एवं शून्यवादी अद्वैतमत के प्रतिपादक थे। जैनमत में भी समन्तभद्र ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है,[१] परन्तु इन सभी अद्वैतमतों में कुछ न कुछ भेद है। भेद होना स्वाभाविक है, क्योंकि सब आचार्यों का एक ही दृष्टिकोण नहीं हो सकता। शंकर के दादागुरु गौडपाद थे। अपनी माण्डूक्य-कारिकाओं में उन्होंने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। लोक-विश्रुत अद्वैतमत का प्रवर्त्तक उन्हीं को माना जाता है। अद्वैतवाद के बौद्धरूप का प्रभाव गौडपाद की कारिकाओं में स्पष्ट है। शंकराचार्य भी उस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। गौडपाद के मत में आत्मा न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् उभयात्मक है और न सत्-असत् से विलक्षण है। इस प्रकार की आत्मा का जिन्होंने दर्शन किया है वे ही सर्वदृक् अर्थात् सर्वदर्शी हैं।[२] यही बात बहुत पहले बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन

---

१. अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते। (आप्तमीमांसा २४)

२. नास्ति नास्त्यस्ति नास्त्यस्ति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष वालिशः॥
कोप्याश्चतस्त्र एतास्तु ग्रहैरासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥
—कारिका, अलातशान्ति-प्रकरण, ८३-८४

ने माध्यमिक कारिका में कही थी।[1] इसके अतिरिक्त बहुत-से दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द हैं जिनका बौद्धदर्शन तथा शांकरमत दोनों में एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। दोनों मतों ने व्यावहारिक सत्ता से भिन्न पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है, अतएव पारमार्थिक दृष्टि से जब ये दोनों परमतत्त्व का विचार करते हैं तो उसमें अनेक प्रकार की समानताओं का पाया जाना स्वाभाविक है। इन भावनाओं से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह डाला।[2]

इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का कहना है कि शंकर उपनिषदों के पूर्ण ज्ञाता थे। दार्शनिक तत्त्वों की अनुभूति उन्हें अवश्य रही होगी। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। उपनिषदों में अद्वैतमत की प्रतीति करानेवाली अनेक श्रुतियाँ थीं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतवाद की ही मुख्य विचारधारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। उसी के आधार पर या उसी से प्रभावित होकर शंकर ने अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है।

शंकर ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य यथार्थ सत्ता को नहीं मानते। विज्ञानभिक्षु एवं भास्कराचार्य के भेदाभेद में हमें दूसरे ही प्रकार के अद्वैतवाद का दर्शन होता है। वल्लभाचार्य जीव को अनादि कहते हैं, किन्तु ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते। उनके मत में जीवावस्था में ब्रह्म का सत् एवं चित् रूप रहता है, केवल आनन्द की शक्ति तिरोहित रहती है। निम्बार्क कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है और अज्ञान जीव का धर्म है।[3] रामानुजाचार्य जीव को नित्य, किन्तु ब्रह्म का विशेषण एवं दोनों में देहात्म-सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत में जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है, क्योंकि उनमें स्वगत-भेद है। जीव ब्रह्म का अंश है, किन्तु इस रूप में नहीं कि वह ब्रह्म का अवयव है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। जीवात्मा ब्रह्म का कार्य है, क्योंकि उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु वे आकाश आदि के समान

---

१. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

२. विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकं बौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति। (भास्करभाष्य १।४।२५)
ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः। (भास्करभाष्य २।२।२९)

३. दासगुप्ता : *भारतीय दर्शन का इतिहास*, भाग ३, पृष्ठ ४१३

उत्पन्न कार्यरूप सत्ताएँ भी नहीं हैं। जीव और ईश्वर एक नहीं हैं, क्योंकि जीव तात्त्विक गुणों में ईश्वर से भिन्न है।[1] रामानुज के दर्शन में अस्पष्टता है, क्योंकि रामानुज, शंकर के समान भ्रमवादी नहीं बनना चाहते थे, किन्तु साथ ही अद्वैतसमर्थक प्रतीत होनेवाली श्रुतियों का अर्थ अद्वैत में करना चाहते थे। रामानुज न तो भास्कर की तरह जीव को ब्रह्म का अंश मानने को तैयार थे और न दयानन्द की तरह त्रैतवाद को अपनाने का साहस कर सकते थे।

जब ये विचार इतने स्पष्ट विभेदों के साथ हमारे सामने आते हैं तो उनमें कौन सच्चा और कौन झूठा है--यह जानना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इतना निश्चित है कि वे सभी सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि सत्य का स्वरूप सदा एक ही हो सकता है। तत्त्व की वास्तविकता के स्वरूप का विस्तार अनन्त है, अतः उसका निर्धारण करना सरल कार्य नहीं है। समय-समय पर पारदर्शी विद्वान् उसे जानने का प्रयास करते रहे हैं। विचार-विभिन्नता मानवीय मस्तिष्क के विकास की द्योतक है। परन्तु विचार-मन्थन तब तक अनपेक्षित है जब तक उन तत्त्वों की यथार्थता और उपयोगिता को नहीं जान लिया जाता जिन पर हमारा अस्तित्व निर्भर है।

अद्वैत वेदान्त पर कितने ही ग्रन्थ लिखे गए हैं। सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र, पद्मपाद, विद्यारण्य, चित्सुख, सर्वज्ञात्ममुनि, मधुसूदन सरस्वती, अप्पय दीक्षित, सदानन्द आदि सभी एक विचार-प्रणाली में आते हैं। फिर भी वे सभी किसी न किसी अंश में नवीन विषय का प्रतिपादन करते हैं, और किसी विशेष पक्ष को उभारकर उसका विवेचन करते हैं। इस प्रकार एक ही सामान्य विधि का प्रयोग करते हुए तथा एक ही सामान्य मत की व्याख्या करते हुए भी अपने व्यक्तित्व अथवा वैशिष्ट्य की छाप छोड़ देते हैं।

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि सभी ने उपनिषदों को अपनी विचारधारा का आधार बनाया। जिन आचार्यों ने उपनिषदों पर अपने भाष्य नहीं लिखे, उन्होंने भी अपने दर्शनशास्त्र का आधार इन्हीं ग्रन्थों को बनाया। यद्यपि इन सभी आचार्यों के दार्शनिक

---

१. The Souls are regarded as the effects of Brahman, since they cannot exist apart from him, and yet they are not produced effects as other and the like. The Jiva is not one with God since it differs in essential character from him.

सिद्धान्तों में भारी मतभेद है, तथापि उनमें से हरेक अपने सिद्धान्त को उपनिषद्मूलक बताता है। शंकर के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के अनुसार ये विशिष्टाद्वैत के प्रेरणास्रोत हैं। मध्व इन्हीं में द्वैतवाद का दर्शन करते हैं। सम्भवतः इसी कारण मैक्समूलर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में यह धारणा बना ली कि इनमें नियमित व सुस्पष्ट रूप से कोई एक विचारधारा नहीं मिलती।[१]

उपनिषदों में वर्णित परमतत्त्व के ज्ञान का आधार विचार की साधारण प्रणाली न होकर ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था 'समाधि' है। समाधि की अवस्था में ध्याता का ध्येय से सीधा सम्बन्ध होता है, अतएव समाधि-अवस्था में प्राप्त ज्ञान बहुत-कुछ निर्भ्रान्त होता है। दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है और काव्य में रागतत्त्व। उपनिषदों में रागतत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामतः दर्शन और उपनिषद् में वस्तु का प्रस्तुतीकरण एक-दूसरे से भिन्न होता है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। उपनिषदों में जीवात्मा तथा परमात्मा में आपाततः तादात्म्य का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का यही रहस्य है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर तल्लीन जीवात्मा के भावोद्रेक की व्याख्या अभिधा द्वारा करना उपनिषदों की वर्णन-शैली के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन करना है।

शंकर का अभिमत अद्वैतवाद या मायावाद उपनिषदों अथवा षड्दर्शनों में कहीं नहीं दिखाई देता। रामानुज ने अपने ग्रन्थों में मायावाद की तर्कपूर्ण आलोचना की है। इस विषय में रामानुज से सहमत होते हुए मध्व द्वैतवाद का प्रतिपादन करनेवाले सन्दर्भों को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध मानते हैं। अद्वैतवादी आचार्य ऐसी श्रुतियों को व्यवहार की श्रुतियाँ मानते हैं, परमार्थ की नहीं, क्योंकि उनके मत में परमार्थ में तो केवल अद्वैत है। परन्तु उपनिषदों में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्ताओं के तात्त्विक भेद की बात कहीं भी नहीं मिलती। षड्दर्शन की भाँति उपनिषदों में भी सृष्टि-रचना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। स्वप्नवत् अथवा रज्जु-सर्पवत् मिथ्या जगत् की रचना के विषय में

---

१. Maxmuller : *Vedanta Philosophy*, p. 20

इतनी गहराई में जाने की क्या आवश्यकता थी—इसका तर्क-प्रतिष्ठित समाधान आज तक कोई नहीं कर पाया।

जीव, जगत् और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा प्रभेदपरक नहीं है। इस प्रकार के मत को मानने से उपनिषदों के उन असंख्य वाक्यों से विरोध होगा जिनमें इनके पारस्परिक भेद पर बल देते हुए जीव के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किये जाने की प्रेरणा एवम् उद्‌बोधन के साथ-साथ तदर्थ उसका मार्गदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों में भी बहुत-सा असामंजस्य उत्पन्न होगा। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये तीनों तत्त्व एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यदि जीवात्मा और जगत् से परमात्मा सर्वथा पृथक् होता तो सर्वव्यापक न हो सकता और वह वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे जीवात्मा और जगत् हैं। यह कथन, कि अभेद यथार्थ है तथा भेद उपाधि अथवा अवच्छेद के कारण, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ होगा कि ब्रह्म अवस्थाओं के अधीन है। इस प्रकार के मत में ब्रह्म न निर्मल रहेगा, न निर्भ्रान्त । इतना ही नहीं, वह सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला भी ठहरेगा। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से भिन्न हैं, किन्तु अपने कार्य तथा व्यवहार के लिए ब्रह्म के अधीन तथा उस पर आश्रित हैं, और इस कारण वे ब्रह्म से सर्वथा स्वतन्त्र तथा भिन्न नहीं हैं।

ईश्वर, जीव तथा प्रकृति, ये तीन पदार्थ अनादि काल से अनन्त काल तक रहनेवाले हैं। यद्यपि ये मौलिक रूप से एक-दूसरे से भिन्न, यथार्थ तथा नित्य हैं, तथापि पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता एकमात्र ब्रह्म है जो सम्पूर्ण चराचर जगत् का स्रष्टा तथा नियन्ता है। यद्यपि उसके विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है, तथापि उसका स्वरूप ऐसा नहीं है जिसका वर्णन न हो सके। शब्दब्रह्म=वेद के द्वारा हम उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है उसे प्रकट करने के लिए वृक्ष का उसकी शाखाओं के साथ, समुद्र का उसकी लहरों के साथ अथवा मिट्टी का उससे बने बर्तनों के साथ जैसे दृष्टान्त उपयोगी नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त सब में पूर्ण इकाई का सम्बन्ध जो उसके भाग के साथ है एवं द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है, उस प्रकार

का सम्बन्ध ब्रह्म तथा जीव का उपपन्न नहीं होता। दोनों के निरवयव होने के कारण, ब्रह्म तथा जीवात्माओं का न तो बाह्य अर्थात् संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, और न आन्तरिक अर्थात् समवाय-सम्बन्ध हो सकता है।

विश्व के कर्ता, धर्ता, संहर्ता के रूप में परमेश्वर की सत्ता को प्रत्येक शास्त्र स्वीकार करता है। वेदान्त ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर उसके स्वरूप की जानकारी दे सकता है, किन्तु उसके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करा सकता। उसके लिए औपनिषदिक तथा यौगिक प्रक्रियाओं का आश्रय लेना आवश्यक है।

वेदान्तदर्शन में बादरायण का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करना है, अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करना नहीं। यही कारण है कि आचार्य शंकर जैसे प्रकाण्ड विद्वान् भी ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करने के प्रयास में सफल नहीं हो सके। शांकर भाष्य में अनेकत्र उपलब्ध परस्पर-विरोधी वचनों से हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। वेदान्तदर्शन पर शंकर का भाष्य वास्तव में बादरायण के दर्शन के स्थान पर गौडपाद के दर्शन का प्रतिपादन करता प्रतीत होता है। भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याता सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के अनुसार अद्वैतमत का प्रतिपादन अथवा ब्रह्मसूत्र का अद्वैतपरक भाष्य गौडपाद और शंकर से पूर्व किसी ने नहीं किया था।[१]

शंकर के जगत् के मिथ्यापरक दर्शन में सामाजिक जीवन अथवा नागरिक कर्तव्य का कुछ भी अर्थ नहीं है। यदि यह संसार और इसके रिश्ते-नाते सब मिथ्या हैं तो हमें इसमें रुचि लेने की क्या आवश्यकता है! यदि हमें जीवन के क्रीड़ाक्षेत्र में खेलना है तो हम अपने भीतर यह भावना रखकर, कि यह सब छलावा-मात्र है, और इसमें प्राप्त होनेवाले पुरस्कार शून्य हैं, खेल में भाग नहीं ले सकते। कोई भी दर्शन इस प्रकार के मत को युक्तियुक्त मानकर शान्ति प्राप्त नहीं करा सकता । इस प्रकार की प्रकल्पना में सबसे बड़ा दोष यह है कि हम ऐसे प्रमेय पदार्थों में लगे रहने को बाध्य होते हैं जिनके अस्तित्व का हम बराबर निषेध कर रहे

---

१. I do not know of any writer previous to Gaudapada who attempted to give an exposition of the mouistic doctrine either by writing a commentary as did Shankara or by writing an independent work as did Gaudapada.
—S. N. Dasgupta : *History of Indian Philosophy*, Vol. I, p. 422.

होते हैं। यदि बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा और जगत् सब मिथ्या हैं तो वस्तुतः एक मिथ्या आत्मा, इस मिथ्या जगत् में, मिथ्या बन्धनों से मुक्त होने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य की दार्शनिक सन्तुष्टि इसी में होती है कि सम्पूर्ण जगत् का पर्यवसान एकत्व में हो। परन्तु दर्शन का लक्ष्य सत्य की खोज करना है, न कि अपनी भावनाओं की सन्तुष्टि के लिए सत्य का गला घोंटना। कुछ लोगों के लिए अद्वैतवाद आकर्षण का विषय हो सकता है, परन्तु जो आकर्षक है, यह आवश्यक नहीं कि वह सत्य भी हो और शिव भी। हमें अच्छा लगे या न लगे, हमारे अहं को ठेस ही क्यों न लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि न हम ब्रह्म थे, न हैं, और न कभी हो सकेंगे। वस्तुस्थिति को समझ लेना ही तत्त्वज्ञान है, यथार्थ ज्ञान है। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसका साहचर्य हमें मिलेगा, किन्तु उस अवस्था में भी हम ज्ञान, कर्म-सामर्थ्य और आनन्द तीनों की दृष्टि से अणु-परिच्छिन्न ही रहेंगे। इसी प्रकार जगत् के विलय होने पर भी उसके मूल उपादान प्रकृति की सत्ता बनी रहेगी। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है, उसी प्रकार जीव अल्पज्ञ है, और प्रकृति अज्ञ है। तीनों स्वभाव से ऐसे हैं और सदा ऐसे ही रहेंगे। यही वैदिक दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। अद्वैतवाद की घोषणा करनेवाले भी इस तथ्य को नहीं झुठला सके। शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि तथा माया की कल्पना करके उन्हें प्रकारान्तर से स्वीकार करना पड़ा कि केवल ब्रह्मतत्त्व समस्त चेतनाचेतन जगत् का मूल नहीं हो सकता ।

□□

शरीर में जीवात्मा का आवास

भारतीय दर्शन में जीवात्मा का परिमाण तीन रूप में वर्णन किया गया है–(१) विभु अथवा महत्परिमाण, (२) मध्यम अथवा देह–परिमाण, (३) परिच्छिन्न अथवा अणु–परिमाण।

१. विभु मानने से यह स्वतःसिद्ध है कि वह देह के बाहर–भीतर सर्वत्र एक–समान विद्यमान है। परन्तु यह प्रत्यक्ष के विपरीत है, क्योंकि सभी प्राणियों का एक–सा व्यवहार नहीं है। प्रत्येक प्राणी आकृति, रुचि, ज्ञान, सामर्थ्य, चेष्टा आदि की दृष्टि से अन्य सबसे पृथक् है। एक शरीर में रहनेवाले जीव की स्थिति दूसरे शरीर में रहनेवाले जीव से मेल नहीं खाती। सबका बौद्धिक स्तर एक–जैसा नहीं होता। संसार में एक ओर जहाँ निपट मूर्खों की कमी नहीं, वहाँ दूसरी ओर चार वर्ष की आयु में सम्पूर्ण गीता सुना डालनेवाले बालक भी मिलते हैं। जिन घटनाओं को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं, उन्हीं से प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द और जेम्स वॉट जैसी आत्माएँ संसार को चमत्कृत कर देती हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य स्वभाव से विनम्र, सत्यनिष्ठ, परोपकारप्रिय तथा अध्यात्म में प्रवृत्ति रखनेवाला है, और दूसरा स्वभाव से अत्यन्त कठोर, स्वार्थी तथा भोगविलास में रत रहता है ।

सुख–दुःख चेतन का गुण है, जड़ का नहीं। अतएव सुख–दुःख का अनुभव आत्मा को होता है, शरीर को नहीं। यदि विभु होने से सब देहों में एक ही आत्मा का वास हो तो एक के दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिए। जब सर्वत्र एक ही आत्मा हो तो कोई जन्म लेता है, कोई मरता है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, इत्यादि प्रत्यक्षतः अनुभूयमान विरुद्ध धर्मों की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जब सर्वत्र एक ही आत्मा है तो जब एक को भूख लगे तो मनुष्यमात्र को ही नहीं, प्राणिमात्र को भूख लगनी चाहिए, और जब एक व्यक्ति भोजन कर ले तो एक–साथ सबकी भूख शान्त हो जानी चाहिए। एक की मृत्यु हो जाने पर एक–साथ सबकी मृत्यु हो जानी चाहिए। इस प्रकार जीवात्मा का विभु–सर्वव्यापक होना

उपपन्न नहीं होता।

जीवात्मा के विभु होने की अवस्था में 'कौन शरीर किस आत्मा का है' यह निश्चय नहीं हो सकेगा, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में वर्तमान रहेंगे। परिणामतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी। जीवात्मा को विभु मानने पर जीवात्मा के शास्त्र में वर्णित गति, अगति, उत्क्रान्ति आदि धर्मों का सामंजस्य न हो सकेगा। **'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'** (न्याय० १।१।१९)—जीवात्मा का एक देह छोड़कर देहान्तर में जाना सिद्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२) में कहा है—**"तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः"**—अपने उस चेतन स्वरूप के साथ वह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से निकल जाता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार **"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति"** (१।२।११)—आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में जीवात्मा की गति का वर्णन उपलब्ध है। सूक्ष्म शरीर में परिवेष्टित जीवात्मा जब इस शरीर से निकलता है तो सब करणों के साथ ही निकलता है—**"स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति"** (कौ० ब्रा० उप० ३।४)। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने 'अव्यसः' शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—'अव्यसः=अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः' अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का (अथर्ववेद सायणभाष्य १२।६८।१); **'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्'** (वेदान्त २।३।१९)।

इस प्रकार गति, आगति, उत्क्रान्ति के प्रमाणों से जीवात्मा की सार्वव्यापकता का निषेध हो जाता है।

एक स्थान को छोड़कर अन्यत्र चला जाना उत्क्रान्ति है। गति का नियम है—

"A thing does not move where it is. It cannot move where it is not. It can move where it is to where it is not."

कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं करती जहाँ वह है; और उस स्थान पर भी गति नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है; कोई वस्तु जहाँ वह है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है। गति-विधान का यह नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापी (विभु) में नहीं। जब पक्षाघात हो जाता है तो तन्तु-सम्बन्ध में विकार आ जाने पर प्रभावित क्षेत्र में काँटा चुभना अनुभव नहीं होता।

यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए था।

२. मध्यम-परिमाण होने पर प्रत्येक शरीर के साथ जीवात्मा का शरीर बदलेगा। इस प्रकार जीव का अपना कोई परिमाण न रहेगा। जिस शरीर में जाएगा उसी के बराबर उसका परिमाण हो जाएगा। जैन दार्शनिकों ने जीव को मध्यम-परिमाण स्वीकार किया है, अर्थात् देह के अनुरूप जीव का परिमाण माना है। एतदनुसार हाथी के शरीर में जीव हाथी-जितना विशाल और चींटी के शरीर में जीव चींटी-जितना सूक्ष्म होता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुरूप आत्मा को मध्यम-परिमाण मानने पर उसमें संकोच-विकास होने से वह अनित्य हो जाएगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के अनुसार होगा तो मनुष्य-शरीर में ही जन्म के समय छोटा होगा और जैसे-जैसे शरीर का विकास होता जाएगा, वैसे-वैसे शरीर में जीवात्मा भी फैलता जाएगा। बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा। कृशकाय व्यक्ति का जीव छोटा और स्थूलकाय पहलवान का जीव बड़ा होगा। रोगी होने पर शरीर की अवस्था में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। तब क्षण-क्षण में जीव के परिमाण में भी परिवर्तन होता रहना मानना होगा। इससे जीव अवयवी हो जाएगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ में घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होने पर अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जाएगा। जो पदार्थ विकारी अथवा परिवर्तनशील होगा वह नाशवान् होगा। अतः मध्यम-परिमाण मानने पर उसे नश्वर मानना होगा। मैं छोटे कमरे में भी रह सकता हूँ और बड़े में भी। हाँ, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बड़ा और मेरा शरीर कमरे से छोटा हो। अणु-परिमाण होने से जीव चींटी और हाथी दोनों के शरीर में रह सकता है। ऐसा न मानकर जीव को देह-परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समाएगा और चींटी का जीव हाथी के शरीर में कैसे कार्य करेगा? इस प्रकार जीव को मध्यम-परिमाण मानने पर पुनर्जन्म की व्यवस्था न हो सकेगी। अतः जीव को मध्यम-परिमाण मानना युक्त नहीं है।

३. वस्तुतः जीवात्मा-पुरुष परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं अणु-परिमाण है। मुण्डकोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा है-'**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः**' (मु० ३।९) यह 'अणु'-आत्मा शुद्ध अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है। आत्मा के माप का उल्लेख मिलने से भी उसके अणु

होने की पुष्टि होती है। जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद (१०।८।८५) में कहा है–

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया।।

अर्थात्–जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और एक (प्रकृति) है जो न के सदृश दीखती है (मानो दीखती ही नहीं है)। वह देवता सबको आलिंगन किये हुए है, इसलिए वह मुझे प्रिय है।

इस मन्त्र में कथित जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् (५।९) में कहा है–

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सः विज्ञेयः स चानन्त्यायकल्पते।।

बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जाएँ, फिर उनमें से एक भाग के सौ भाग किये जाएँ तो उनमें से एक के बराबर जीव का परिमाण है; और वह मुक्ति के लिए समर्थ है। उपनिषदों में अनेकत्र (कठ० ४।१२,१३; ६।१७; श्वेता० ५।८) जीवात्मा को अंगूठे के बराबर बताया है–**'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः'**। अंगूठे के बराबर कहने का यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अंगूठे के परिमाणवाला है। शरीर में जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है, उसकी रचना अंगूठे-जैसी होने के कारण तात्स्थ्योपाधि से ऐसा कह दिया गया है। तथापि किसी संभावित भ्रान्ति का निवारण कर देने के उद्देश्य से 'अंगुष्ठमात्र' के साथ ही 'आराग्रमात्र' (सुई की नोक के बराबर) कह दिया। वस्तुतः ये वाक्य जीवात्मा के किसी नियत परिमाण का निर्देश न करके उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म=अत्यन्त सूक्ष्म होने का बोध कराने के लिए कहे गए हैं।

इस परिच्छिन्न जीव की शक्तियाँ शरीर में स्थित प्राण आदि के साथ संयुक्त होकर कार्य करती हैं। एकदेश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों के द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना उसकी उस प्रक्रिया में पूर्ण सहायक है। सारे शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल सूक्ष्म रूप में व्याप्त है जिसका सम्बन्ध करणों के केन्द्र के साथ जुड़ा रहता है। यह केन्द्र आत्मा के निवास-स्थान में स्थित है। इन साधनों के द्वारा एकदेशस्थित आत्मा देहव्यापी अनुभव कर लेता है; दीपक की भाँति अपनी शक्ति से समस्त शरीर का नियमन करता है। जिस प्रकार शरीर के एक अंग में सम्पृक्त चन्दनबिन्दु ज्ञानवहा नाड़ियों के समस्त शरीर में

व्याप्त होने के कारण समस्त शरीर में नवीन चेतना, शैत्य और आह्लाद उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार देह के एकदेश में विद्यमान आत्मा सर्वाङ्ग में संवेदना का ग्रहण करता है। शंकर इस दृष्टान्त का खण्डन यह कहकर करते हैं कि काँटा भी तो, जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है, सारे शरीर की संवदेन-शक्ति के साथ सम्बद्ध है, फिर भी पीड़ा केवल पैर के तलवे में ही अनुभव होती है, सारे शरीर में नहीं। ऐसा कहते हुए शंकर यह भूल जाते हैं कि पैर का तलवा केवल काँटा चुभने का स्थान है। दर्द की अनुभूति का स्थान पैर नहीं, स्वयं आत्मा है। शरीर के समस्त अवयवों तथा इन्द्रियों की भाँति पैर जड़ हैं। जड़ को पीड़ा की अनुभूति कैसे सम्भव है? इसलिए, जैसे वायु के सहयोग से मनुष्य तीव्र गन्धवाले दूरस्थ पदार्थ से प्राप्त गन्ध का अनुभव करता है, वैसे ही देह के एकंदेश में स्थित आत्मा अपने साधनों द्वारा पैर में लगे काँटे की अनुभूति करता है।

जैसे एक स्थान पर रखे दीपक की शिखा बहुत छोटी होते हुए भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, अथवा, जैसे एकत्र स्थित सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा संसार को आलोकित करता है, उसी प्रकार एकत्र स्थित अणु-परिमाण आत्मा अपने विभिन्न करणों=साधनों के द्वारा समस्त देह को सचेत एवं सक्रिय बनाए रखता और सारे शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव करता है। लोक में जैसे एकत्र स्थित राजा सचिव आदि अपने सहायकों द्वारा अपने विस्तृत राज्य की व्यवस्था करता है और हर प्रकार की जानकारी रखते हुए उस पर शासन करता है, वैसे ही अणु-परिमाण जीवात्मा सारे शरीर पर शासन करता है। इस प्रकार समझने पर जीवात्मा को अणु-परिमाण मानने में कोई बाधा नहीं आती।

आत्मा का आवास—आत्मा के अणु-परिमाण मानने से यह स्वतःसिद्ध है कि वह शरीर में किसी नियत स्थान पर रहता है। वह कौन-सा स्थान है?

कई देह इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें इन चक्षुओं से देख पाना अशक्य है। उन्हें शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रों (Microscope) से ही देखा जा सकता है। सम्भव है, ऐसे भी सूक्ष्म देह हों जो उन यन्त्रों की सहायता से भी न दीख सकते हों। अधिक से अधिक सूक्ष्म होने पर भी अदृश्य देह भी स्थूल दृश्य देहों के समान ही भौतिक हैं। इस कारण दार्शनिक दृष्टि से उनकी गणना स्थूल देहों में ही होगी। तथापि यहाँ हमें

केवल मानव-देह में ही आत्मा के आवास का विवेचन करना अभीष्ट है।

जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है, उन्होंने आत्मा को हृदयदेश में स्थित बताया है। किसी वस्तु के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान मस्तिष्क को होता है—यह निर्विवाद है। ज्ञानतन्तुओं अथवा संवाहक नाड़ियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के गोलकों के माध्यम से वस्तुओं का ज्ञान मस्तिष्क को होता है और कर्मेन्द्रियों से जो कार्य कराना है, उसका निर्देश भी मस्तिष्क ही करता है। जब हम पढ़ते हैं, सोचते हैं, स्मरण करते हैं तो उसका प्रभाव भी मस्तिष्क पर पड़ता है। अत्यधिक अध्ययन या चिन्तन से मस्तिष्क थक जाता है। विश्राम के बाद थकान दूर हो जाने से वह पुनः कार्य करने में सक्षम हो जाता है। यह ऐसा अनुभव है जो प्रत्येक मनुष्य को होता है। मेधा, स्मृति, विवेक आदि का केन्द्र भी मस्तिष्क ही है। सुख-दुःख की अनुभूति भी मस्तिष्क में ही होती है। आधुनिक शल्य-चिकित्साशास्त्रियों ने शरीर के सभी अंगों, उनके रूप, आकार, स्थान, कार्य आदि का विस्तृत अध्ययन किया है। उनके अनुसार मस्तिष्क ही ज्ञान आदि का केन्द्र होने से वही चेतना-स्थान है। शल्यचिकित्सा की प्रक्रिया में रोगी को निश्चेष्ट या चेतनाशून्य करने के लिए एनिस्थीसिया का प्रयोग मस्तिष्क पर ही किया जाता है, रक्तक्षेपक हृदय पर नहीं, क्योंकि हम जानते हैं कि पीड़ा का अनुभव वहीं पर अर्थात् मस्तिष्क में ही होता है। मस्तिष्क के शिथिल हो जाने पर भी रक्तसंवाहक हृदय यथावत् कार्य करता रहता है ।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र के अनुसार दो प्रकार की मृत्यु होती है—क्लिनिकल (Clinical) तथा बायोलॉजिकल (Biological)। जब रोगी की नाड़ी आदि का परीक्षण करके हृदय को निःस्पन्द समझकर उसे मर गया मान लिया जाता है तो वह उसकी क्लिनिकल मृत्यु होती है। इस अवस्था में उसका हृदय काम करना बन्द कर देता है और उसकी श्वास-प्रश्वास-क्रिया रुक जाती है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर उसे मरा हुआ मान लिया जाता है। जब तक जीवचेतन की स्थिति शरीर में बनी रहती है, तब तक वह Clinical dead होने पर Biologically dead नहीं माना जाता। Biological death ही वास्तविक मृत्यु होती है। इसलिए वास्तव में वह तब मरता है जब उसका मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है, अर्थात् जब जीवचेतन मस्तिष्क में से निकल जाता है। इस तर्क के आधार पर जीवात्मा का आवास मस्तिष्क में ही सिद्ध होता है।

परन्तु शास्त्रों में जीवात्मा के शरीर में रहने के स्थान के रूप में प्रायः हृदय का ही उल्लेख मिलता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है–**'हृदि ह्येष आत्मा'**–यह आत्मा निश्चित रूप से हृदय में रहता है। छान्दोग्य० (८।३।३) में लगभग इन्हीं शब्दों में कहा है–**'स वा एष आत्मा हृदि'**। अथर्ववेद (१९। ९।५) के भाष्य में सायण ने लिखा है–**'हृदयं हि आत्मा निवासस्थानम्'**।

'कतम आत्मेति? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।' (बृहद्० ४।३।७)–वह आत्मा कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में मन्त्र कहता है कि हृदय के अन्दर जो विज्ञानमय ज्योति है, वही आत्मा है। इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं–

"हृदि तत्रैतत्, प्राणेषु प्राणजातीयैव बुद्धिः स्यादित्यत आह हृद्यन्तः इति। हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डम्, तात्स्थ्याद् बुद्धिर्हृत्, तस्यां हृदि बुद्धौ; अन्तरिति बुद्धिवृत्तिव्यतिरेकं प्रदर्शनार्थम्, ज्योतिरवभासात्मकत्वादात्मोच्यते।"

अर्थात्–'हृदि' हृदय में (वहाँ) यह आत्मा रहता है इसलिए श्रुति कहती है 'हृद्यन्तः'। यहाँ 'हृत्' शब्द से पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड कहा गया है, उसमें रहने से बुद्धि 'हृत्' है। उस 'हृत्' में अर्थात् बुद्धि में (अन्तः यह बुद्धिवृत्ति से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए है) प्रकाशस्वरूप आत्मा को 'ज्योति' कहा गया है। उस प्रकाशस्वरूप आत्मज्योति से चेतनावान्-सा होकर ही देहेन्द्रिय-संघात उधर-उधर जाता और कर्म करता है।

इस समस्त व्याख्या का तात्पर्य है कि सूक्ष्म शरीर से आवृत आत्मा एक योनि से दूसरी योनि में चला जाता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में घूमता-फिरता है, परन्तु इसका आवास हृदय है।

स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति, तस्माद् हृदयमहरहर्वा एवंवित् स्वर्गलोकमेति। (छान्दोग्य० ८।३।३)

यह आत्मा हृदय में अवस्थित है, 'हृदि अयम्' (यह हृदय में है) यही इसकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) है। इस प्रकार जाननेवाला पुरुष स्वर्ग को जाता=प्राप्त करता है ।

य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिंछेते । (बृहद्० २।१।१७)

(सुषुप्ति अवस्था में) यह विज्ञानमय पुरुष (जीवात्मा) ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं को समेटकर हृदय के अन्दर जो आकाश है, वहाँ सोता है।

'हृदय' और 'मस्तिष्क' में इस विरोधाभास का कारण संस्कृत भाषा की एक विलक्षणता है जो संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं देखी जाती। प्रत्येक पद में जितने अक्षर अथवा वर्ण हैं, उनमें से प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र जन्मभूमि–धातु है और उसी के अनुसार उसका अपना स्वतन्त्र अर्थ है। फिर प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न शब्द का नैरुक्त प्रक्रिया से अर्थ किया जाए, तब उसका निहितार्थ स्पष्ट होता है। लोक में पृथिवीस्थ समुद्र प्रसिद्ध है। परन्तु वैसा ही समुद्र अन्तरिक्ष में भी है। अन्तरिक्ष में समुद्र का होना तब तक समझ में नहीं आ सकता, जब तक 'समुद्र' शब्द का अर्थ समझ में न आए। यास्क ने अपने निरुक्त में समुद्र शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है–**'समुद्रः कस्मात्? समुद्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः।'** (निरुक्त २।१।१)–समुद्र को समुद्र क्यों कहते हैं ? जहाँ से जल दौड़ते हैं और जिसकी ओर जल दौड़ते हैं, वह समुद्र कहाता है। पार्थिव समुद्र की ओर नदियों के रूप में चारों ओर से जल दौड़ते हैं और वाष्परूप होकर ऊपर की ओर दौड़कर मेघरूप होते हैं। इसी प्रकार समुद्र से जल अन्तरिक्ष की ओर दौड़ते हैं और मेघरूप में वहाँ से बरसकर पृथिवी की ओर दौड़ते हैं।

हृदय शब्द मस्तिष्क का पर्यायवाची है। इसकी अक्षरार्थ व्याख्या शतपथब्राह्मण (१४।८।४।१) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (५।३) में इस प्रकार की गई है–

तदेतत्र्यक्षरं हृदयमिति। 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरमेति।

हृदय तीन अक्षरों से बना है–हृ-द-य। 'हृ' का अर्थ है लाना, 'द' का अर्थ है देना, और 'इण् गतौ' से बना तीसरा अक्षर है 'य' जिसका अर्थ है गति करना।

जो शरीरावयव ये तीनों कार्य करता है, वह हृदय कहाता है। मस्तिष्क शरीर में व्याप्त संवेदन-(ज्ञान)-तन्तुओं (Sensory nerves) के माध्यम से ज्ञान का आहरण करता है, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों के ज्ञान को लेकर आत्मा को पहुँचाता है। इसी प्रकार प्रेरक तन्तुओं (Motor nerves) के माध्यम से मस्तिष्क कर्मेन्द्रियों को कार्य के लिए प्रेरित करता है। यही मस्तिष्क इस उद्देश्य से सदा गति करता है।

आयुर्वेद की साक्षी–वेद के प्रामाण्य के सम्बन्ध में न्यायदर्शन

में कहा है–

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।

(न्याय० २।१।६८)

अर्थात्–वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद–भाग है, उसके अनुसार कार्यानुष्ठान से अनुकूल फल की प्राप्ति होना प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार वेद के एकदेश के प्रामाण्य से समस्त वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। वेद का यह एकदेश ऐसा है जो दृष्टफल है। इससे उसके अतीन्द्रिय विज्ञान का प्रतिपादक भाग भी अप्रामाणिक नहीं माना जाना चाहिए। हृदय का तो सीधा सम्बन्ध आयुर्वेदशास्त्र से है। उपवेद होने से भी उसका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। यदि शास्त्रविहित बात प्रत्यक्ष से भी सिद्ध हो तो उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता।

कठोपनिषद् में वर्णित (**आत्मानं रथिनं विद्धि**) स्वामी आत्मा, बुद्धिरूपी सारथि, मनरूपी लगाम और इन्द्रियरूपी घोड़े सब शरीर में एकत्र विद्यमान हैं। इन्द्रियों का मस्तिष्क में होना निर्विवाद है–**'शिरो वै देववाहनम्'**। जहाँ घोड़े हैं (**इन्द्रियाणि हयानाहुः**) वहीं लगाम, जहाँ लगाम वहीं लगाम को थामे सारथी–बुद्धि विद्यमान है। तब उनका स्वामी आत्मा दूर कैसे रह सकता है? शिवसङ्कल्प सूक्त (३४।६) में मन को **'हृत्प्रतिष्ठ'** बताया है। पाश्चात्य दर्शन में तो बहुत दिनों तक मन को ही आत्मा माना जाता रहा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ **'हृत्'** अथवा हृदय का मस्तिष्क के पर्यायवाची के रूप में ही प्रयोग हुआ है। अमरकोष में लिखा है–**'चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः'**–चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मन–ये सब एकार्थक हैं। यद्यपि मन एक ही तत्त्व है, तथापि विभिन्न कार्य करने के कारण उसके कई नाम पड़ गए हैं। हमारी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मस्तिष्क आदि सब जड़ पदार्थ हैं। परन्तु चेतना का आश्रय जीवचेतन–आत्मा है। हमें अपने अन्तःकरण के द्वारा जितना भी ज्ञान होता है, उस सब का कर्त्ता आत्मा ही है। इन्द्रियों में तथा अन्तःकरण में प्रकाश तो है, परन्तु उनमें उस प्रकार का प्रकाश नहीं है जो आत्मा में है और जिसे चैतन्य कहते हैं। शिवसंकल्प–मन्त्रों में कहा गया है–**'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** जिसके बिना कोई काम नहीं किया जाता, वह मन है। परन्तु मन तो स्वयं जड़ है, वह कर्त्ता कैसे हो सकता है? इसलिए इसे तत्सहचरितोपाधि से आत्मा के लिए कहा

गया समझना चाहिए। इन मन्त्रों में जो क़ाम मन के बताए गए हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं जिसे रक्तक्षेपक हृदय या उसका कोई अंग करता हो या कर सकता हो। इसलिए यहाँ 'हृत्प्रतिष्ठम्' को 'मस्तिष्कप्रतिष्ठम्' का पर्याय मानना चाहिए।

ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है–**'यत्किञ्चिद्वै मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः'**–मनु का वचन सर्वोपरि है। और मनु का वचन है–**'प्रमाणं परमं श्रुतिः'**–सबसे बड़ा प्रमाण श्रुति है। श्रुति से वेद अभिप्रेत है–**'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'**। यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के शिवसंकल्प के नाम से प्रसिद्ध मन्त्रों के विवेचन से हृदय=मस्तिष्क में आत्मा का आवास होना स्पष्ट है।

हृदय तथा मस्तिष्क

हृदय–आधुनिक आयुर्विज्ञान के पण्डित एवं शरीरशास्त्र (Anatomy) के विशेषज्ञ रक्तप्रक्षेपक हृदय के आकार तथा कार्यकलाप के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्रदान करते हैं, संक्षेपतः वह इस प्रकार है–

A hollow muscular organ which receives the blood from the veins and propels it into the arteries. It is divided by a musculo-membranous septum into two halves—right or venous and left arterial, each of which consists of a receiving chamber (Vertricle); the orifices through which the blood enters and leaves; the ventricles are provided wirh valves, the mitral and aortie for left ventricle, the tricuspid and pulmonic for the right ventricle.

इसका सारांश यह है कि हृदय को एकपेशीय थैली कह सकते हैं। हृदय अंजीर की आकृति का अंग है, जो वक्ष में दोनों फेफड़ों के बीच में स्थित है। उसमें चार कक्ष होते हैं–बायाँ अलिन्द (auricle) और बायाँ निलय (ventricle); दाहिना अलिन्द और दाहिना निलय । बाएँ और दाहिने अलिन्द रक्त को ग्रहण करनेवाले कक्ष हैं जो क्रमशः फेफड़ों से ऑक्सीजनकृत रक्त और शरीर के शेष भाग से (शिराओं द्वारा लाया गया) रक्त ग्रहण करते हैं। बाएँ और दाएँ निलय पम्प करनेवाले कक्ष हैं जो क्रमशः धमनियों द्वारा शरीर में अथवा फुफ्फुसीय परिसंचरणों में धकेलते रहते हैं। दो प्रकार के कपाट बाएँ निलय के लिए और इसी प्रकार दो दाएँ निलय के लिए। इनका उद्देश्य है कि रक्त का प्रवाह एक ही दिशा में रहे।

मस्तिष्क–'सुश्रुत संहिता' में शारीरशास्त्र में हृदय के सम्बन्ध में लिखा है–

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति।।

हृदय का आकार अधोमुख (उलटे रक्खे हुए) कमल के समान है। यह पुरुष की जाग्रत अवस्था में खुला रहता है अर्थात् समस्त क्रियाएँ सम्पन्न करता है। परन्तु स्वप्नावस्था में, मनुष्य के निद्राभिभूत हो जाने पर, बन्द हो जाता है। तात्पर्य यह कि निद्रावस्था में यह सक्रिय नहीं रहता–ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किये जानेवाले सभी कार्य निलम्बित हो जाते हैं।

यहाँ हृदय से मस्तिष्क अभिप्रेत है, क्योंकि रक्त-प्रक्षेपक हृदय तो निद्रावस्था में भी यथावत् अपना कार्य करता रहता है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क का विवरण यहाँ प्रस्तुत है–

The brain is that part of the central nervous system which lies within the cranial cavity. The cerebrum is by far the largest part (of the brain). It is composed of cerebral hemispheres which are partially separated by the false cerebri lying in the longitudinal fissure. The hemispheres cover the other parts of the brain so that these can only be seen on the inferior surface. The surface of each hemisphere is increased by extensive folding. It thus presents a number of grooves between which are blunt ridges. The cerebellum is the second largest mass of nervous tissue. It lies in the posterior cranial fossa, inferior to tentorun cerbelli, and overlaps the posterior surfaces of mid brain, pons, and medula oblongata.

(Cunningham's *Manual of Practical Anatomy*)

बड़ा मस्तिष्क–सिर का यह भाग मस्तिष्क का सबसे अधिक स्थान घेरता है। यह हमारी भृकुटी से चलकर शिर के पीछे उभरे हुए भाग तक फैला हुआ है। इसमें दायाँ और बायाँ दो भाग होते हैं। इन दोनों भागों के बीच की दरार ही इन्हें दो अंगों में बाँटती है। यह दरार मस्तिष्क के सामने से आरम्भ होकर नीचे तक चली जाती है। मन, बुद्धि, चित्त आदि इसी भाग में स्थित हैं।

छोटा मस्तिष्क–मस्तिष्क का यह भाग पीछे की ओर गले से कुछ ऊपर और बड़े मस्तिष्क से कुछ नीचे एक कान से दूसरे कान तक फैला हुआ है। मज्जा, दण्डमूल, मेरुदण्ड के ऊपर के भाग को कहते है। यह मस्तिष्क दो अर्धभागों में बँटकर उसी के दोनों ओर चिपका रहता है। लघु मस्तिष्क का काम पुट्ठों की गति का नियमन तथा सारे शरीर का वशीकरण होता है। शरीर के सन्तुलन में सहायता पहुँचाना इसका

काम है। प्रभावित होने पर विभिन्न गतियों का समन्वय करने में असांकर्य हो जाता है और चलने या खड़े होने में असमर्थता आ जाती है। दोनों ही मस्तिष्कों का निर्माण सफेद तन्तुओं और भूरे रंग के उत्पादन से हुआ है। यह उत्पादन-तत्त्व सुरक्षित रहे, इसलिए हमारी खोपड़ी की रचना ऐसी कठोर की गई है।

बुद्धि (शब्द) ज्ञान का पर्यायवाची होने से विविध क्रियावाला है। इसका विवेचन ऐतरेय उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है–

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि। (३।१।२)

(संज्ञान) सम्यक् ज्ञान, (आज्ञान) विस्तृत ज्ञान, (विज्ञान) विशेष ज्ञान, (प्रज्ञान) पूर्ण ज्ञान, (मेधा) धारणावती बुद्धि, (दृष्टि) देखने की शक्ति, (धृति) धैर्य, (मनीषा) समझ, (जूति) गति, (स्मृति) स्मृति, (संकल्प) दृढ़ निश्चय, (क्रतुरसुः) प्राण, (काम) इच्छा और वश–ये सब आत्मा के नाम हैं।

इस मन्त्र में स्मृति शब्द बुद्धि के पर्यायों में है। स्मृति का आधार चित्त होने से वह बुद्धि से पृथक् नहीं। इस प्रकार बुद्धि, स्मृति, चित्त आदि सब मस्तिष्क के आश्रित हैं।

आयुर्वेद में स्मृति का आश्रयस्थल मस्तिष्क बताया गया है। 'चरक संहिता' में चिकित्सास्थान के अन्तर्गत उन्मादाध्याय में कहा गया है–

चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम्।

अर्थात्–चिन्तादि दोषों से प्रभावित हो जाने पर बुद्धि और स्मृति प्रायः नष्ट हो जाती हैं।

डॉ० एन० एस० केसवानी द्वारा संपादित तथा 'नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया' द्वारा प्रकाशित 'The Science of Medicine and the Physiological Concepts in Ancient and Medieval India' में डॉ० अशोक के० बागची ने अपने एक लेख में लिखा था–

'Strangely enough, everywhere in Ayurveda the word 'hridaya' is used as the seat of mind, intellect, centre for sleep, cousciousness and the similer faculties Charak states, if the 'hridaya' is injured unconsciousness occurs and if it is destroyed the limbs are paralysed and death follows. It is interesting to note that the Latin synonym of 'hridaya' is 'cordis' or cor. The word 'cordis'

(Greek—Kardia) has originated form the Sanskrit root 'Shradh' 'Shradha' or 'Shraddha'. All these words mean respect, which is a quality of the mind and not of the heart. According to Charak the body consists of six limbs—Knowledge, five senses, soul and thought (षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थं पञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।।—चरक-संहिता, सूत्रस्थान, ३०।४५). Therefore, it can be assumed that most of the functions attributed to the 'hridaya' are functions of the brain. The functions of the brain stated in various texts can be summarised as :—

1. It is a place of Atma (Soul)
2. The centre of Chetana (Consciousness)
3. The seat of five senses
4. Store house of Buddhi (Intellect)
5. Store house of Smriti (Memory)
6. The seat of Chitta
7. The centre of Jiva
8. Regulator of Nidra (Sleep)
9. Seat of 'Rajas' (Emotion and Passion)
10. Snayu Kendra (Centre of nervous system)

आदिशंकराचार्य ने बृहद्० (४।३।६) की व्याख्या करते हुए निर्णायक शब्दों में कहा है—**हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डम्'** हृदय शब्द से पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड अभिप्रेत है। पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड मस्तिष्क का ही अपर नाम है। उससे रक्तक्षेपक हृदय का बोध नहीं होता।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोग-सामग्री बाह्य जगत् में ही उपलब्ध है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है; बाहर उसकी गति नहीं। इसलिए उसे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिए सम्पर्क-अधिकारी की आवश्यकता है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता है जो आत्मा की भाँति अभौतिक और शरीर की भाँति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा संपर्क-अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतों का विकार न होने से मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन चारों का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता, इसलिए वे सर्वथा अभौतिक हैं; परन्तु क्योंकि मन सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार अभौतिक होने के कारण वह आत्मा

के निकट है और भौतिक होने के कारण इन्द्रियों के निकट है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी को 'मन' कहते हैं। परन्तु मन भी बाहर नहीं जा सकता है। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य-सम्पादन के लिए उसे भी ऐसे सहायकों की आवश्यकता है जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्पर्क रखते हों। इन्हीं को इन्द्रियाँ कहते हैं और इनसे काम लेनेवाले चेतनजीव को इन्द्र कहते हैं।

इन्द्रियाँ करण हैं, किसी के साधन हैं। साधारणतया बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है। इसलिए बाह्य साधन होने की दृष्टि से इन्हें बाह्य करण कहा जाता है। परन्तु मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का साधारण अर्थ ग्रहण करने में कभी भी बाह्य विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता । इसलिए इन्हें अन्तःकरण कहा जाता है। जिस प्रकार बाह्य विषयों के ज्ञान के निमित्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करने के लिए मन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आन्तरिक अर्थों तथा व्यवहारों—मनन, चिन्तन, स्मरण, संकल्प—के ग्रहण करने के लिए भी अन्तःकरण अथवा आन्तर इन्द्रिय के रूप में आत्मा को मन की अपेक्षा है।

शरीर-रचनाशास्त्र के अनुसार अन्तःकरण के उपकरणों—ज्ञानेन्द्रियों का सङ्गम हमारे मस्तिष्क के चारों ओर देखने में आता है और उसी में समूचे शरीर से आकर ज्ञान-तन्तु भी केन्द्रित हुए हैं। ज्ञान के साधन ज्ञानेन्द्रियों पर मन का अधिकार है और उसी का ज्ञान-तन्तुओं से भी सम्बन्ध है। मन का स्थान बड़े मस्तिष्क में प्रत्यक्ष है। परन्तु मन जड़ है, वह वहीं पर स्थित अपने स्वामी आत्मा के निर्देशानुसार कार्य करता है। उसके निकलते ही वह सर्वथा निष्क्रिय हो जाता है।

जब हम किसी विषय में गंभीरतापूर्वक चिन्तन करने पर भी निर्णय नहीं कर पाते तो मस्तिष्क पर विशेष बल लगाते हैं। निर्णय करना बुद्धि का काम है, रक्त-प्रक्षेपक हृदय का नहीं । इस निर्णय की प्रक्रिया में थकता भी मस्तिष्क ही है, हृदय नाम से प्रसिद्ध अंग नहीं। अतः बुद्धि का आवास भी मस्तिष्क ही ठहरता है। जब हम किसी भूली-बिसरी बात को याद करते हैं और उसके संस्कार की खोज के लिए प्रयत्नशील होते हैं तो हम माथे पर हाथ रखकर एकाग्रचित्त होकर बैठ जाते हैं, क्योंकि चित्त का स्थान बुद्धि के ऊपर की ओर बड़े मस्तिष्क में ही है। हमारी वाणी, हाथ, पैर, मल-मूत्र के स्थान—इन चारों कर्मेन्द्रियों का समुदाय मस्तिष्क के नीचे के भाग में रहता है। त्वगिन्द्रिय सब शरीर में है, इसलिए

मस्तिष्क के नीचे के भाग में भी है। इनसे काम लेते समय मस्तिष्क पर विशेष बल नहीं देना पड़ता।

आप्तवचन एवं प्रमाण

सुश्रुतसंहिता में लिखा है–

प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद् भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्।।

(शारीरस्थान अ० ५, श्लोक ४८)

प्रत्यक्ष किए हुए ज्ञान की पुष्टि यदि शास्त्रोक्त वचन से भी हो जाए तो दोनों मिलकर ज्ञान को असन्दिग्ध कर देते हैं।

अथर्ववेद में जीवात्मा का निवास-स्थान मस्तिष्क बताया है। वहाँ इस अंग की रूपरेखा, आकृति आदि का विशद वर्णन देकर दिशा दी गई है। अथर्ववेद के दशम काण्ड के द्वितीय सूक्त का २७वाँ, ३१वाँ, ३२वाँ तथा ३३वाँ मन्त्र इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। केनोपनिषद् का मूलाधार अथर्ववेद का यही सूक्त है। यहाँ उद्धृत मन्त्रों के विवेचन से शरीर में आत्मा के आवास का निश्चित पता मिल जाता है–

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः।।२७।।
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।३१।।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।।३२।।
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्।।३३।।

अर्थ–(वै) निश्चय से (तत्) वह (शिरः) सिर अर्थात् मस्तिष्क (अथर्वणः) अटल, कूटस्थ परमेश्वर का है, (देवकोशः) इन्द्रियों का खज़ाना है, (समुब्जितः) सिर की खोपड़ी में सुरक्षित है। (तत्) उस (शिरः) सिर अर्थात् मस्तिष्क की (अभिरक्षति) रक्षा करते हैं (प्राणाः) प्राण, (अन्नम्) अन्न और (मनः) मन।

मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र में परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, अतः मस्तिष्क को अथर्वा कहा है। मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का घर है, अतः यह देवकोश है। खोपड़ीरूपी कोश के भीतर यह देवकोश

रहता है, इसलिए इसे समुब्जितः कहा है (कोशे कोशः समुब्जितः-अथर्व० ९।३।२०)। मस्तिष्क सर्वाधिक मूल्यवान् रत्न है। रत्नों को कोश अर्थात् वेदी में रखकर, पेटी को कमरेरूपी कोश में रक्खा जाता है। मस्तिष्क की रक्षा होती है प्राणमय, अन्नमय तथा मनोमय कोश द्वारा, अथवा प्राणायाम द्वारा, सात्त्विक अन्न द्वारा, तथा मनन अर्थात् विचार द्वारा।

देवकोश—समस्त ज्ञानेन्द्रियों के स्थूल रूप बाह्य गोलक शिरोभाग में विद्यमान हैं; परन्तु इन ज्ञानेन्द्रियों की सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्तियों का केन्द्र मस्तिष्क में ही है, क्योंकि इन्द्रियों का वास्तविक स्वरूप शक्त्यात्मक ही है। बाह्य गोलकों के यथावत् होने पर भी शक्ति के उत्पन्न हो जाने पर आँखों से दीखना या कानों से सुनना बन्द हो जाता है। अतः यहाँ देवकोश शब्द मस्तिष्क का ही वाचक है। अथर्ववेद ६।१५।१ में इसी देवकोश को देवसदन कहा है।

इस मन्त्र में 'अथर्वा' परमेश्वर का ही वाचक प्रतीत होता है। परमेश्वर का जितना विस्तृत और स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में है, उतना अन्य किसी वेद में नहीं मिलता। सम्भवतः इसी कारण इस वेद का नाम अथर्ववेद हो।

प्राण—वैदिक वाङ्मय में प्राण शब्द अनेकार्थवाची है। प्रस्तुत मन्त्र में प्राण पद का अर्थ आत्मा है—**प्राणो हिं प्रियः प्रजानाम्'** (तै० ब्रा० २।३।९।५)। इस भौतिक शरीर में यही अभौतिक तत्त्व है—अमृतस्वरूप है—**'अमृतं वै प्राणः'** (कौ० ब्रा० ११।४।१४।४)। अथर्ववेद के प्राणसूक्त (१०।४) में प्राण शब्द से जीव=प्राणी का ही ग्रहण किया है। अन्नमय तथा मनोमय कोशों का विवरण उपनिषदों का विषय है।

अष्टाचक्रा—इस देह किंवा ब्रह्मपुरी में आठ चक्र हैं—(१) **मूलाधार चक्र**—गुदा के पास पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) की समाप्ति का स्थान मूलाधार चक्र; (२) मूलाधार चक्र से ऊपर उपस्थेन्द्रिय का मूल स्थान **स्वाधिष्ठान चक्र**; (३) नाभिस्थान में **मणिपूरक चक्र**; (४) हृदयप्रदेश (वक्षःस्थल) में **अनाहत चक्र**; (५) कण्ठप्रदेश में **विशुद्धि चक्र**; (६) तालुमूल या जिह्वामूल में **ललना चक्र**; (७) भ्रूमध्य (दोनों भौहों के बीच) में **आज्ञा चक्र**; (८) मस्तिष्क (ब्रह्मरन्ध्र) में **सहस्रार चक्र**।

ये मुख्य चक्र हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी चक्र हैं। प्रत्येक चक्र में प्राण पहुँचने पर वहाँ से अद्भुत शक्ति का विकास होता है। इन आठ चक्रों के कारण यह नगरी बड़ी शक्तिशाली है। जो मनुष्य इन

आठ केन्द्रों को अपने अधीन कर लेता है, उसको शारीरिक आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, सुप्रजा-निर्माण की शक्ति, इन्द्रियों की स्वाधीनता, मन की शान्ति, बुद्धि की समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त हो जाते हैं।

नवद्वारा—दो आँखों के छिद्र, दो नासिका के छिद्र, दो कर्णछिद्र, मुख, मलद्वार तथा उपस्थ, ये नौ द्वार हैं इस अयोध्या के। परमेश्वर-प्रदर्शित मार्गों पर चलने से रोग तथा काम, क्रोध, लोभ, मोहादि, शत्रुओं द्वारा यह नगरी पराजित नहीं होती—इसी से यह 'अयोध्या' (अपराजेय) कहलाती है। इसी के बीच कहीं इन देवों (इन्द्रियों) के स्वामी इन्द्र (आत्मा) का आवास है। इसकी पहचान बतलाते हुए वेद कहता है—

हिरण्ययकोश—(तस्य) उस पुरी में एक ऐसा कोश (स्थानविशेष) है जो (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान चमकीला है, स्वर्गसदृश है तथा ज्योतिषावृत अर्थात् ब्राह्मी ज्योति से प्रकाशित है। पाणिनि (५।४।२१) के अनुसार मयट् प्रत्यय प्राचुर्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'हिरण्यय' पद का अर्थ हुआ हिरण्य अर्थात् सुवर्ण की प्रचुरता अथवा अधिकता से बना हुआ। इस पुरी में खोज करने पर पता चला कि मस्तिष्क में एक ऐसा अवयव है जो ईषत्पीत वर्ण की प्रचुरता से बना है और प्रकाशमय भी है। आधुनिक शरीरशास्त्र में उसे 'आज्ञाकन्द' या 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। कविराज गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ 'प्रत्यक्षशारीरम्' में मस्तिष्क की आकृति आदि का वर्णन आधुनिक चिकित्साविज्ञान में प्रतिपादित शल्यक्रिया द्वारा प्रत्यक्ष के आधार पर किया है। वह इस प्रकार है—

'आज्ञाकन्दौ नाम धूसरवस्तुभूयिष्ठौ कन्दौ ब्रह्मगुहामुभयतो वर्त्तेते । ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तराले मध्यरेखायां दृश्या गुहा तनु त्रिकोणपरिखाकारा तदेव क्वचित् ब्रह्महृदयमिति हृदयमिति वा व्यवहरन्ति प्राञ्चः॥ -भाग ३, अ० ६, पृष्ठ ७९

दो आज्ञाकन्दों के बीच में जो त्रिकोणाकार अवकाश है, वह ब्रह्मगुहा अथवा ब्रह्मयोनि है। उसे ही प्राच्यविद्याविशारद ब्रह्महृदय अथवा हृदय नाम से भी व्यवहृत करते हैं।

ऐसा ही वर्णन आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ चरकसंहिता के सूत्रस्थान में निम्न श्लोक में मिलता है—

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्।
ओजः शरीरे समाख्यातं तन्नाशान्नाप्रणश्यति॥ १७।१५

हृदय में अर्थात् मस्तिष्क में जो हल्का पीला और लाल रंग मिश्रित

द्रव रहता है, वही ओज=जीवनी शक्ति है। उसके नष्ट होने पर पुरुष जीवित नहीं रहता।

रक्त-प्रक्षेपक हृदय के साथ इस वर्णन का सामंजस्य कैसे सम्भव है? वहाँ लाल-पीले रंग के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अथर्ववेद का मन्त्र है–

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संश्रितानि।

इस मन्त्र में मन के सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों को ब्रह्म=आत्मा के साथ हृदय में स्थित बताया है। आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। इन्द्रियों का शिर=मस्तिष्क में होना सर्ववादीसम्मत है। वेद ने आत्मा को भी इन्द्रियों के साथ जोड़ दिया और इस प्रकार उसे भी मस्तिष्क में बिठा दिया।

शरीर में आत्मा का आवास कहाँ है–यह मुख्यतः आयुर्वेद का विषय है। उसका वचन निर्णायक होना चाहिए। चरक सूत्रस्थान अध्याय १७ में कहा है–

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तममङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥

अर्थात् इन्द्रियों की स्थिति शिर में है। इसे ही अध्यात्मविद् 'हृदय' कहते हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि रक्त-प्रक्षेपक के सन्दर्भ को छोड़कर शास्त्र में अन्यत्र सर्वत्र हृदय शब्द से मस्तिष्क ही अभिप्रेत है।

स्वर्ग–वैदिक साहित्य में जहाँ कहीं स्वर्ग की चर्चा हुई है, वह उसे ऊर्ध्वदिशा में अर्थात् भूमण्डल से ऊपर की ओर निर्देश किया है। संभवतः इसी आधार पर लौकिक व्यवहार में स्वर्ग और नरक द्युलोक और पाताललोक में समझे जाते रहे हैं। इस मन्त्र में स्वर्ग का अर्थ शरीर के ऊर्ध्वभाग में स्थित उत्तमाङ्ग शिर अथवा मूर्धा है। मूर्धा में हिरण्यय कोश को स्वर्ग कहा गया है। हिरण्यय कोश शरीर के ऊर्ध्वभाग में अवस्थित है, इसी आधार पर इसे स्वर्ग कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।२।१।१५) में वाक्य है–'**ऊर्ध्वम् उ वै स्वर्गो लोकः, उपरीव स्वर्गो लोकः।**' यहाँ भी स्वर्ग को ऊर्ध्वस्थानीय बताया गया है। ब्रह्माण्ड में स्वर्ग 'आदित्यलोक' है, पृथिवी पर त्रिविष्टप को स्वर्ग माना गया है। इस शरीर में स्वर्ग, मस्तिष्क का अवयवभूत यही हिरण्यय कोश है।

ज्योतिषावृत–हिरण्यय कोश की रचना पीताभ वर्णवाले पदार्थों

से हुई है, अतः इसके लिए यह विशेषण सर्वथा उपयुक्त है। पूर्वोक्त आज्ञाकन्दों के धूसरवर्ण होने के कारण वेद का उन्हें ज्योतिषावृत कहना उचित है। कठोपनिषद् (४।१३) में लिखा है–**"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवावधूमकः"** अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है। धूमरहित ज्योति के समान उसका वर्णन पीताभवर्ण की स्थिति को स्पष्ट करता है। आज्ञाकन्दों के मध्य अवकाश में पुरुष का आवास होने से उसे अंगुष्ठमात्र कह दिया गया है।

तस्मिन् हिरण्ययेे–उस सुवर्ण के सदृश चमकीले (त्र्यरे) तीन अरों वाले, तथा (त्रिप्रतिष्ठते) तीन बन्धनों द्वारा स्थित कोश में अर्थात् (तस्मिन्) ऐसे उस (कोशे) कोश में (आत्मन्वत् यक्षम्) शरीरधारी जीवात्मा को (वै) निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता (विदुः) जानते हैं। **'आत्मा वै तनूः'**–(शतपथ० ६।७।२।६)।

'त्र्यरे'=अरे (spokes) चक्र के घटकावयव होते हैं जो चक्र की नाभि तथा परिधि के बीच लगे होते हैं। इसी प्रकार हृदय के घटक तीन गुण अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण तीन अरों द्वारा अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। हृदय भावनाओं का स्थान माना जाता है। भावनाएँ भी तीन प्रकार की होती हैं-सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक।

दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में थोड़ा-सा अवकाश रहता है। इसमें एक प्रकार का गाढ़ा-सा स्निग्ध तरल पदार्थ भरा रहता है। यहीं आत्मा का आवास है। दोनों आज्ञाकन्दों का यह अवकाश त्रिकोण-सा प्रतीत होता है, इसलिए इसका एक विशेषण 'त्र्यर' दिया गया है। इसकी आकृति ऐसी प्रतीत होती है, जैसे कोई वस्तु तिखुटी या तीन पायों पर रक्खी हो। इसलिए इसे 'त्रिप्रतिष्ठित' (तीन स्थानों पर ठहरा हुआ) कहा गया है। समस्त शरीर में और कोई ऐसा अवयव नहीं, जिसके साथ इस वर्णन का सामंजस्य हो सके।

प्रभ्राजमानाम्–प्रदीप्यमान, (हरिणीम्) मनोहारिणी या क्लेशहारिणी, (यशसा) यशस्वी ब्रह्म द्वारा (संपरीवृताम्) सब ओर से सम्यक् प्रकार से आवृत या सुरक्षित, (हिरण्ययीम्) सुवर्ण सदृश चमकीली, (अपराजिताम्) रोग, काम-क्रोध आदि द्वारा अजेया (पुरम्) पुरी में (ब्रह्म) जीवात्मा (आ विवेश) प्रविष्ट हो गया है। 'ब्रह्म' पद यहाँ जीवात्मा का ही वाचक है–**"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ।"** (अथर्व १०।२।३०)।

वक्षस्थ हृदय के आकार तथा उसके कार्यों (functions) की तुलना वैदिक वाङ्मय में हृदय की पुण्डरीकाकृति एवं कार्यों से की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्व, उपनिषद् तथा आयुर्वेदशास्त्र में व्याख्यात पुण्डरीकाकार, अधोमुख, ज्योतिषावृत हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण हो सकता है, रक्त-प्रक्षेपक वक्षस्थ हृदय का नहीं। फलतः जीवात्मा का आवास शिरोभाग-स्थित मस्तिष्क ही ठहरता है।

ऋषि दयानन्दकृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के उपासना प्रकरण में लिखा हुआ है–"कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है।"

ऋ० भा० भू० में छान्दोग्य उपनिषद् (९।१।१) से उद्धृत सन्दर्भ इस प्रकार है–

"यद् इदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुरण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।"

इसका सीधा अर्थ इस प्रकार है–"इस ब्रह्मपुर में जो यह छोटा-सा कमल-आकृति घर है, उसमें भीतर अत्यल्प अवकाश है, उसमें जो बैठा है, उसे ढूँढना और जानना चाहिए। साधारणतया 'ब्रह्मपुर' पद यहाँ स्थूल शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस शरीर में कमलाकृति छोटा-सा घर है। यह मस्तिष्क के दो भागों की सन्धि में अवस्थित है। उसके मध्य में जो थोड़ा-सा अवकाश है, वहाँ आत्मा का आवास है, उसे वहीं आत्मा द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

उद्धृत सन्दर्भ में कौन-से शब्द हैं जिनका अर्थ 'कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर में ऊपर' निकलता हो या खींचतान करके भी निकल सकता हो?

वस्तुतः आत्मा का आवास मस्तिष्क में होना श्रुति-(वेद)-सम्मत, उपनिषद्, आयुर्वेदशास्त्र आदि से अनुमोदित तथा पूरी तरह तर्कप्रतिष्ठित है। ऋषि दयानन्द का मत इसके विपरीत नहीं हो सकता। ऋ० भा० भू० में संस्कृत-भाग निश्चय ही ऋषिकृत है। हिन्दी-अनुवाद के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। यहाँ उद्धृत अंश संस्कृत में होने से भी उसका प्रामाण्य नहीं है। ऋषि दयानन्द ने तो यहाँ तक लिखा है–"हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। यदि कोई मेरी भी गलती आगे पाई जाए, तो युक्तिपूर्वक परीक्षा करके

उसको भी शोध लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह (आर्यसमाज) भी एक मत हो जाएगा।"

(ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन सं० ३, भाग २)

आप्त–ऐतिह्य प्रमाण–इस विषय में ऋषि दयानन्द का निजी मत क्या है इसका पता एक सत्यापित घटना से लग जाता है, जो इस प्रकार है–

सोरों में स्वामी जी उपदेश कर रहे थे। एक दिन एक जाट क्रोध में भरा हुआ मोटा लट्ठ लिये हुए सभा में आया और आते ही स्वामी जी से बोला–"क्यो रे, तू ही मूर्तिपूजा का खण्डन करता है और गंगा मैया की निन्दा करता है? देवी-देवताओं को बुरा कहता है? झटपट बता, यह लट्ठ कहाँ मारकर तुझे सीधा करूँ?" स्वामी जी ने गम्भीरतापूर्वक उससे कहा–"यदि तू समझता है कि धर्म-प्रचार करना बुरा है तो इसका अपराधी तो मेरा यह मस्तिष्क (सिर) है जिससे ये सब बातें निकलती हैं। अपराधी को दण्ड देना है तो अपना लट्ठ मेरे सिर पर मार।" यह कहकर उन्होंने अपनी दृष्टि उस आततायी पर डाली। महाराज की आँखों से आँखें मिलते ही उसका हिंस्र भाव विलुप्त हो गया और चरणों पर गिरकर अपने आँसुओं से स्वामी जी के पाँवों को धोते हुए क्षमा माँगने लगा। पहले उनकी सीधी बातों ने उसे अभिभूत किया और फिर उनकी दया ने उसे परास्त कर दिया।

–देवेन्द्र कुमार मुखोपाध्यायकृत 'महर्षि दयानन्द जीवनचरित'

क्या ऋषि ने अपने मन, वचन और कर्म से यह स्पष्ट नहीं कर दिया कि कर्त्ता का आत्मा शिरोभाग में स्थित मस्तिष्क में ही है, वक्षस्थ रक्तप्रक्षेपक हृदय में नहीं?

□□

आदिमानव की जन्मभूमि

विकासवाद के सन्दर्भ में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे अनादि काल से अपने वर्तमान रूप में हैं। भौगोलिक विभाग शास्त्र के अनुसार द्वीप-द्वीपान्तर में बसे प्राणी, जो शारीरिक भेद से अलग-अलग प्रतीत होते हैं, कभी एक भूमिभाग से जुड़े होने के कारण एक ही प्रकार के माता-पिता से उत्पन्न हुए थे। अलग-अलग कई वंशों, जातियों, प्रजातियों तथा उपजातियों से किसी प्राणी का जन्म नहीं हुआ, प्रत्युत सब एक ही पितामह की सन्तान हैं। जो हाल अन्य प्राणियों का है, वही मनुष्य का भी समझना चाहिए।

बिना बीज के जड़ और निर्जीव रेत से वृक्षों के अंकुर नहीं फूटते। बीज भी आप ही आप नहीं निकलता, किन्तु खोजकर लाया जाता है और अनुकूल स्थान में बोया जाता है—जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल होता है, उसका खाद्य बहुतायत से मिलता है, जहाँ उसका विस्तार हो सकता है और जहाँ उसे आँधी-ओले से सुरक्षित रक्खा जा सकता है। माली पहले क्यारी में पौधा तैयार करता है, फिर वहाँ से पौधे ले-लेकर यथास्थान सारी फुलवारी में रोपता है और आवश्यकतानुसार बाहर भी भेजता है। तात्पर्य यह कि बीज सर्वत्र पैदा नहीं होता, एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है। इसी बीज-क्षेत्रन्याय के अनुसार मनुष्य भी पहले किसी एक ही स्थान पर पैदा हुआ और फिर संसार में फैल गया। प्रारम्भ में मनुष्य ऐसे स्थान पर पैदा हुआ होगा जहाँ का जल-वायु उसके अनुकूल हो, खाद्य-सामग्री सुलभ हो और जहाँ वह अधिक से अधिक सुरक्षित रह सके । मनुष्य ही नहीं, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि के लिए भी ऐसा स्थान उपयुक्त होगा।

सृष्टि के आदि में उत्पन्न सभी मनुष्य कभी एक ही छत के नीचे रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे—यह सृष्टि के आदि की बात है। यह कौन-सा स्थान था, यह अन्वेष्य है। आधुनिक काल में ऋषियों की परम्परा में अन्यतम, वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञ महर्षि दयानन्द ने अपने अमर

ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में इस विषय में विचार किया और उसका निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया–

प्रश्न–मनुष्यों की आदि-सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर–त्रिविष्टप में जिसको तिब्बत कहते हैं।

प्रश्न–आदि-सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक?

उत्तर–एक मनुष्यजाति थी।

अद्यतन (latest) वैज्ञानिक खोजों से ऋषि दयानन्द के मन्तव्य की पुष्टि हुई है। बड़ौदा से प्रकाशित Indian Express के १६ फर्वरी १९९५ के अङ्क के अनुसार–"Scientists have propounded the theory that human life originated in Tibet after the Planets greatest intercontinental collision. They have come out with a hypothesis that all human life is formed out of the uplift of the Tibetan plateau when the Indian subcontinent crashed into Asia many million years ago.

The hypothesis has been propounded by a team of international geologists who went public last week in a BBC documentary shedding new light on climate shifts and solar radiation. Based on their findings, an article in Hong Kong based South China Morning Post said the scientists believe India was dragged towards Asia in the age of the dinosaurs. It collided and dug under Asia to a distance of two thousand Kms. Deformed strata, once horizontal, now upward, is evident across Tibet showing the effect of the collision, they were quoted as saying.

Eventually, Tibet stopped rising upward between five and eleven years ago and began to collapse, dropping in earthquake-prone fault lines.

The article quoted the leader of the team Dr. Maureen Raymo of the Massachusetts Institute of Technology as saying "this land mass has huge impact on the circulation of the atmosphere in the northern hemisphere. It heats up in the summer in convections of hot air, the winds can't go over it, they have got to go around it."

The scientists say with a half height Himalayas, Southeast Asia and ironically some parts of currently desert East Africa would be wet .

They also examined fossils found in northern China and Tibet to demonstrate how plants once found at low latitudes were now evidenced in rock some 5000 metres above sea level.

The analysis of stratum in both the rivers and ocean sediments gave clues about the uplift of the Himalayas."

अर्थात् वैज्ञानिकों की खोज के अनुसार ग्रहों की सबसे बड़ी अन्तर्महाद्वीपीय टक्कर के बाद मानव-जीवन की उत्पत्ति तिब्बत में हुई थी। उन्होंने एक परिकल्पना की कि सम्पूर्ण मानवीय जीवन का उद्भव तिब्बती पठार के उत्थान के साथ तब हुआ है, जब भारतीय उपमहाद्वीप व एशिया की टक्कर कई करोड़ वर्ष पूर्व एशिया महाद्वीप में हुई। यह अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त भूगर्भ-वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित की गई। इन वैज्ञानिकों ने गत सप्ताह ब्रिटिश ब्राडकास्टिङ्ग कार्पोरेशन (BBC) के वृत्तचित्र में विश्व के जलवायु-परिवर्तन एवं सौर विकिरण पर नया प्रकाश डाला है।

उनके अन्वेषण एवं निष्कर्षों के अनुसार हाँगकाँग से प्रकाशित दक्षिण चीन के 'Morning Post' के एक लेख में वैज्ञानिकों ने विश्वास व्यक्त किया है कि डायनासोर-युग में भारत एशिया की ओर घिसटता चला गया। उसने टक्कर मारी और एशिया महाद्वीप के भीतर लगभग दो हजार किलोमीटर तक धँस गया और तभी धरातल का विरूपित संस्तर ऊपर की ओर उठ गया जो तिब्बत के दूसरी ओर से टक्कर मारने को प्रमाणित करता है।

अन्ततः ५० से ११० लाख वर्ष पूर्व तिब्बत का ऊपर उठना बन्द हो गया और अधोमुखी ज्वालामुखी से प्रभावित क्षेत्र में गिरने लगा।

वैज्ञानिक दल के नेता, मसाच्यूटस तकनीकी संस्थान के अध्यक्ष डॉ० मौरीन रैमो के कथन को उद्धृत करके लेख में कहा गया है कि इस भूभाग के उत्तरी गोलार्द्ध के वायुमण्डल के परिसञ्चालित होने पर बहुत बड़ा प्रतिघात हुआ जिससे यह गर्मियों की गर्म हवा के संवहन से तापित हुआ और हवाएँ इसके ऊपर से होकर चलने की बजाय उसके चारों ओर से चलने लगीं।

वैज्ञानिकों का कहना है कि हिमालय अपनी आधी ऊँचाई तक, दक्षिणी-पूर्वी एशिया, और विडम्बना ही कहें कि इस समय के पूर्वी अफ्रीकन मरुस्थलों के कुछ भाग भी नम रहे होंगे। उन्होंने उत्तरी चीन तथा तिब्बत से प्राप्त जीवाश्मों (Fossils) का परीक्षण किया ताकि वे सिद्ध कर सकें कि किस प्रकार पेड़-पौधे जो कभी निचले भूभागों में पाए जाते थे, आज समुद्रतल से ५००० मीटर ऊँचे शैलों में देखे जा सकते

हैं। नदियों एवं समुद्री निक्षेपों द्वारा किये गए विश्लेषणों ने भी हिमालय के उत्थापन की गति के बारे में कुछ संकेत दिये हैं।

H.G. Wells in his "An outline of History" said, 'astronomers and mathematicians give us 200 million years as the age of the earth as a body separate from the Sun.'

कहते हैं कि सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण सृष्टि जलमग्न थी। क्रमशः उससे पृथिवी बनकर बाहर निकलने लगी—'अद्भ्यः पृथिवी' (उपनिषद्)। हिमालय निर्विवाद रूप से सबसे ऊँचा है। निश्चय ही वही सबसे पहले बाहर निकला होगा। उसी में वनस्पति हुई और उसी पर सबसे पहले मनुष्यादि प्राणियों की सृष्टि हुई। हिमालय बहुत विशाल भूखण्ड का नाम है। प्राणियों की नर्सरी इतने विस्तृत क्षेत्र में तो हो नहीं सकती। तिब्बत विशाल हिमालय के अन्तर्गत अपेक्षाकृत एक सीमित भाग का नाम है। हिमालय का नाम ही बता रहा है कि वह सदा हिमाच्छादित रहता है, इसलिए वह प्राणियों की सृष्टि के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता। इसी कारण अपेक्षाकृत कम शीतवाला प्रदेश तिब्बत मानवोत्पत्ति के लिए उपयुक्त ठहरता है। वस्तुतः वहाँ सर्दी और गर्मी जुड़ती हैं।

संसार में ऋतुएँ चाहे कितनी कही जाएँ, पर सर्दी और गर्मी दो उनमें मुख्य हैं। यही कारण है कि समस्त भूमण्डल में सर्द और गर्म दो ही प्रकार के देश कहे जाते हैं। कुछ प्रदेश दोनों के मिश्रण से बने पाए जाते हैं। तब भी वहाँ दो में से एक की प्रधानता रहती है। भारत की गिनती गर्म देशों में की जाती है, परन्तु उसमें भी कश्मीर, शिमला, मसूरी, कुल्लू-मनाली, दार्जिलिङ्ग, नैनीताल आदि के पर्याप्त क्षेत्र ऐसे हैं जो अपने शैत्य के कारण प्रसिद्ध हैं। कड़ाके की सर्दी के दिनों में भी दक्षिण और पश्चिम के प्रदेशों में वैसी सर्दी नहीं पड़ती। तिब्बत में आज भी लगभग पचास लाख लोग रहते हैं। शिमला आदि में भी जहाँ सर्दियों में बर्फ पड़ती है, बड़ी संख्या में लोग रहते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार मानव-सृष्टि के आदिकाल में मानसरोवर के आसपास का क्षेत्र शीतोष्ण जलवायु से युक्त था। भारतीय साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। किसी समय वर्तमान राजस्थान का अत्यधिक भाग समुद्र-जल से आच्छादित अथवा आप्लावित था। अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें सुपुष्ट प्रमाण यह है कि राजस्थान के इस विशाल भाग में अनेक ऐसी झीलें पाई जाती हैं। इनमें सबसे बड़ी झील साँभर झील के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी लम्बाई अधिक से अधिक

२० मील और चौड़ाई कम से कम दो से सात मील तक हो जाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ९० वर्गमील हो जाता है। इस अकेली झील से प्रतिवर्ष लगभग ३५ लाख मन से अधिक नमक तैयार किया जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक छोटी-छोटी झीलें यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। इससे प्रतीत होता है कि कभी अत्यन्त प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्र-जल से ढका-भरा हुआ था।

किसी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्तन से उथलकर समुद्र पीछे हट गया और उसके ये चिह्न शेष रह गए। हमारी याद में कभी यमुना लालकिले की दीवारों को छूती थी और इसका जल चाँदनी चौक में बहता था। इसलिए यह मानने में कोई असामंजस्य नहीं है कि सृष्टि के आदिकाल में वर्तमान तिब्बत का जलवायु मानव-सृष्टि के लिए आज की अपेक्षा भी अधिक उपयुक्त रहा होगा।

कतिपय विद्वानों ने ध्रुव-प्रदेश को मनुष्योत्पत्ति का स्थान माना है। बहुत दिन हुए, वार्न साहब ने 'Paradise found or the Cradle of Human Races at the North Pole' नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने आदिमानव-सृष्टि का उत्पत्ति-स्थान ध्रुव-प्रदेश को बताया था। इसी पुस्तक के आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'Arctic Home in the Vedas' लिखी जिसमें उन्होंने आर्यों का आदिदेश या मूलनिवास-स्थान उत्तरी ध्रुव को ही सिद्ध किया था, परन्तु जब डॉक्टर काला ने बताया कि तीन लाख वर्ष में पृथिवी की केन्द्रच्युति तीन बार हुई है, और उत्तर ध्रुव-प्रदेश में तीन बार हिमपात का तूफान भी आया है, तब से यह माना जाने लगा कि ऐसे स्थान में मनुष्यजाति की आदिसृष्टि नहीं हो सकती। ध्रुव-प्रदेश में वनस्पति भी नहीं होती। मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल भी नहीं होते। इसके विपरीत पसीना निकलनेवाले छोटे-छोटे रोम होते हैं। इसलिए वह अतिशीत प्रदेश में रहनेवाला प्राणी नहीं है। पूना के पावगी साहब ने यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि ध्रुव-प्रदेश में मनुष्य-सम्बन्धी जो चिह्न पाए गए हैं, उनसे पता चलता है कि वहाँ मनुष्य तब पहुँचा, जब अन्यत्र रहते हुए वह काफी उन्नति कर चुका था। इन सब तथ्यों के होते हुए उत्तर ध्रुव में आदि-काल में मनुष्योत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

मनुष्य का स्वाभाविक प्रधान भोजन दूध और फल हैं–**'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्।'** (वेद)। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से मिलते

हैं । जब मनुष्य दूध और फल के बिना और पशु वनस्पति के बिना नहीं रह सकते तो मनुष्य ऐसे स्थान में उत्पन्न नहीं हो सकता, जहाँ ये पदार्थ उपलब्ध न हों। विकासवाद के अनुसार भी वह ऐसे स्थान में पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य से पहले वहाँ बन्दर होना चाहिए और बन्दर निश्चितरूप से फलाहारी है। हिमालय ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य के लिए अपेक्षित समस्त खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

मूल स्थान के आसपास ऐसी विस्तृत भूमि होनी चाहिए जहाँ रहकर मनुष्य संसारभर में रहने की योग्यता प्राप्त करके पृथिवी में सर्वत्र फैल सके। हिमालय को स्पर्श करता भारत ऐसा देश है जहाँ सब छहों ऋतुएँ वर्तमान रहती हैं। इस सर्वगुणसम्पन्न देश में सब रंग-रूपों के आदमी निवास करते हैं। ऐसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्यों की आदिसृष्टि हिमालय पर ही हुई।

सभी देशों में बसनेवाले लोगों को किसी न किसी रूप में अपने मूलदेश के रूप में हिमालय की स्मृति बनी हुई है। भारतीय आर्यों की हिमालय से और ईरानी आर्यों की भारत से आने की स्मृति आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। चरक-संहिता के प्रमाण से सिद्ध है कि आर्य लोग हिमालय से ही भारत में आए थे और बीमार होकर एक बार फिर अपने निवास हिमालय को लौट गए थे। इतना ही नहीं, कुछ समय बाद उनके फिर लौटकर भारत में बसने का उल्लेख मिलता है। चरक-संहिता (चिकित्सास्थान ४।३) में लिखा है–

"बहुत दिनों तक आर्यलोग हिमालय में रहे (हिमालय से यहाँ तिब्बत-जैसा स्थान ही अभिप्रेत हो सकता है, न कि हिमाच्छादित माउँट एवरेस्ट-जैसा)। फिर उन्होंने हिमालय से उतरकर भूमि तलाश की। जिस रास्ते से वे आए, उसका नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। यहाँ आकर वे कुछ दिन तो रहे, पर जल-वायु, खान-पान आदि दोषों के कारण बीमार होकर फिर अपने मूल निवास हिमालय को लौट गए। परन्तु कुछ काल के पश्चात् वे फिर यहाँ आए। इस बार उन्होंने यहाँ के जंगलों को काटकर बसने-योग्य बना लिया और इस आबाद देश का नाम आर्यावर्त्त रक्खा।"

यह विवरण शतपथब्राह्मण (१।४।१।१४) में भी उपलब्ध है। मैक्समूलर का कहना है कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे और फिर यहाँ से ईरान गए थे। इसका एक प्रमाण अवेस्ता में कतिपय ऐसे शब्दों का पाया जाना है जो संस्कृत में नहीं मिलते, पर

ईरान से आगे की भाषाओं में मिलते हैं। व्याख्या-सहित ऐसे शब्दों की सूची भी मैक्समूलर ने दी है। (Maxmueller : Selected Essays on language, Mythology and Religion, P. 277-78) ईरान में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों में भी आर्यों के भारत से ईरान में जाकर वहाँ बसने की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है–"कुछ हज़ार साल पहले आर्यलोग हिमालय से उतरकर आए और वहाँ का जलवायु अनुकूल पाकर वहीं बस गए। ईरान के बादशाह अपने नाम के साथ 'आर्यमेहर' (सूर्यवंशी आर्य) की उपाधि लगाते रहे, क्योंकि वे अपने को सूर्यवंशी मानते थे।

ईरानी साहित्य और पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उनकी और आर्यों की भाषा का मूल भारत ही था। स्वयम् अवेस्ता में त्वष्टा के वंशजों के 'आर्यव्रज' (आर्यावर्त्त=आर्यन वेजो–Aryana Vaejo=आर्यनिवास) से पलायन का उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार देवों के भय से ईरानी १६ देशों में मारे-मारे फिरते रहे। सर्वप्रथम उनका निवास आर्यावर्त्त=आर्यनवेजो=आर्यावीजो में ही था। यहीं से उन्होंने अन्य देशों में प्रस्थान किया। अनेक जातियाँ हिमालय के दूसरे प्रचलित नाम 'मेरु' का स्मरण भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं–भारतीय आर्य 'मेरु' ज़ेन्द (Zend) भाषावाले 'मेरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिण तुर्किस्तानवाले 'मेरुव', मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुरव' कहते हैं।

हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश बहुतायत से पाए जाते हैं। भारत में हिमालय के दक्षिण में शिवालक पहाड़ियों की खुदाई करने पर बहुत बड़ी संख्या में पशुओं के जीवाश्म (fossils) और ठठरियाँ प्राप्त हुई हैं। उन ठठरियों में अनेक प्रकार के वानरों की भी ठठरियाँ हैं। ऑसबोर्न (Osborn) ने अपनी पुस्तक 'Men of the old Stone age' में तिब्बत तथा मंगोलिया को आदिक्षेत्र में बताया है। ग्रैबो (Grabau) ने केवल तिब्बत को माना है। नई खोजों की गवेषणा के आधार पर मानव के आदि-पूर्वजों का आदि उद्‌गम-क्षेत्र (Cradle land) शिवालक का दक्षिणी प्रदेश था जो बाद में उत्तर में तिब्बत-आक्सस तक चला गया था (S.D. Kaushic, Indo-Tibetan cradle land of Humanity. Proceedings of National Academy of Science, 1964, Vol. 34, pp 49–61) । पृथिवी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जो हिमालय-स्थित प्राणियों के शेषांगों से अधिक पुराने चिह्न दे सके। इससे प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य से पहले उत्पन्न होनेवाले और उसके जीवन के आधार वृक्ष और गौ आदि पशु पूर्वातिपूर्व काल में उत्पन्न हो गए थे, अतएव हिमालय आदिसृष्टि उत्पन्न

करने की पूर्ण योग्यता रखता था। इसलिए मानवसृष्टि के लिए हिमालय ही सर्वाधिक उपयुक्त स्थान ठहरता है। वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य के आदियुग में मानसरोवर के आसपास का क्षेत्र शीतोष्ण जल-वायु से युक्त था। नाना पावगी ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यावर्त्तान्तील आर्यांची आदि-जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि हिमालय ही हमारे देवताओं का आदिकालिक जन्मस्थान है। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता अविनाशचन्द्र दास ने अपने प्रशंसित ग्रन्थ 'Rigvedic India' में लिखा है–"On the other hand, if it refers to the "Consallation of Ursha Major' which is most prominent in the northern parts of India and particularly in the high table-land north of Kashmere and the peaks of Himalaya from which the Vedic bard may have made his observations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon."

—*Rigvedic India,* p. 376

अर्थात् वेदों में उत्तर की ओर के नक्षत्रों का जो वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें कश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों से ही देखा था।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative philology) के जनक माने जानेवाले एडेलुंग (Adelung) की साक्षी से टेलर ने लिखा है–"मनुष्यजाति की जन्मभूमि स्वर्ग-तुल्य कश्मीर ही है। तिब्बत और कश्मीर को मिलाकर कहा जा सकता है कि क्षेत्र में गर्मी और सर्दी जुड़ती है। महाभारत में लिखा है–

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावकः।
अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः।
ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तमः॥

संसार में हिमालय अपनी पवित्रता के लिए विख्यात है। उसके अन्तर्गत आधा योजन चौड़ा और पाँच योजन लम्बा मेरु पर्वत है, जहाँ मनुष्यों की उत्पत्ति हुई । यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुह आदि नदियाँ निकलती हैं। यह प्रमाण इस तथ्य का निश्चायक है कि आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि में मनुष्योत्पत्ति के लिए परमेश्वर ने अपनी नर्सरी इसी क्षेत्र में तैयार की थी। जिस मेरु स्थान का महाभारत के उक्त श्लोकों में निर्देश किया गया है, उसी के पास '**देविका पश्चिमे पार्श्वे मानसं सिद्धसेवितम्**' देविका के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' (मानसरोवर) है जो तिब्बत के अन्तर्गत है। यह हम पहले लिख चुके

हैं कि वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्यों के आदियुग में मानसरोवर के आसपास का क्षेत्र समशीतोष्ण जलवायु से युक्त था।

एक मनुष्य-जाति थी

संस्कृत का जाति शब्द 'जनि प्रादुर्भावे' धातु से बना है जिसका अर्थ उत्पन्न होना है। व्यक्ति द्रव्य है और आकृति उसका गुण। प्रत्येक व्यक्ति में एक आकृति रहती है। उसी से उस जाति का बोध होता है। प्राणिशास्त्र में जाति का निश्चायक एक ऐसा लक्षण है जो व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा निर्दोष एवम् उपयोगी है। जो व्यक्तियाँ अपने-समान सन्तति को जन्म देती हैं, उनकी जाति एक होती है। इस प्रकार जाति शब्द सदा से उत्पत्ति या समूह के भाव को लिये रहता है। यह निर्णय करना हो कि **दो प्राणी एक जाति के हैं या दो भिन्न जातियों के, तो यह देखना चाहिए कि उनमें यौन-सम्बन्ध होता है या नहीं।** इसी विचार को गौतम मुनि ने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है- **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** (न्याय० २।२।६८)। इंगलिश में मानो इसी का रूपान्तर किया है—like begets like. यदि दो प्राणियों में यौन-सम्बन्ध नहीं होता तो उनकी दो भिन्न जातियाँ मानी जाएँगी। यदि होता है तो यह देखना होगा कि इस सम्बन्ध से सन्तान होती है या नहीं। यदि नहीं होती, तो भी वे भिन्न जातियाँ हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है। घोड़ों और गधों में यौन-सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्ध से उनको सन्तान भी होती है जिसे खच्चर कहते हैं, परन्तु इस खच्चर को सन्तान नहीं होती । इसलिए घोड़े और गधे दो भिन्न जातियाँ हैं। परन्तु कोई भी दो प्रकार के घोड़े हों तो उनकी वंश-परम्परा चलती रहेगी, इसलिए सब घोड़े सजातीय हैं। इस कसौटी पर परखने से मनुष्यमात्र एक जाति है। रंग-रूप, विद्या, धन, बल आदि में लाख भेद हों, पर सब प्रकार के मनुष्यों में यौन-सम्बन्ध होता है और वंश-परम्परा चलती है। समाज ने देश-काल की सीमाओं के आधार पर अथवा धर्म, भाषा, रीति-रिवाज आदि के नाम पर कितने ही भेद कर रखे हों, पर प्रकृति की दृष्टि में सब मनुष्यों की एक ही जाति है। मनुष्य अपने पूर्वजों को नहीं बदल सकता; वह अपने माता-पिता का चुनाव नहीं कर सकता; इसलिए वह अपनी जाति बदलकर दूसरी जाति भी नहीं अपना सकता। प्रत्येक अवस्था में वह मनुष्य ही रहेगा। इसी आधार पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रचलित रूढ़ि की परवाह न करके ब्राह्मण, क्षत्रियादि को

वर्ण नाम से पुकारा है, जाति नाम से नहीं और जाति, अर्थात् वर्ण तोड़कर विवाह-सम्बन्ध को वैधता प्रदान की है, क्योंकि उन सब में यौनसम्बन्ध होता है और उससे वंश-परम्परा भी चलती है।

विकासवादियों का कहना है कि सिंह (Lion) और व्याघ्र (Tiger) के संयोग से सन्तति होती है जिसे Tigon (Tiger+lion) कहते हैं। इस प्रकार की सन्तति होने से स्पष्ट है कि दोनों का उद्गम-स्थान एक है। भेड़िये और कुत्ते के मेल से भी सन्तान होती है। शिकारी लोग इस प्रकार पैदा हुए कुत्तों को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि उनमें कुत्ते की-सी स्वामिभक्ति और भेड़िये की-सी क्रूरता होती है।

यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु जैसे घोड़े और गधे के संयोग से उत्पन्न सन्तान से वंश नहीं चलता, वैसे ही सिंह और व्याघ्र के संयोग से उत्पन्न सन्तान से भी वंश-परम्परा नहीं चलती। सिंह और व्याघ्र से उत्पन्न सन्तति-अनुसन्तति धीरे-धीरे व्याघ्र की या सिंह की शक्ल की हो जाती है। कलमी आम की गुठली बोने से वृक्ष पैदा होता है और उस पर फल भी लगते हैं, पर इस प्रकार का कलमी आम धीरे-धीरे छोटा होता हुआ तुख़मी आम के आकार का हो जाता है जिसमें कलम लगाई थी।

इसलिए **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** के अनुसार जिस प्रकार सम्पूर्ण मनुष्य-जाति एक है, उस प्रकार समस्त प्राणियों की जाति एक नहीं हो सकती।

□□

अन्य लोकों में सृष्टि

ऋषि दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा कि "सूर्य, चन्द्र, तारे आदि जितने भी लोक हैं उनमें भी मनुष्यादि प्रजा रहती है।" इसका प्रमाण उन्होंने यजुर्वेद के व्याख्या-ग्रन्थ शतपथब्राह्मण से उद्धृत करके लिखा–

'एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ।'–शतपथ० १४।६।९।४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र, और सूर्य–इनका नाम 'वसु' इसलिए है कि इनमें सब पदार्थ और प्रजा बसते हैं; क्योंकि ये वास=निवास के घर हैं, इसलिए इनका नाम 'वसु' है। जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, तब उनमें इसी प्रकार की प्रजा होने में क्या सन्देह? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा है, तो क्या वे सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नहीं होता। तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो क्या वह सफल हो सकता है? इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

प्रश्न–जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति है, वैसी ही अन्य लोकों में भी होगी, या विपरीत?

उत्तर–आकृति में कुछ-कुछ भेद होना सम्भव है। जैसे भारत, चीन, यूरोप, हब्शी आदि के नाक-नक्श, रंग-रूप में अन्तर होने से आकृति में थोड़ा-थोड़ा भेद है, वैसे ही लोक-लोकान्तर के प्राणियों में भी भेद हो सकता है। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, उस जाति की वैसी ही सृष्टि अन्य लोकों में भी हो सकती है और जिस-जिस शरीर के प्रदेश में जैसे-जैसे नेत्रादि अंग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे होते हैं, क्योंकि–

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

–ऋग्वेद १०।१९०।३

अर्थात् परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्षादि जैसे इस सृष्टि में रचे हैं, वैसे ही लोक-लोकान्तरों में भी बनाए हैं। (सत्यार्थ० समु० ८)

ऋषि के इस मन्तव्य की पुष्टि 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के २० जनवरी १९९६ के अंक में प्रकाशित वैज्ञानिकों के इस वक्तव्य से हो गई है-

"U.S. space scientists said, they had discovered two new planets whose environments might he able to support life. The giant-35 eight years away from the earth—are thought to have surface conditions that would allow the formation of water in liquid form and, therefore, life.

Life is now possible. There is a harbour , a site on which life might form. Geoffrey Marcy of the San Francisco State University astrophysicist who made the discovery, said after a presentation at the annual meeting of the American Astrophysical Society.

"We watched 'Star wars', We watched, 'Star trek', and (star track captain) Jean Lue Picard had no trouble finding the planets, but we professionals did", he said. And now finally, there is a site for Jean lue for extraterrestrial life.

Marcy, alongwith fellow researcher Paul Butler, discovered the new planets in the Virgo and Ursa Majer constallations. They are bigger than Jupiter, but not visible to the naked eyes.

One of the planets is thought to have a surface temperature of 85 degrees calsius, below water's boiling point of 212 Fahrenheit" SANANTONIO, Tex, Jan 19 (Reuter)

इस खोज से इस धारणा का प्रत्याख्यान हो जाता है कि आधुनिक विज्ञान पृथिवी से अतिरिक्त लोकों में जैवी सृष्टि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। अद्यतन अध्ययन एवम् अनुसन्धानों को दृष्टि में रखते हुए अब निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि ऋषि दयानन्द की आर्ष दृष्टि ने सन् १८७५ में जो देखा था वह निराधार नहीं था। इस सन्दर्भ में कैलिफोर्निया के Pasondona नगर में सम्पन्न अन्तरिक्ष-वैज्ञानिकों तथा खगोलशास्त्रियों की गोष्ठी का यह विवरण द्रष्टव्य है—

" Scientists searching for intelligent life in outer space say the odds, if not the evidence tell them extraterrestrials exist. I would be willing to bet one hundred dollars that between now and the time I die, we will find evidence of intelligent life" said Ali Hibbs , a retired space scientist at the National Aeronautics and Space Administration's jet propulsion laboratory.

Carl Sagan, a famous Cornell University astronomer said that "in a universe of 100 billion galaxies, each has a few hundred stars, the idea that our sun is the only star with an inhabited planet is laughable.Where do we come off to imagine we are the only kind of life in the universe ?" he asked.

The speakers agreed that there has as yet to be a single confirmed report of an unidentified flying object or U.F.O. from another planet, but most of them said they believed intelligent life must exist beyond earth.

Because there is evidence, planets may exist around a dozen nearly stars and because the chemical evolution that produced life on earth exists throughout the known universe, the probability for intelligent life elsewhere is 100 percent," said Frank Drake, dean of Natural Sciences at the university of California Santa Cruz campus. Drake said it is possible extraterrestrial tourists view earth as a zoo. They are already here but choose not to rveal their presence.

We are, as best as we can tell, the result of completely normal processes. Therefore, life should be abundant in the universe, said Drake who is also President of the Search for Extraterrestrial Intelligence Institute, NASA-Funded effort to search from radio signals for alien civilisation.

According to Drake in our galaxy alone, "once a year a new species of intelligent creatures emerges."

—Indian Express, 7.4.1987

Life possible on Jupiter

There could be life forms on the moon of Jupiter and Saturn, even though the conditions prevailing there were drastically different from those of earth, according to Director of Indian Institute of Astrophysics Bangalore, Dr. J. C. Bhattacharya.

Talking to P.T.I. Dr. Bhattacharya said it would be erroneous to assume that life forms could exist only in an Earth like atmosphere where the content of oxygen was a plenty and the temperature moderate. For instance, even as Earth there were some micro-organisms which thrived in total absence of oxygen like the titauns virus which lived in anerobic conditions.

" In Galapagos island near Pacific ocean there are places where temperature of water is as high as 350°c and even in such places bectrias have been found to survive," Dr. Bhattacharya added.

Dr. Bhattacharya, along with over 300 space scientists, was in the city in connection with a national space symposium, organised by the Indian Space Organisation (ISRO) and the Nagpur University on 16.3.1990.

इस प्रसंग में नई दिल्ली से प्रकाशित 'नवभारत टाइम्स' के २४ मार्च १९९० के अंक में प्रकाशित यह विवरण भी द्रष्टव्य है—

हमारी दुनिया यह नहीं मानती कि उसके अलावा और भी कोई दुनिया है। पृथिवी का आदमी अपनी दुनिया से इतना आश्वस्त है कि कि वह अन्य ग्रहों और आकाशगंगाओं पर बुद्धिमान् प्राणियों के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं कर सकता। वह सोचता है कि ऐसा कैसे हो सकता है कि उस-जैसे आदमी या उससे भी अधिक बुद्धिमान् प्राणी अन्यत्र हो सकते हैं !

हमारी पृथिवी पर आई उड़नतश्तरियों और उनमें से निकले प्राणियों की बात यहाँ हम नहीं कर रहे, यद्यपि यहाँ पर जीवन की सचाई का यह एक शक्तिशाली मुद्दा हो सकता है। अनेक लोगों ने इन प्राणियों को देखा है, लेकिन अभी तक ये आमने-सामने नहीं हुए हैं। इसलिए कह नहीं सकते कि इनमें कितनी बुद्धि है और ये किस हाड़-मांस के बने हैं।

अब तो खगोलविदों ने ऐसे विशाल रेडियो टेलिस्कोप फ़िट कर दिये हैं कि वे अन्य ग्रहों से आए सन्देशों को पकड़ सकते हैं। अमरीका की राष्ट्रीय अन्तरिक्ष एजेंसी 'नासा' तथा केलिफोर्निया के कुछ इंजीनियरों का यह कहना है कि अन्य ग्रहों पर बुद्धिमान् प्राणियों की खोज का काम जारी रखना चाहिए, चाहे इसमें सफलता की सम्भावनाएँ कम ही क्यों न हों। दूर अन्तरिक्ष में सभ्यताओं के सन्देश प्राप्त करने के लिए हमें पूरी तरह तैयार रहना चाहिए। 'नासा' का कहना है कि सन्देश प्राप्त करने या सुनने के लिए असली प्रयत्न कोलम्बस दिवस (अक्टूबर १९९२) पर शुरू होंगे। उस समय क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज की ५००वीं वर्षगाँठ मनाई जाएगी। अन्य ग्रहों के प्राणियों की खोज के काम में दस साल लगेंगे और इस पर कम से कम नौ करोड़ पचास लाख डालर खर्च होंगे। कोलम्बस-समारोह से पहले भूगोल के अलावा बुद्धिमान् प्राणियों की खोज का कार्यक्रम 'सेटी' कई साल से चल रहा है। अब इस कार्यक्रम में तेज़ी शुरू की गई है। समय-समय पर पूरे आकाश का 'स्केनिंग' किया जा रहा है। उस संकेत की तलाश है जो पृथिवी के आदमी को धोखा दे रहा है। पता नहीं कब पकड़ में आ जाए !

सान फ्रांसिस्को से दक्षिण में सिलिकन घाटी में नासा के एक्स रिसर्च सेंटर में 'सेटी' का सदर मुकाम है। प्रोजेक्ट की निर्देशिका डॉ० जिल टारटर का कहना है–"यह महत्त्वपूर्ण है कि इस देश को अन्य ग्रहों के प्राणियों की खोज के लिए कुछ करना चाहिए।" जिल कहती हैं कि हम अरबों फ्रीक्वेंसी में से किसी पर सन्देश सुन सकते हैं। यदि कोई सन्देश सुना गया तो ब्रह्माण्डीय प्राणियों से बात करना मुश्किल नहीं होगा। उनकी भाषा समझ ली जाएगी, क्योंकि भाषाओं के सैकड़ों स्वरूप तैयार कर लिये गए हैं। रेडियो-सन्देश प्रकाश की गति से जाते हैं, फिर भी हमारे सौरमण्डल के पास के किसी पिण्ड से संकेत के आने-जाने में दस वर्ष लग जाएँगे।

एक बात बड़ी अजीब है। वैज्ञानिक कहते हैं, हमें अभी तक कोई सन्देश नहीं मिला है, लेकिन हमें यह नहीं मानना चाहिए कि अन्य ग्रहों पर प्राणी नहीं हैं। अभी यन्त्रों को ठोका-बजाया जा रहा है और देखा जा रहा है कि उन्हें कैसे इस्तेमाल किया जाए। एक यन्त्र-प्रणाली ऐसी है जो एक-साथ एक करोड़ चैनलों पर सन्देश ग्रहण कर सकती है। इसमें एक बहुचैनल वर्णक्रम-विश्लेषक यन्त्र लगा है। इस यन्त्र को मोहावे रेगिस्तान में नासा के 'गोल्डस्टोन टोही केन्द्र' से जोड़ दिया गया है, जहाँ २६ मीटर व्यास का डिश ऐण्टीना लगा है। यदि कोई संकेत पकड़ में आ जाता है तो यह कैसी विकसित सभ्यता होगी जो किसी अन्य प्राणी की खोज में अपना सन्देश भेज रही है ! वे कह सकते हैं–"सुनो, मैं यहाँ हूँ, सुनो, सुनो !" हो सकता है, यह कोई जटिल सन्देश हो, जो मानवीय मस्तिष्क या सबसे अधिक विकसित कम्प्यूटर की समझ से भी बाहर हो।

अनेक वर्षों से वैज्ञानिक मानते आए हैं कि पृथिवी के अलावा भी बुद्धिमान् प्राणी हैं। खगोल-विद्या ने हमें पाठ पढ़ाया है कि साधारण कार्बन-आधारित अणु सारे ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। पृथिवी पर ऐसे ही रासायनिक निर्माण-अणु हैं। कहा जाता है कि हमारी आकाशगंगा में ही बुद्धिमान् प्रजातियों की संख्या एक से एक करोड़ तक हो सकती है। लेकिन यह गणना करना मुश्किल हो रहा है कि इनमें से कौन-सी प्रजाति कब तक उतनी विकसित हो सकती है कि वह सन्देश भेज सके। अभी यह भी नहीं मालूम कि इन प्रजातियों का अलग-अलग कितना जीवन-काल है।

यह भी सवाल उठ सकता है कि आकाशगंगा की जीवित विकसित सभ्यताओं ने अपनी तकनीकी प्रगति के आधार पर अब तक हमें सन्देश क्यों नहीं भेजे? यदि भेजे होते तो हमें अवश्य मिलते। हो सकता है कि आकाशगंगा की ये शक्तियाँ पृथिवी के आदमी को जान-बूझकर अपने सम्पर्क से दूर रख रही हों। यह भी हो सकता है कि उनकी संचार-प्रणाली रेडियो नहीं हो, कोई और प्रणाली हो जो मानवीय वैज्ञानिकों की प्रणाली से अलग है।

अब अन्य सभ्यताओं की खोज के लिए यह दशक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। यदि हमसे अधिक विकसित सभ्यताओं के चिह्न मिल गए तो आदमी का अहं दूर हो जाएगा, और उसे यह मानना पड़ेगा कि उसकी दुनिया के अलावा और भी दुनिया है। तब यहाँ दयानन्द द्वारा इसी प्रसंग में उठाए गए प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है।

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है या नहीं?

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्य-व्यवस्था-नीति (तदधीन) सब देशों की समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

अपने सामर्थ्याधिक्य के कारण परमेश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता तथा असंख्य जीवों के कर्मफल की यथावत् व्यवस्था करते हुए सबकी रक्षा करता है। सृष्टि के विधान वेद का निर्माता होने से वह विधाता कहलाता है। वह विधान सबके लिए समान है। उसके सभी कार्य उस विधान के अनुसार होते हैं। वह स्वयं भी विधान से ऊपर या परे नहीं है। विधाता के निर्भ्रान्त होने से उसमें कभी किसी प्रकार का संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं होता।

Pathfinder finds rocks similar to Earth

By Matt Crenson

PASADONA : The first chemical analysis of a stone by the Mars Pathfinder robot geologist has yielded a surprising result, indicating it might be a kind of volcanic rock common on Earth, scientists said on Tuesday.

Data from the Sojourner Rover's Alpha Proton X-ray spectrometer suggests that the football-sized rock nicknamed Barnacle Bill might be a kind of Andesite, the second most common type of lava on Earth.

"We were not expecting to see a rock of this composition," said Hap McSween, a scientist from the University of Tennessee. He said he had thought from pictures of the rock that it might be basalt, another common type of volcanic rock.

however, he emphasised there was no confirmation that Barnacle Bill was formed by volcanic action, suggesting it could also be a Sedimentary rock.

Data also showed that sunrises and sunsets on Mars are longer and brighter than on Earth because of the amount of dust in the atmosphere, said Nicholas Thomas of Germany's Max Plank Institute.

"You can see is sky is bright as the sun is going down. That's caused by dust," he said as he showed a tall and narrow picture of a slice of sky.

On Monday, scientists displayed photographic evidence that torrents bigger than any flood ever seen on Earth once swept across the spot where Mars Pathfinder now sits.

The pictures show boulders stacked by poweful currents; giant ripples in the rocky landscape and stains left behind by longevaporate puddles.

Such features are unmistakable evidence that dramatic floods scoured the Martian landscape more than a billion years ago, scientists said.

"This was huge," Pathfinder scientist Michael Malin said on Monday.

Geologists have known since the Viking missions 21 years ago that giant floods once swept the now dry planet. But the Pathfinder pictures are the most powerful yet.

"My hope is within the next couple of days to quantify the magnitude of this flood," Malin said.

In its first days on Mars, Sojourner has rolled no more than a few metres since leaving its perch on the Pathfinder lander. (AP)

पाथफाइँडर से मंगल के चित्र मिलना शुरू

पासाडोना (ए०एफ०पी०): अमेरिकी अन्तरिक्षयान 'पाथ-फाइँडर' ने मंगल ग्रह से चित्र भेजने शुरू कर दिए हैं। छह पहिए वाले रोबोट 'सोजोर्नर' ने जो श्याम-श्वेत चित्र भेजे हैं उनसे ग्रह

की सतह निर्जन और पथरीली नजर आती है। शुक्रवार को ग्रह पर सफलतापूर्वक उतरने के सात घण्टे बाद भेजे गए इस चित्र के बाद ग्रह के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की उम्मीदें बढ़ गई हैं। अमेरिका में मंगल के चित्रों के साथ ही स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जा रहा है।

ग्रह से भेजे गए चित्र में शिलाखण्ड दिखाई देते हैं, जो दूर से देखने में पहाड़ी नजर आएगी। नासा की यहाँ स्थित जेट प्रोपल्सन प्रयोगशाला से जारी चित्रों में ग्रह पर यान के उतारते वक्त इस्तेमाल में लाई एयरबैग तथा रोबोट के यान में लगा सौर ऊर्जा उपकरण भी दिखाई देता है।

अभियान में संलग्न एक अधिकारी रिचर्ड कुक ने कहा कि अभियान हमारी सोच से कहीं अधिक सफल रहा है। पाथफाइँडर की बैटरियाँ ७६ प्रतिशत चार्ज हैं और सौर ऊर्जा उपकरण ऊर्जा पैदा कर रहे हैं तथा यान का सम्पर्क रोबोट से बना हुआ है। यान मंगलग्रह पर सूर्योदय से दो घण्टे पहले उतरा। उसने सात महीने में ४९ करोड़ ७० लाख किलोमीटर की यात्रा तय की। इससे पूर्व १९७६ में अमेरिकी वाइकिंग यान एक और दो ग्रह पर उतरे थे, लेकिन १९८२ में उन्होंने सूचना भेजना बन्द कर दिया था।

मंगलग्रह पर 'सोजोर्नर' ने अपना काम शुरू कर दिया है। उसे ग्रह की सतह के इर्द-गिर्द घूमकर फोटोग्राफ लेने हैं और शिलाखण्डों का परीक्षण करना है। छह पहियों वाले 'सोजोर्नर' वाहन के पहिए की परिधि मात्र १३ सेंटीमीटर है। वह प्रति सेकण्ड मात्र एक सेंटीमीटर की चाल से ग्रह की सतह नापेगा। करीब ढाई करोड़ डालर की लागत से निर्मित सोजोर्नर में तीन कैमरे और एक स्पैक्ट्रोमीटर लगा है जो ग्रह के सतह की रासायनिक रचना का अध्ययन करेगा। वाहन कम से कम एक हफ्ते सतह पर घूमेगा। उसे ऊर्जा उसमें लगे सौर ऊर्जा उपकरणों से मिल रही है।

अपनी लाल सतह और जमीन से मिलते-जुलते स्वरूप के कारण मंगल ग्रह वैज्ञानिकों के लिए आकर्षण का विषय रहा है। उपन्यासों, कथाओं और हालीवुड की फिल्मों में इसे लेकर कई कल्पनाएँ सामने आती रही हैं। रोम के युद्ध देवता के नाम पर रखे गए नाम वाले मंगल ग्रह का आकार धरती का आधा और चन्द्रमा

का दोगुना है। वहाँ का एक दिन धरती के एक दिन से थोड़ा अधिक २४ घण्टे ३७ मिनट का होता है। सौर मण्डल के सभी ग्रहों से यह ग्रह धरती से अधिक साम्य रखता है। अगर पाथफाइँडर का अभियान सफल रहता है, तो अगली सदी के शुरू में मंगल ग्रह वैज्ञानिकों की खोज का केन्द्र होगा।

एच०जी० वेल्स द्वारा १९९८ में लिखित उपन्यास 'वार ऑफ द वर्ल्ड' में जमीन पर मंगल ग्रह के लोगों के हमले का काल्पनिक वर्णन किया गया था। इससे वहाँ जीवन को लेकर कल्पनाओं का दौर चल पड़ा। खासकर हालीवुड की फिल्मों में 'छोटे हरे मनुष्यों के धरती पर हमले की कथाएँ' दर्शकों की भीड़ जुटाने वाले विषय रहे हैं।

पिछले वर्ष तक ऐसा कोई संकेत नहीं मिला था जिससे लगे कि मंगलग्रह पर कभी जीवन रहा होगा। वैज्ञानिकों ने अण्टार्कटिका से प्राप्त साढ़े चार अरब साल पुराने उल्कापिण्डों के आंकड़ों के बल पर गत वर्ष अगस्त में कहा कि साढ़े तीन अरब साल पहले मंगल ग्रह पर जीवन होने की सम्भावना हो सकती है। सन् २००५ में नासा रोबोट-युक्त एक यान मंगलग्रह भेजेगा, जो मिट्टी और शिलाखण्डों के नमूने धरती पर भेजेगा। उनसे ग्रह के बारे में अधिक अध्ययन में मदद मिलेगी। अगर ये परीक्षण सफल रहे तो नासा मंगलग्रह पर भी वैसा ही अपोलो यान भेजेगा, जैसा तीस साल पहले चाँद पर भेजा गया था।

वर्तमान प्रचलित धारणाओं के अनुसार मंगलग्रह कभी बहुत अधिक गरम और नमी लिये था। ऐसे संकेत मिले हैं कि उसकी सतह पर कभी झील रही होगी और पानी बहता होगा। वहाँ जीवन की कल्पना को इस तथ्य से बल मिलता है।

वैज्ञानिकों को उम्मीद है कि मंगल पर खोज से उन्हें यह पता लग सकेगा कि उसमें परिवर्तन कैसे आया। इसके सहारे धरती पर होने वाले उसी तरह के परिवर्तनों को रोकने के प्रयास में मदद मिल सकती है।

मंगल में सृष्टि

जैसे-जैसे वैज्ञानिकों की खोज बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ऋषि

दयानन्द के मन्तव्यों की पुष्टि होती जाती है। जुलाई १९९७ में वैज्ञानिकों का एक दल मंगल ग्रह पर पहुँचा। उन्होंने जो कुछ वहाँ देखा उसके विवरण से मंगल में सृष्टि का होना सिद्ध हो गया है। उस विवरण के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं, उनके अनुसार मंगलग्रह में बहुत-कुछ हमारी पृथ्वी के समान जान पड़ता है......... ।

मंगल-पृथ्वी में सबसे ज्यादा समानता

पासाडोना (भाषा): पाथफाइँडर द्वारा भेजे गए मंगलग्रह के शिलाखण्ड के चित्र और स्पैक्ट्रस से यह धारणा पुख्ता साबित हो गई है कि सौरमण्डल के सभी ग्रहों की बनिस्बत मंगलग्रह पृथ्वी से सबसे अधिक साम्य रखता है। वैज्ञानिकों ने प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर यह घोषणा की। अब वे इस बात को साबित करने में लगे हैं कि जिन उल्कापिण्डों को मंगल का माना जाता रहा है, वे वाकई वहीं से गिरे हैं। इन उल्कापिण्डों में मंगल के प्राचीन जीवन के जीवाश्म समाहित बताए जाते हैं।

पाथफाइँडर में गए रोबोट (सोजोर्नर) ने अल्फा प्रोटन एक्स-रे स्पैक्ट्रोमीटर से चट्टानों के जो स्पैक्ट्रस भेजे हैं, उनसे महत्त्वपूर्ण जानकारी हाथ लगने की उम्मीद है। 'वारनाकल बिल' नामक चट्टान पर विकिरण से उसमें एक-तिहाई भाग सिलेका और खनिज-मिश्रित क्वार्ट्ज़ होने के संकेत मिले हैं। चन्द्रमा से प्राप्त शिलाखण्डों में क्वार्ट्ज़ की मात्रा नहीं थी। यही कारण है कि मंगल-ग्रह सौरमण्डल के सभी ग्रहों यहाँ तक कि चन्द्रमा से भी अधिक पृथ्वी से साम्यवाला ग्रह हो सकता है।

पाथफाइँडर की सफलता से वैज्ञानिक प्रसन्न हैं। अभियान से जुड़े टेनेसी विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक हेप मैकस्वीन ने कहा कि क्वार्ट्ज़ का होना हमारे खोज की नई कड़ी बन गया है। यह जानकारी मंगलग्रह के चाँद से अधिक पृथ्वी के साम्य होने की बात साबित करती है। साथ ही शिलाखण्ड के रासायनिक फिंगरप्रिंट्स जमीन पर मिले उन १२ उल्कापिण्डों के अनुरूप हैं, जिन्हें वैज्ञानिक अरबों साल पहले मंगल से गिरा मानते हैं। नासा की जेट प्रोपल्सन प्रयोगशाला में उत्सुक पत्रकारों को वैज्ञानिकों ने बताया : अब हम

कह सकते हैं कि इससे मंगलग्रह की १३ चट्टानों का विश्लेषण कर लिया गया है। १२ उल्कापिण्डों में से अलास्का से प्राप्त उल्कापिण्ड का दो साल पूर्व नई तकनीक से परीक्षण करने के बाद पता लगा था कि उसमें जैव अणु और लौह खनिज के यौगिक हैं।

डॉ० हेप ने बताया कि क्वार्ट्ज़ तीन तरह से बनता है– ज्वालामुखी से, चट्टान पिघलकर ठण्डी होने से, तथा पानी से बहकर जमीन पर पहुँचने से। उन्होंने कहा मंगल पर क्वार्ट्ज़ बनने की तीनों सम्भावनाएँ हो सकती हैं। जिस जगह पाथफाइँडर उतरा, उसके करीब ज्वालामुखी के मुख–जैसा गड्ढा देखा गया और सोमवार को इस साक्ष्य की घोषणा की गई थी कि वह क्षेत्र ऐसा लगता है मानो अरबों साल पहले वहाँ भयंकर बाढ़ आई हो।

उन्होंने कहा कि शनिवार को भेजे गए शिलाखण्डों के चित्रों के सूक्ष्म अध्ययन तथा स्पैक्ट्रस के व्यापक विश्लेषण से वैज्ञानिकों को अधिक जानकारी मिलेगी कि यह चट्टान कैसे बनी।

उन्होंने कहा कि अगर मंगल का शिलाखण्ड ज्वालामुखी से निकला साबित हुआ, तो वह इण्डीज़ पर्वत में लावा से निकले पदार्थों की तरह हो सकता है। जमीन पर पाए जाने वाले लावा के दूसरे सबसे अधिक समान पदार्थों में यह एक है, जिसे 'एण्डीसाइट' का नाम दिया गया है। वाकई यह चौंकानेवाली बात है। इस तरह के मिश्रणवाली चट्टान मिलने की उम्मीद नहीं थी।

उन्होंने बताया कि चट्टान के मिश्रण में दो अन्य तत्त्व हैं फेल्डसपर और ओर्थोपायरोक्साइन । ये दोनों धरती की चट्टान में पाए जाने वाले आम खनिजों में से हैं।

उन्होंने कहा कि हालाँकि सोजोर्नर का स्पैक्ट्रोमीटर क्वार्ट्ज़ का पता लगाने में सक्षम नहीं है, लेकिन चट्टान में क्वार्ट्ज़ होने के बारे में हम आश्वस्त हैं। दूसरी वजह है कि जमीन पर इतनी मात्रा वाली सिलिका की कोई भी चट्टान ऐसी नहीं है, जिसमें क्वार्ट्ज़ न हो।

सोजोर्नर ने रविवार को करीब दस घण्टे तक चट्टान को प्रोटोन्स से तोड़ते हुए उसके फलस्वरूप हो रहे परिवर्तनों को रिकॉर्ड किया।

अभियान के दूसरे विशेषज्ञ मैथ्यू गोलम्बेक ने बताया कि

सोजोर्नर यह पता भी लगाएगा कि चन्द्रमा की सतह कैसी है। वह अपनी बग्घी के बीच के पहिए के अलावा सभी पहियों से सतह को रगड़ सकने में सक्षम है। इस क्रिया से यह पता लगेगा कि ग्रह की सतह कितनी कठोर अथवा नरम है।

पाथफाइँडर अभी तक एक हजार १७५ चित्र भेज चुका है। ज्यों-ज्यों सोजोर्नर जानकारी दे रहा है, वैज्ञानिकों की जिज्ञासा और उम्मीदें बढ़ती जा रही हैं।

मंगल के बारे में ज्योतिष की अवधारणाएँ पुष्ट हुईं

नई दिल्ली (वार्ता): मंगल ग्रह के लिए गए अमेरिकी अन्तरिक्ष यान पाथफाइँडर से प्राप्त तस्वीरों से भारतीय ज्योतिष की लाखों वर्ष पुरानी यह अवधारणा स्पष्ट होती है कि मंगल की पृथ्वी से कई समानताएँ हैं। साथ ही इस ग्रह का अच्छा और बुरा प्रभाव पृथ्वीवासियों पर सीधे पड़ता है।

अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी के बाद मानव को अब तक सर्वाधिक जानकारी मंगल के बारे में ही है। हालाँकि चन्द्रमा के बारे में भी बहुत जानकारी है, परन्तु अन्तरिक्ष-विज्ञान में चन्द्रमा को पृथ्वी का उपग्रह माना गया है तो ज्योतिष में इसे पूरा ग्रह स्वीकार किया गया है।

नक्षत्रविदों ने मंगल ग्रह को बड़ा नीरस, ऊबड़-खाबड़, बड़े-बड़े ज्वालामुखियों से युक्त बताया है तो भारतीय ज्योतिष ने इस ग्रह को उग्र, क्रोधी तथा अग्नि-तत्त्व के लिए उत्तरदायी माना है। पश्चिमी अवधारणा में मंगल को 'मार्स' नामक रोमन युद्ध के देवता के नाम से परिकल्पित किया गया है। कहा जाता है कि मंगल-ग्रह के सबसे बड़े ज्वालामुखी की ऊँचाई माउँट एवरेस्ट की ऊँचाई से अधिक है। यह ग्रह अपनी कक्षा के एक चक्कर लगभग २४ घण्टे में लगाता है और इसका दिन का क्षण भी लगभग पृथ्वी-जैसा ही कहा गया है। मंगल ग्रह ६८७ दिन में सूर्य की परिक्रमा पूरी करता है। वातावरण तथा रासायनिक दृष्टि से जहाँ इस ग्रह में कार्बन-डाईऑक्साइड तथा नाइट्रोजन की अधिकता मानी गई है, वहीं दूसरी ओर ऑक्सीजन तथा जलवाष्प भी कुछ मात्रा में मौजूद बताई

गई है।

मंगल और पृथ्वी के बीच अनेक समानताओं तथा इस ग्रह के पृथ्वी से ही उत्पन्न होने के बारे में भारतीय ज्योतिष की स्थिति स्पष्ट है। भारतीय ज्योतिष में मंगल को धरासुत, भौम, भूमिपुत्र, कुञ्ज और भूमिनन्दन आदि नामों से पुकारा जाता है। दूसरी ओर खगोलविदों ने पृथ्वी से रक्त के समान दीखनेवाले इसके लाल रंग की वजह से इसे धरातल पर मौजूद ऑक्सीकृत यानि ज़ंग लगे हुए लौह के विशाल क्षेत्र की परत माना है।

इस कारण इस ग्रह के लाल रंग को देखते हुए इसे 'अंगारक' नाम से भी पुकारा जाता है। ज्योतिष ने इस ग्रह की द्युति को जलते हुए कोयले की तरह लाल माना है। पृथ्वी में भी कोयला बड़ी मात्रा में मिलता है। इसके अलावा मंगल के ध्रुवीय क्षेत्र में कार्बन-डाईऑक्साइड मौजूद बताई जाती है। पृथ्वी में भी जन्तु और वनस्पति-जगत् के अस्तित्व के लिए कार्बन-डाईऑक्साइड का विशाल चक्र विद्यमान है।

सन् १९७६ में अमेरिकी अन्तरिक्ष यान 'वाइकिंग' ने मंगल ग्रह के बारे में कुछ ही महीनों के अन्तर में जो अद्‌भुत सूचनाएँ पृथ्वी पर भेजीं, वे इस दिशा में पहले प्राप्त सभी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से कहीं ज्यादा थीं। इसके बाद भी भारत के प्राचीन नक्षत्रविदों तथा खगोलविदों की मंगल ग्रह के बारे में दी गई अनेक अवधारणाओं को कम नहीं आंका जा सकता। कहा जाता है कि भारतीय नक्षत्रविदों ने अपने दिव्य नेत्रों या फिर ग्रहण-क्षेत्र देखने की सामान्य वेधशालाओं तथा तत्सम्बन्धी उपकरणों से मिली यथा जानकारी तथा ज्योतिष-सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे।

□□

अश्वमेध यज्ञ

विशेषतः यज्ञपरक माने जानेवाले यजुर्वेद के सबसे पहले मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह हमें श्रेष्ठतम कर्म (**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**) यज्ञ में प्रवृत्त करे (**प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे**) और हमारे पशुओं की रक्षा करे (**पशून् पाहि**)।

यज्ञ वैदिक धर्म का एक अत्यावश्यक तत्त्व है। यहाँ तक कि यज्ञ के द्वारा ही परमेश्वर की पूजा और प्राप्ति का विधान किया गया है। यज्ञ के पर्याय अथवा विशेषण के रूप में **'अध्वर' शब्द का प्रयोग चारों वेदों में सैकड़ों स्थानों में किया गया है।** 'अध्वर' शब्द की निरुक्ति करते हुए निरुक्तकार यास्काचार्य ने लिखा है–**'अध्वर इति यज्ञनाम–ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।'**

'अध्वर' यह यज्ञ का नाम है, जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है। इस प्रकार इस शब्द से ही यज्ञों में पशुहिंसा का सर्वथा निषेध हो जाता है। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को है। रावण पर विजय प्राप्त कर अयोध्या लौटने पर गद्दी पर अभिषिक्त होकर अपने अपराजेय होने के उपलक्ष्य में राम ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था। वह यज्ञ एक मास तक चला था । इस अभूतपूर्व यज्ञ में किसी भी रूप में पशुबलि नहीं दी गई थी । तब अश्व के मारे-काटे जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह घटना त्रेतायुग की है।

महाभारत के शान्तिपर्व (३।३३६) में महाराजा वसु के अश्वमेध का वर्णन है, जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था। उसके विषय में वहाँ स्पष्ट लिखा है–**"न तत्र पशुघातोऽभूत्"**। आगे महाभारत में निर्णायक शब्दों में घोषणा की गई है–

धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते।

ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि महाभारत से एक सहस्र वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त का पतन आरम्भ हो गया था। **'धूर्तैः प्रवर्तितमेतद्'** में शायद इसी का संकेत है।

वेद के नाम पर पशुबलि का प्रचलन मध्यकाल में आरम्भ हुआ।

महाभारत-काल के पश्चात् यज्ञों का प्राधान्य हो जाने से वेदमन्त्रों का विनियोग यज्ञों में होने लगा। सायण का काल अनुमानतः संवत् १३७२-१४४४ है। सायणाचार्य ने वेदों का कर्मकाण्डपरक अर्थ मानकर आधियाज्ञिक अर्थों में ही उनका पर्यवसान कर दिया। सायण दक्षिण में महाराजा बुक्क के यहाँ प्रधानमन्त्री थे। 'राजा कालस्य कारणम्' सायण अपने अन्नदाता की इच्छानुसार वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए। अपने अथर्ववेद-भाष्य में कौशिकसूत्र तथा वैतानसूत्र के विनियोगों का अनुसरण करके उसमें मन्त्र-तन्त्र, जादू, टोने-टोटके, पशुबलि आदि अवैदिक मान्यताओं को सिद्ध कर दिखाया ।

वहाँ नवम काण्ड के चतुर्थ सूक्त के कतिपय मन्त्रों में गौ और उसकी सन्तति से होनेवाले लाभों का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। विशेषतः इसमें गौओं से सन्तानोत्पादन के लिए नियुक्त किये जानेवाले वृषभ (साँड) की महिमा गाई गई है और काव्य की आलंकारिक भाषा में यह निर्देश किया गया है कि यदि किसी के घर में बहुत उत्तम कोटि का बछड़ा उत्पन्न हो जाए तो उसे नगर की गौओं से उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए ग्रामार्पण कर देना चाहिए-उसे 'ऐन्द्र' बना देना चाहिए, अर्थात् ग्राम को सौंप देना चाहिए। वेद की दृष्टि में यह बड़ा पवित्र कार्य है, क्योंकि इससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी को लाभ होता है। इस निमित्त सामूहिक यज्ञ करके सबके समक्ष विधिपूर्वक ब्राह्मणों के द्वारा उस वृषभ को राष्ट्र के काम पर नियुक्त कराना चाहिए। राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए इक्कीसवें मन्त्र में कहा गया है कि राजा भी इस प्रकार के समर्थ साँडों के प्रजा में समुचित वितरण के लिए उनके द्वारा पुष्कल दूध देनेवाली तथा बलिष्ठ बैलों को उत्पन्न करनेवाली गौएँ देता रहे। सूक्त में कहा गया है कि जो वृषभ जनता या राज्य की ओर से नियुक्त किया जाए, वह 'साहस्रः' (९।४।१) सहस्रों बच्चे पैदा करने में समर्थ हो, 'त्वेषः' (९।४।१) देदीप्यमान=तेजस्वी हो, 'वृषभः' (९।४।१) गतिशील, चंचल, फुर्तीला हो, 'पयस्वान्' (९।४।१) अर्थात् बहुत दूध देनेवाली नस्ल की गौ की सन्तान हो जिससे उससे पैदा होनेवाली सन्तान (गाय और बैल) भी उत्तम कोटि के हों, उस्रिसः (९।४।१) गौओं से सम्बन्ध करने में समर्थ हो, 'स्थविरः' (९।४।३) बड़े डील-डौलवाले हों, पूर्ण युवा हों। ऐसे गुणी और समर्थ वृषभ को नियुक्त करने का प्रयोजन यह है कि वह 'तन्तुमान्' (९।४।३) अर्थात् सन्तानरूप तन्तु को आगे फैलानेवाला सिद्ध हो क्योंकि

इस वृषभ (साँड) ने **'पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्'** उत्तम बछड़े-बछड़ियों का पिता और गौओं का पति बनना है; **'प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः'**—इसके वीर्य से ही अमृत-जैसा ताज़ा दूध, आमिक्षा (गर्म दूध में दही डालकर दूध का फटा स्वरूप) और घृत प्राप्त होते हैं; **'सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि'** (८।४।९) व **'आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः'** (८।४।७)—इसके कारण सोम-जैसे दूध के घड़े भर जाते हैं और उसके वीर्य के कारण घृत प्राप्त हो जाता है। **'त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्'** (८।४।६)—यह रूपवान् बछड़े पैदा करनेवाला है।

यहाँ सूक्त का केवल अधिक महत्त्वपूर्ण अंश ही दिया गया है। वस्तुतः गौओं की नस्ल को सुधारकर प्रभूत दूध और अधिक अन्न प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उनका सम्बन्ध उच्च कोटि के गोवृषों से कराने की व्यवस्था की जाए।

सायण-जैसे मध्यकालीन आचार्यों ने इस सूक्त का अर्थ करके इसका विनियोग बैल को मारकर उसके मांस से यज्ञ करने में किया है। सायण ने इस सूक्त के भाष्य की उत्थानिका में लिखा है कि "ब्राह्मण बैल को मारकर उसके मांस से भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए आहुति देता है। इसमें वृषभ की प्रशंसा और उसके अंगों में से जो-जो अंग जिस-जिस देवता को प्यारा है, इसका विवेचन किया गया है और तदनुसार बैल की बलि देकर होम के महत्त्व का वर्णन करते हुए इससे प्राप्त होनेवाले श्रेय की स्तुति की गई है। उन आचार्यों का यह अर्थ सचाई से कोसों दूर है। जिसका नाम ही 'अघ्न्या' (अवध्या) है, उसके वध की कल्पना कैसे की जा सकती है? और वह भी यज्ञ में जिसके पर्याय 'अध्वर' (जिसमें हिंसा नहीं हो सकती) शब्द का वेदों में सैकड़ों स्थलों में प्रयोग किया गया है? इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में गौओं को सम्बोधन करके कहा है—'हे गौओ ! इस जवान वृषभ को हम तुम्हारे सामने खड़ा करते हैं। अपनी इच्छानुसार इसके साथ खेलते हुए विचरण करो। हे सौभाग्यशालिनी गौओ! इसके द्वारा तुम हमें उत्तम बछड़े-बछड़ियाँ प्रदान करो और इस प्रकार हमें धनैश्वर्य से सम्पन्न करो।'

वेद में गौओं को किया गया यह संबोधन, क्या मारकर अग्नि में होम किये जा चुके बैल के सन्दर्भ में संगत हो सकता है? और क्या अग्नि में भस्म हुआ बैल हमें वह सब दे सकता है जिसकी कामना मन्त्र में की गई है?

वेद मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है। 'गौ' शब्द पृथिवी का पर्यायवाची है। अथर्ववेद के इस सूक्त में कृषिविद्या के प्रसंग में गोवंश के विकास और कृषि के लिए आवश्यक साँडों और उनसे उत्पन्न अच्छे बैलों के विषय में चर्चा की गई है। इसी को 'गोमेध' (कृषि-योग्य भूमि और कृषि के लिए आवश्यक अच्छे बैल तैयार करना) यज्ञ कहा गया है।

जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता बढ़ती गई, वैसे-वैसे वेदों का आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ प्रमुख होता गया। प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद के वैज्ञानिक अर्थों का लोप होता गया । मांस-मदिरा का प्रयोग बढ़ जाने से मुख्यतः यज्ञ के पर्याय 'मेध' शब्द को अश्वमेध, गोमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक शब्दों से यज्ञों में पशुहिंसा का भ्रम हुआ। आलम्भन, संज्ञपन तथा अवदान जैसे शब्दों के धात्वर्थों को न समझकर उन्हें मारने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ मानकर यज्ञों में पशुबलि की कल्पना कर ली गई। वेद में तो 'अश्वमेध' शब्द के सिवा अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। जिस धर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, वहाँ निरीह पशुओं की हत्या का विधान सर्वथा असंगत था, परन्तु वाममार्ग के प्रबल होने से वही सर्वसम्मत हो गया। उसी काल में उव्वट और महीधर का उदय हुआ।

अश्वमेध और बाबू सम्पूर्णानन्द

भारत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् तथा शिक्षाशास्त्री बाबू सम्पूर्णानन्द ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'गणेश' के 'श्रुति में गणेश' शीर्षक पहले ही अध्याय में यजुर्वेद के २३वें (कर्मकाण्डीय व्याख्या के अनुसार यजुर्वेद के २२वें से २५वें अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ वर्णित हुआ है।) अध्याय के १९वें मन्त्र **'गणानां त्वा गणपतिम्...... गर्भधम्'** को उद्धृत करके उसपर उव्वट और महीधर के भाष्यों के आधार पर आपने लिखा है—"इस अर्थ को देखकर आश्चर्य होता है, परन्तु दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं है।" इस अर्थ और उससे होनेवाले कृत्य को अश्लील मानते हुए और उसके द्वारा पुण्य की उपलब्धि में सन्देह करते हुए भी आप कहते हैं कि "भाष्यकारों ने जो अर्थ किया है, वह कपोलकल्पित नहीं है।"

देश के सब से बड़े राज्य उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री तथा प्रसिद्ध

दार्शनिक डॉ० सम्पूर्णानन्द के इस लेख को पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, और ९ फर्वरी १९५१ को मैंने उन्हें लिखा–

"श्रीयुत माननीय बाबूजी! सादर नमस्ते।

आपके लेख से स्पष्ट है कि आप उव्वट और महीधर के भाष्य को अश्लील तथा प्रामाणिक मानते हुए उसके आधार पर वैदिक धर्म के मूलाधार और सर्वमान्य ग्रन्थ वेदों में अश्लीलता स्वीकार करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यजुर्वेद के २३वें अध्याय के १९ से ३१ तक के मन्त्रों का महीधरकृत अर्थ अत्यन्त अश्लील है जिसे लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती है। स्वयं महीधर भी उसे वैसा ही अश्लील समझते थे। तभी तो उसके बाद ३२वें मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिखा–"इस प्रसंग में जो अश्लील भाषण हमने किया है और उससे जो हमारा मुख दुर्गन्धित हो गया है, उन्हें यह यज्ञ पुनः सुगन्धित कर देवे।" वस्तुतः न उन वेदमन्त्रों में अश्लीलता है, न उनके अर्थों में। जितनी अश्लीलता थी वह महीधर के भीतर थी। फिर यदि दुर्गन्धि से इतनी घृणा थी तो जान-बूझकर अशुद्ध और अश्लील अर्थ किया ही क्यों था? यदि आप महीधरादि की आँखों से वेदों को देखेंगे तो आपको उनमें हिंसा, व्यभिचार, जुआ, मांसाहार, मदिरापान आदि सब-कुछ मिलेगा। तब यत्र-तत्र बिखरे हुए आपके वेद-विषयक उदात्त विचारों के साथ उनका समन्वय कैसे होगा?

उव्वट और महीधर भाष्य तो वेदों का करने बैठे किन्तु वैदिक व्याकरण व कोश (अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु, निरुक्त आदि) आर्ष ग्रन्थों की उपेक्षा करके लौकिक संस्कृत के प्रचलित व्याकरण तथा कोशों को अपने भाष्यों का आधार बना लिया। परिणामतः अनेक स्थलों में अर्थ का अनर्थ हो गया। खेद है कि आप-जैसे विचारशील महानुभाव भी उस भ्रमजाल से न बच सके और विवश हो आपने यहाँ तक लिख दिया कि "दूसरा कोई अर्थ सम्भव ही नहीं है।" सचाई यह है कि इन मन्त्रों के अनेक अर्थ हो चुके हैं। यहाँ मैं केवल एक अर्थ दे रहा हूँ। विचार कर देखिए कि यह कहाँ तक संगत है। तुलना के लिए गणेश-पूजन के लिए प्रसिद्ध मन्त्र उव्वट-महीधर के भाष्यसहित प्रस्तुत है–

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ –यजुः २३।१९

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए महीधर कहता है–"गणपति शब्द

से घोड़े का ग्रहण है। सब ऋत्विजों के सामने यजमान की पत्नी घोड़े के पास सोवे और घोड़े से कहे कि हे अश्व! जिससे गर्भ धारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य है, उसको मैं खैंचके अपनी योनि में डालूँ। तू उस वीर्य को मुझमें स्थापित करनेवाला है।"

हमारा अर्थ

जिस बात को कोई मन्त्र कहता है, अर्थात् जिस वस्तुतत्त्व का वर्णन करता है, वह वस्तुतत्त्व ही उसका देवता है। यहाँ विवेच्य मन्त्रों में मन्त्रसंख्या २०,२२ और २३ 'राजप्रजेदैवत' हैं, मन्त्रसंख्या ३० और ३१ के देवता क्रमशः 'राजा व न्यायाधीश' हैं, मन्त्रसंख्या १८, २८ व १९ के देवता क्रमशः 'प्रजापति व गणपति' हैं, मन्त्रसंख्या २६ का देवता 'श्रीः', २९ का 'विद्वांसः' और २४ का 'भूमिसूर्यौ' हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों में निर्दिष्ट देवताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सभी मन्त्र किसी न किसी रूप में राजनीतिपरक हैं। इनका विनियोग अश्वमेध के सन्दर्भ में हुआ है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में राजप्रजाधर्मविषय के अन्तर्गत लिखा है–**"राजपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति।"** अर्थात् न्याय से प्रजा का पालन ही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है। **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** (शतपथ १३।१।६।३)। **'राष्ट्रं वा अश्वः'** राष्ट्र ही को 'अश्व' कहते हैं। **'एध वृद्धौ–राष्ट्रम् एधते इति राष्ट्रमेधः'**=जिससे राष्ट्र बढ़े, उसका विकास हो, संरक्षण तथा परिरक्षण हो, वही राष्ट्रमेध है।

क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः–राजा का नाम अश्व है तो प्रजा का नाम अश्व से भिन्न पशु है। **'तं विद्याकर्मणी समन्वारभते पूर्वप्रजा च'** (बृ० उ० ४।४।२, निरुक्त १४।७)। विद्या और कर्म का शास्त्रों में सहभाव कहा है। इसी प्रकार राजा और प्रजा का सहभाव है। एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए यहाँ **'इतरे पशवः'** से 'राजा' से भिन्न तत्सदृश 'प्रजा' का ग्रहण होता है। जैसे अश्व की अपेक्षा दूसरे अजादि पशु निर्बल होते हैं, वैसे ही राजा की अपेक्षा प्रजा निर्बल होती है। उसकी रक्षा का उल्लेख 'न्यायाधीशदैवत' मन्त्र **'यद्धरिणो यवमत्तीति'** मन्त्र में किया है।

'गणानां त्वा गणपतिम्०' इस मन्त्र का देवता गणपति है। गणपति शब्द भी अनेकार्थक है, परन्तु क्योंकि आगे के सभी मन्त्रों का देवता शासनव्यवस्था के किसी न किसी अंग का निर्देश करते हैं, इसलिए

हमने सभी मन्त्रों के राष्ट्रपरक अर्थ किये हैं। उव्वट और महीधर ने 'अश्व' का अर्थ घोड़ा किया है। यह अर्थ व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के विरुद्ध होने से सर्वथा हेय है। कोशों में भी गणपति का अर्थ गणेश, बृहस्पति, शिव आदि तो है, पर घोड़ा कहीं नहीं है। स्वयं महीधर ने यजुर्वेद (१६।२५) में गणपति का अर्थ 'गणानां पालकाः गणपतयः' किया है। इस मन्त्र के देवता का गणपति होना सर्वमान्य है और अगले तीनों मन्त्रों के देवता 'राजप्रजे' हैं। इसलिए यहाँ गणपति शब्द से किसी ऐसे अर्थ का बोध होना चाहिए जो राजा, प्रजा या शासन-व्यवस्था के सन्दर्भ में उपयुक्त हो। किसी भी राष्ट्र के सर्वोच्च शासक की सामान्य संज्ञा 'राष्ट्रपति' है। तब गणतन्त्रात्मक पद्धति से प्रशासित राष्ट्र के स्वामी या शासक के लिए 'गणपति' नाम निश्चय ही अधिक सार्थक है। वस्तुतः इस मन्त्र में राष्ट्रपति के रूप में ऐसे पुरुष की कामना की गई है जो विशिष्ट गुणों से युक्त हो। सन्तान को गर्भ में धारण करनेवाली माता के समान प्रजा का सन्तानवत् पालन व संरक्षण करने में समर्थ सबका प्रिय हो—सबकी उस तक और उसकी सब तक पहुँच हो, हर प्रकार के ऐश्वर्य से प्रजा को पुष्ट एवं समृद्ध करनेवाला हो, सबके आवास आदि की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ हो, इत्यादि।

देखिये, दूसरा अर्थ बना या नहीं? वेदों का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए हमें यास्क के निघण्टु और निरुक्त का और तदनुकूल ऋषि दयानन्द के भाष्य का आश्रय लेना चाहिए, न कि सायण, महीधर आदि का जिन्होंने वाममार्ग से प्रभावित होने तथा राजा के अधीन होने के कारण जान-बूझकर ऐसे अर्थ किये जिनसे लोग वेदों से घृणा करने लगे।"

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने इसके उत्तर में भेजे अपने १५ फर्वरी १९५१ के पत्र में मुझे लिखा—

"प्रिय दीक्षित जी !

आप मेरी रचनाओं में रुचि लेते हैं, यह मेरे लिए सन्तोष की बात है। वेदमन्त्रों की व्याख्या करने में अपनी पुस्तकों में मैंने कई स्थलों पर सायणकृत भाष्य को नहीं माना है। अश्वमेध का शतपथ में दिया हुआ मेरा अर्थ मेरी समझ में लाक्षणिक हो सकता है, क्योंकि अनेक प्रमाणों के आधार पर मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिक काल में भी मद्य, मांस आदि का व्यवहार होता था, परन्तु यह बहुत बड़ा विषय है। जहाँ तक 'गणान्नां त्वा' वाले मन्त्र का सम्बन्ध है, सम्भव है वह 'राजप्रजेदैवत'

हो और उसका वही अर्थ रहा हो जो आपने लिखा है। यह भी हो सकता है कि उतना प्रकरण प्रक्षिप्त हो।

परन्तु जब मुझे उन प्रथाओं और मान्यताओं का खण्डन करना होता है जो आज सनातन धर्मावलम्बी जनता में प्रचलित हो गई हैं तो मैं सदा एक काम करता हूँ। लोगों के सामने उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ जिनको वे प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को आधार बनाता हूँ जिनको वे स्वीकार करते हैं। यह क्रम 'ब्राह्मण सावधान' में बरता गया है और इसी का अवलम्बन 'गणेश' में किया गया है। मेरे तर्क का रूप यह है–

"मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, आप लोग उव्वट और महीधर के भाष्य को प्रामाणिक मानते हैं । उन दोनों ने इस मन्त्र को 'अश्वदैवत' माना है और अश्वमेध की एक विशेष प्रक्रिया में इसका विनियोग बताया है। अतः आपके माने हुए आचार्यों के ही अनुसार यह मन्त्र 'गणेशदैवत' नहीं हो सकता, क्योंकि आप भी गणेश को अश्व का पर्यायवाची नहीं मानते, अतः आपके माने हुए प्रमाणों के ही अनुसार श्रुति (वेद) गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती।"

आशा है, मेरा आशय आप पर स्पष्ट हो गया होगा।

भवदीय

–सम्पूर्णानन्द

तत्पश्चात् श्री सम्पूर्णानन्द जी उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री पद से मुक्त होकर व राज्यपाल नियुक्त होकर जयपुर चले गए। हमारी उनसे भेंट न हो सकी ।

भ्रान्तियों का मूल कारण

वेदों तथा यज्ञों के नाम पर होनेवाले अनर्थ का मूलकारण वेदार्थ-प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना करके किया गया वेदों का भाष्य है। आदिकाल में संस्कृत के समस्त नाम-पद यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। कालान्तर में उनके अर्थविशेष में सीमित हो जाने पर वे रूढ़ होते गए, परन्तु वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में होने से उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक अर्थात् धातु के अर्थों के अनुकूल होगा और प्रकरणादि के अनुसार उनका अर्थविशेष में पर्यवसान होगा। यौगिकवाद का आधार है धातुओं का अनेकार्थक होना। उपसर्ग तथा प्रत्यय के योग से धातुओं से शब्द

अनेकार्थक हो जाते हैं और शब्दों के अनेकार्थक होने से मन्त्र अनेकार्थक होते हैं।

मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेध, गोमेध, नरमेध, आदि शब्दों में देखकर यज्ञों में पशुबलि के विधान का भ्रम हुआ है। वस्तुतः वेदों में तो अश्वमेध के सिवा इस प्रकार के अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अश्व का लोक में प्रचलित अर्थ घोड़ा है, किन्तु 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न यह शब्द ईश्वर का भी वाचक है। घोड़े के समान बल रखनेवाला पुरुष भी अश्व कहलाता है, इसलिए वह लक्षणा से शूरवीरता का प्रतीक है। **'अध्वानं पन्थानमश्नुते व्याप्नोतीति' अश्वः।**—दौड़कर मार्ग=दूरी को खाता जाता है, कम कर देता है, इसलिए अश्व कहाता है। इस प्रकार अश्व शब्द अनेकार्थवाची है, मात्र इस नाम से पुकारे जानेवाले पशु का ही वाचक नहीं।

मेध धातु के 'मेधासंगमनयोर्हिंसायाम्' इस धातुपाठ के अनुसार मेध शब्द हिंसार्थक ही क्यों माना जाए? वस्तुतः जब मेध शब्द की उत्पत्ति मिद्, मिथ्, मेध्, मेद् आदि धातुओं से हुई हो और शास्त्रों में सर्वत्र हिंसा वर्जित हो, तब दूसरे अर्थों को छोड़कर उसके हिंसापरक अर्थ को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार अश्व का अर्थ वीर्य अथवा शौर्य है, और अश्वमेध का प्रयोजन श्रेष्ठ वैचारिक क्रियाकलापों से अश्व=विद्युत् के समान तीव्र गति से **आदर्श राष्ट्र-व्यवस्था** के लिए राष्ट्र का चहुँमुखी विकास करना है।

संज्ञपन व आलम्भन—वेदों और उनके व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों तथा श्रौत-सूत्रों में अनेकत्र संज्ञपन तथा आलम्भन शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका मारना अर्थ मानकर वैदिक साहित्य में सैकड़ों स्थानों पर स्पष्टतः हिंसारहित कर्म के वाचक 'अध्वर' नाम से अभिहित यज्ञों में पशुबलि के विधान की कल्पना कर ली गई है। 'संज्ञपन' शब्द 'सं'-पूर्वक णिजन्त 'ज्ञा' धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। **'देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते'** आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि 'सं'-पूर्वक 'ज्ञा' धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, संभूय, ज्ञान आदि हैं। अथर्ववेद (६।७४।१-२) के निम्नलिखित मन्त्रों में संज्ञपन तथा संजपयामि आदि का प्रयोग है। प्रकरण से स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ यहाँ ज्ञान देना-दिलाना या मेल कराना है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥

संज्ञपनं वो मनसो यो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥

अर्थात् तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मन संपृक्त हों, व्रत एक-जैसे हों। ब्रह्मणस्पति कल्याणकारी प्रभु ने तुम्हें एकत्र किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो, हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम पर किये श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ।

इसी प्रकार शतपथ (काण्ड १, अ० ४) में एक आख्यायिका है जिसमें मन और वाणी के बीच बड़प्पन के लिए हुए झगड़े का उल्लेख है। उसके अन्त में कहा है-

"अथ ह वागुवाच—अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद् वेत्थाहं तद् विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति।"

वाणी कहती है—बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे तो ज्ञान ही ज्ञान है। तेरा वह ज्ञान किस काम का? जो कुछ तू जानता है, उसे प्रकट तो मैं करती हूँ। मैं ही उसे दूसरों को अच्छी तरह जतलाती हूँ—संज्ञपयामि।

प्रायः अग्निषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटने का किया जाता है। संज्ञपन का अर्थ सम्यक् ज्ञान कराना तो है ही। यदि कथञ्चित् दुर्जनतोषन्याय से उसका अतिरिक्त अर्थ काटना भी मान लिया जाए तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ स्थल-प्रकरण के अनुसार संगत होगा वही माना जाएगा। अग्निषोम में पशुसंज्ञपन के पश्चात् **'वाचं ते शुन्धामि········ चरित्रांस्ते शुन्धामि········वाक् त आप्यायताम्'** आदि जितने शब्द हैं, वे निश्चय ही 'सम्यक् ज्ञान' अर्थ के साथ ही संगत हैं। **'चरित्रांस्ते शुन्धामि'** अर्थात् 'तेरा चरित्र सुधारता हूँ' की संगति काटे जानेवाले पशु के वध में नहीं, पशुप्रकृति, मूढ़ बालकादि को सम्यक् ज्ञान कराने में ही हो सकती है।

यज्ञों में पशुबलि के समर्थक **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** (यजु० २४।२९) आदि वाक्यों को उद्धृत करते हैं। आलम्भ का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है। आङ्पूर्वक लभ् धातु से आलम्भ शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ स्पर्श करना अथवा अच्छी तरह प्राप्त करना है। निघण्टु अथवा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में आलभ का कहीं प्रयोग नहीं होता।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ के अग्रांकित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यं रसांस्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥१७५॥

ब्रह्मचारी के लिए निर्दिष्ट उपर्युक्त कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिंसा का सर्वथा निषेध होने से स्त्रियों का आलम्भन न करने का अर्थ स्त्रियों का स्पर्श न करने के सिवा और क्या हो सकता है?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणांसम् अधिहृदयमालभते।

पारस्करगृह्यसूत्र (२।२।१६) के उपनयन प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है—आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। सभी भाष्यकारों ने 'आलभते' का अर्थ 'स्पृशति' किया है।

विवाह-संस्कार में **'वरो बध्वा दक्षिणांसम् अधिहृदयमालभते।'** इस कथन के साथ वधू के हृदय का स्पर्श करता है, उसका वध नहीं करता।

इसी प्रकार **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों में भी आलभेत का अर्थ स्पर्श अथवा प्राप्ति का ही द्योतक होगा, न कि मारने का।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि—

(१) अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा अथवा विधिवत् नियुक्त (निर्वाचित) राष्ट्रपति—राष्ट्राध्यक्ष को ही है। जनसामान्य का इसमें प्रवृत्त होना अनधिकार चेष्टा होने से हेय है।

(२) वस्तुतः वह (अश्वमेध) प्रजा का न्यायपूर्वक पालन एवं संरक्षण रूप है।

(३) बड़ी मात्रा में समिधा, घृत, सामग्री आदि एकत्र करके उनसे यज्ञ करने को अश्वमेध आदि नाम देना अशास्त्रीय होने से ढोंग, पाखण्ड एवं मिथ्याचरण है और भोली जनता की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करना है।

(४) किसी भी यज्ञ में किसी भी रूप में पशुबलि देना महापाप है।

(५) विधिवत् यज्ञ में प्रवृत्त होना मनुष्य का श्रेष्ठतम कर्म है।

□□

मूल गीता में श्रीकृष्णार्जुन-संवाद

गीता में जो कुछ कहा गया है, वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच युद्धक्षेत्र में हुए संवाद की, भीष्म की मृत्यु के पश्चात् युद्धक्षेत्र से लौटने पर, संजय द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट है। इस रिपोर्ट का प्रतिपाद्य क्या है? किसी भी ग्रन्थ, प्रकरण अथवा वाक्य के अर्थ का निर्णय करने अथवा उसका तात्पर्य जानने के लिए प्राचीन मीमांसकों का एक सर्वमान्य श्लोक है–

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

इस प्रकार किसी ग्रन्थ अथवा लेख के तात्पर्य का निश्चय करने में उक्त श्लोक में कही गई सात बातें सहायक होती हैं–उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

इनमें सबसे पहली बात 'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त है। कोई भी मनुष्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अथवा किसी हेतुविशेष से ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है और उस प्रयोजन अथवा हेतु की सिद्धि होने पर ही उसे समाप्त करता है। अतः ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्धारण करने में सबसे पहले उसके उपक्रम (आरम्भ) तथा उपसंहार (अन्त) पर ही विचार करना चाहिए। आद्यन्त के आधार पर तात्पर्य का ज्ञान हो जाने पर यह देखना चाहिए कि उस ग्रन्थ में 'अभ्यास' अर्थात् बार-बार कथन किस बात का किया गया है। ग्रन्थकार अपने अभीष्ट के समर्थन में किञ्चिद् भिन्न शब्दों में अथवा अनेक प्रकार के तर्क व प्रमाण प्रस्तुत करके, बार-बार अपने मन के भाव को व्यक्त करता है और हर बार कहता है–'इसलिए (तस्मात्) ऐसा होना या करना चाहिए।'

तात्पर्य का निर्णय करने में चौथा साधन है 'अपूर्वता', अर्थात् प्रतिपाद्य विषय का वैशिष्ट्य अथवा उसका लीक से हटकर होना। जहाँ सामान्य लौकिक बुद्धि का प्रवेश न हो, शास्त्र-प्रवृत्ति की सफलता ऐसे ही अर्थ में होती है। कोई भी ग्रन्थकार जब ग्रन्थ लिखने बैठता है तो वह चाहता है कि मैं लोगों को कोई ऐसी बात बतलाऊँ जो

मुझसे पहले अन्य किसी ने न कही हो। मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ की महत्ता के प्रदर्शनार्थ किया गया उपयुक्त कथन 'अर्थवाद' कहलाता है। यह निश्चय हो जाने पर भी कि हमें मुख्यतः किस बात को सिद्ध करना है, कभी-कभी ग्रन्थकार प्रशंसानुसार दूसरी अनेक बातों का भी वर्णन करता है, जैसे प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देने, समानता व भेद दिखलाने, पर-मत के दोष बतलाकर स्वमत को दृढ़ करने के लिए अलंकारादि से काम लेता है; विषयान्तर प्रतीत होने पर भी ऐसा अपने सिद्धान्त की महत्ता दिखलाने या अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। यह सर्वथा सत्य नहीं होता। इस प्रकार का उल्लेख 'अर्थवाद' कहलाता है। स्तुति या प्रशंसा की इन अर्थवादात्मक बातों को छोड़कर ग्रन्थकार के वास्तविक तात्पर्य का निश्चय होता है। जिस विषय में प्रकरण का तात्पर्य है, उसके अनुसार आचरण करने पर उससे होनेवाली उपलब्धि को 'फल' कहते हैं। अमुक फल की प्राप्ति हो, इसी हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है। इसलिए यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाए तो उससे ग्रन्थकार का आशय या तात्पर्य ठीक-ठीक व्यक्त हो जाता है।

किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिए बाधक प्रमाणों का खण्डन करते हुए साधक-प्रमाणों को युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करना 'उपपत्ति' अथवा उपपादन कहलाता है। उपक्रम तथा उपसंहाररूप आद्यन्त के दो छोरों का निश्चय हो जाने पर बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति की सहायता से निकल आता है। अर्थवाद से यह मालूम हो जाता है कि कौन-सी बात मुख्य है और कौन-सी आनुषंगिक। तब उपपत्ति की सहायता से आनुषंगिक की उपेक्षा करके लेखक मुख्य के उपपादन में प्रवृत्त होता है और पाठक उसके अन्तिम तात्पर्य को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

मीमांसकों द्वारा निर्धारित ये नियम सार्वभौम एवं सार्वकालिक होने से प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः सर्वमान्य हैं। परन्तु जब एक बार किसी की दृष्टि साम्प्रदायिक या संकुचित हो जाती है, तब वह किसी न किसी रीति से यही सिद्ध करने का यत्न किया करता है कि प्रमाण-भूत धर्मग्रन्थों में उसी के सम्प्रदाय का वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब वे पहले से निश्चित किए हुए अपने ही सम्प्रदाय के अर्थ को सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्ध कर दिखाने का यत्न करने लगते हैं कि सब धार्मिक ग्रन्थों में वही अर्थ प्रतिपादित किया गया है, तब वे इस बात की परवाह

नहीं करते कि हम मीमांसाशास्त्र के नियमों की अवहेलना कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का परित्याग करके मीमांसकों द्वारा निर्दिष्ट उपक्रम, उपसंहार आदि के द्वारा ही गीता के तात्पर्य को प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले जब दोनों पक्षों की सेनाएँ यथास्थान खड़ी हो गईं तो भीष्मपितामह ने युद्ध शुरू करने के लिए शंख बजा दिया। सैनिक एक-दूसरे पर शस्त्र चलाने लगे। इतने में अर्जुन को वैराग्य हो गया और वह ब्रह्मज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बघारने लगा और विमनस्क हो संन्यास लेने को तैयार हो गया। तब उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने 'गीता' का उपेदश दिया। जब वह दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा होकर यह देखने लगा कि इस युद्धक्षेत्र में मुझे किनसे लड़ना होगा, तब उसे वहाँ वृद्ध भीष्मपितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी बने हुए अपने ही बन्धु-बान्धव कौरवगण तथा अन्य सम्बन्धी, अनेक राजा और राजपुत्रों के अतिरिक्त लाखों सैनिक, हाथी-घोड़े आदि दीख पड़े। यह सब देखकर वह मन में सोचने लगा—एक छोटे-से हस्तिनापुर के राज्य के लिए उसे इन सब को निर्दयतापूर्वक मारना पड़ेगा और अपने कुल का नाश करना पड़ेगा। ऐसे युद्ध की विभीषिका और उसके कारण होनेवाले महत् पाप के भय से उसका मन एकदम क्षुब्ध हो उठा। एक ओर उसे क्षात्रधर्म ललकारकर कह रहा था—युद्ध कर! दूसरी ओर से पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बन्धुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे बलात् पीछे खींच रहे थे। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि एलेग्ज़ेण्डर पोप (Alexander Pop) ने एक स्थान पर लिखा है—

> Two things in human nature reign,
> Passion to urge and reason to restrain. *(Essay on Man)*

भावना मनुष्य को आगे की ओर धकेलती है और तर्क उसे नियन्त्रित करता है। अर्जुन के लिए यह बहुत बड़ा संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपने ही गुरुजनों और बन्धु-बान्धवों की हत्या करके महापातक का भागी बने, और यदि लड़ाई न लड़े तो क्षात्रधर्म से च्युत समझा जाए—इधर कुआँ तो उधर खाई। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, तथापि धर्माधर्म के इस महान् संकट में पड़कर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर पर रोंगटे खड़े हो गए, धनुष हाथ से गिर पड़ा और वह 'मैं नहीं लड़ूँगा' कहकर चुपचाप रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गया। तब वह मोहवश हो कहने लगा—'पिता-सम पूज्य

गुरुजनों, भाई-बन्धुओं और मित्रों को मारकर और इस प्रकार कुल का सर्वनाश करके राज्य का एक टुकड़ा पाने से तो टुकड़े माँग-माँगकर जीवन-निर्वाह करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। चाहे मेरे शत्रु मुझ निहत्थे की गर्दन उड़ा दें, परन्तु मैं अपने स्वजनों की हत्या करके उनके खून से सने सुखैश्वर्य को भोगना नहीं चाहता। भाई को मारो, गुरु का वध करो, अपने कुल का नाश करने से न चूको—क्या यही क्षात्रधर्म है? आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्रधर्म में ! हमारे शत्रु दुष्ट हैं, वे धर्माधर्म को नहीं जानते, तो क्या उनके साथ हम भी पापी हो जाएँ? कभी नहीं । मुझे तो यह घोर हत्या और पाप श्रेयस्कर नहीं मालूम पड़ता।' इस प्रकार विचार करते-करते उसका मन डाँवाडोल हो गया।

कर्माकर्म-संशय के ऐसे अनेक प्रसंग ढूँढकर अथवा कल्पित करके उन पर बड़े-बड़े कवियों ने अत्यन्त सरस काव्यों तथा नाटकों की रचना की है। उदाहरणार्थ, शैक्सपीयर का प्रसिद्ध नाटक 'हैमलेट' लीजिए। डेनमार्क के राजकुमार हैमलेट के चाचा ने राजकर्ता अपने भाई (हैमलेट के पिता) को मारकर उसकी पत्नी—हैमलेट की माता को, अपनी पत्नी बना लिया और राजगद्दी छीनकर राजा बन बैठा। तब राजकुमार हैमलेट के मन में द्वन्द्व मच गया कि ऐसे पापी चाचा का वध करके पुत्र-धर्म के अनुसार अपने पितृ-ऋण से मुक्त हो जाऊँ अथवा अपने चाचा, अपनी माता के पति और सिंहासनारूढ़ राजा पर दया करूँ? इस मोह में पड़ जाने के कारण कोमल अन्तःकरणवाला हैमलेट पागल हो गया और अन्त में 'जिएँ या न जिएँ'[1] इसी बात की चिन्ता करते-करते

---

1. To be or not to be—that is the question;
Whether it's nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing end them? To die, to sleep—
....But that the dread of something after death—
The undiscovered country, from whose bourne,
No traveller returns—puzzles the will........
Thus, conscience does make
Cowards of us all.

—*Hamlet*, Act III, Scene I

आत्महत्या करने पर विवश हो गया। काश! उस समय उसे कोई हितैषी मार्गदर्शक मिल गया होता।

अर्जुन भाग्यशाली था कि उसे श्रीकृष्ण जैसा परमहितैषी और नीतिमान् उपदेशक मिल गया। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह श्रीकृष्ण की शरण में चला गया—'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे मार्ग दिखाइए'—**"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"**। तब उसे क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसी को 'भगवद्गीता' के नाम से अभिहित कर महर्षि वेदव्यास ने अपने महाकाव्य 'जय' (महाभारत) में प्रस्तुत किया। इसका फल यह हुआ कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय के कारण युद्ध से पराङ्मुख हो गया था, वही अब अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से युद्ध में प्रवृत्त हो गया।

गीता के तात्पर्य को जानने के लिए उसके उपक्रम उपसंहार—परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना होगा। गीता के उपदेश का उपक्रम (आरम्भ) तब हुआ जब अर्जुन 'मैं नहीं लड़ूँगा' (**न योत्स्ये**) कहकर और धनुष-बाण फेंककर, मारने की बजाय मरने के लिए तैयार होकर, रथ में पीछे की ओर जा बैठा; और इस उपदेश का उपसंहार (अन्त) तब हुआ जब अर्जुन श्रीकृष्ण के आदेशानुसार (**करिष्ये वचनं तव**) लड़ने के लिए तैयार हो गया। गीता कहते-कहते बीच-बीच में अनुमान-दर्शक महत्त्व के 'तस्मात्' (इसलिए) पद का प्रयोग करके अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्मविषयक उपदेश देते गए कि **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** (२।१८)—इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर; **'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'** (२।३७)—इसलिए हे कौन्तेय! तू युद्ध का निश्चय करके उठ; **'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः'** (३।१९)—इसलिए मोह छोड़कर तू अपना कर्त्तव्य कर्म कर; **'युद्ध्यस्व विगतज्वरः'** (३।३०)—निश्चिन्त होकर युद्ध कर; **'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्।'** (४।१५)—इसलिए तू कर्म कर; **'मामनुस्मर युध्य च'** (८।७)—इसलिए मेरा स्मरण कर और लड़; **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व, जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्'** (११।३३)—इसलिए तू उठ और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर; **'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्'** (११।३४)—युद्ध कर, तू शत्रुओं को जीतेगा।

उपदेश की समाप्ति पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—'तूने मेरी

बातों को ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न? और सुन लिया है तो बता कि तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह पूरी तरह दूर हो गया या नहीं?' (१८।७२) इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया–'हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे अपने कर्तव्य का बोध हो गया है। अब मैं जैसा आप कहेंगे, वैसा ही करूँगा।' (१८।७३) 'जैसा आप कहेंगे'–अब कहने के लिए क्या रह गया था? श्रीकृष्ण ने बार–बार एक ही बात कही–लड़, लड़, लड़! और अर्जुन लड़ने के लिए खड़ा हो गया। फिर वह ऐसा लड़ा कि एक बार आवेश में आकर बड़े भैया युधिष्ठिर तक को मारने को तैयार हो गया था। यदि श्रीकृष्ण बीच में न पड़ते तो युधिष्ठिर की मृत्यु निश्चित थी। (वनपर्व)

इस प्रकार तात्पर्य–निर्णय के लिए निर्धारित नियमों के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य युद्ध से विरत अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं ठहरता।

श्रीकृष्ण को सारथि बना, धनुष–बाण ले, रथ पर सवार होकर अर्जुन युद्धक्षेत्र में किसलिए गया था? निश्चय ही युद्ध करने के लिए। उसे यह भी पहले से पता था कि उसके प्रतिद्वन्द्वी कौन हैं; प्रतिद्वन्द्वियों में प्रमुख कौन हैं, उन सब को भी वह भलीभाँति जानता था। तब दोनों सेनाओं के बीच खड़ा होकर उन्हें जानने में क्या तुक थी? देखा ही था और देखकर अर्जुन के मन में कुछ शंकाएँ उठी थीं जो उसके युद्ध में प्रवृत्त होने में बाधक बन रही थीं तो श्रीकृष्ण का उपदेश उन शंकाओं के समाधान तक सीमित रहना चाहिए था। अर्जुन ने अपने मन को उद्विग्न करनेवाली शंकाओं तथा युद्ध के परिणामस्वरूप होनेवाली हानियों को इस रूप में प्रस्तुत किया था–

१. पूज्य गुरुजनों और बन्धु–बान्धवों की हत्या कल्याणकारिणी नहीं होगी।

२. जिनके लिए राज्यभोग और सुख चाहिएँ वे सब तो यहाँ मरने के लिए खड़े हैं।

३. जिन्हें मारकर मैं तीनों लोकों का राज्य भी नहीं चाहता तो क्या पृथिवी के एक राज्य के लिए इनका हनन करना उचित होगा?

४. माना कि ये आततायी हैं, तब भी क्या स्वजनों को मारकर हम सुखी रह सकेंगे?

५. यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्र लोभ के वशीभूत हो बुद्धि खो बैठने

से कुल के क्षय और मित्रद्रोह करने के पाप को नहीं देख रहे हैं, तो क्या हमें भी इस दोष और पाप से बचने के विषय में विचार नहीं करना चाहिए?

६. कुल का नाश हो जाने पर कुल-धर्म का नाश हो जाएगा।

७. कुलधर्म के नष्ट होने पर अधर्म के राज्य का विस्तार हो जाएगा।

८. अधर्म के फैल जाने पर स्त्रियों का आचरण दूषित हो जाएगा।

९. स्त्रियों के दूषित हो जाने पर उनसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

१०. वर्णसंकर, कुल नष्ट करनेवालों को और कुल, दोनों को नरक में ले जाते हैं। ऐसे कुलों के पितर अन्न-जल के अभाव में दुःख पाते हैं।

११. इन दोषों के कारण समस्त जाति-धर्म और परम्परागत कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

१२. जिनके कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, वे सदा के लिए दुःखरूप नरक में पड़े रहते हैं।

१३. तब क्या यह दुःख और चिन्ता की बात नहीं है कि हम राज्य पाने के लोभ में स्वजनों की हत्या के पाप में प्रवृत्त हो रहे हैं?

१४. क्या मेरे लिए यह अच्छा नहीं होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निहत्थे को मार डालें?

१५. पूजा के योग्य भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण की ओर मैं बाण कैसे फेंक सकूँगा?

१६. क्या ऐसे पूज्य महानुभावों को मारकर जीने की अपेक्षा भीख माँगकर पेट भर लेना उचित नहीं होगा?

१७. क्या यह उचित होगा कि मैं गुरुओं के खून से सने भोगों को भोगूँ?

१८. क्या हम जानते हैं कि हम दोनों—कौरवों तथा पाण्डवों—में कौन जीतेगा?

१९. क्या पृथिवी के निष्कण्टक समृद्ध राज्य पर मेरा आधिपत्य इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे शोक को दूर कर देगा?

२०. अज्ञान के कारण मैं दीनता के भाव से ग्रस्त हो गया हूँ, इसलिए जो मेरे लिए निश्चय रूप से हितकर हो, वह मुझे

बताइए।

क्या श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में इन प्रश्नों का उत्तर दिया है? हमारे विचार में १८वें प्रश्न को छोड़कर शेष प्रश्नों को तो उन्होंने छुआ तक नहीं। परन्तु यह कैसे हो सकता था कि श्रीकृष्णा जैसे प्रौढ़ विद्वान् और कुशल वक्ता ने उत्तर न दिया हो? और फिर, अर्जुन भी उत्तर पाए बिना कहाँ छोड़नेवाला था? जैसा हम आगे बताएँगे, महाभारत में जहाँ समय-समय पर श्लोक डाले गए हैं, वहाँ निकाले भी गए हैं। गीता मूलत: महाभारत का ही अंग है। हो सकता है कि इस घटने-बढ़ने में ही श्रीकृष्ण के उत्तर निकल गए हों। अस्तु-

भगवद्गीता अथवा महाभारत के अन्तर्गत भीष्मपर्व के २५वें अध्याय से ४२वें अध्याय तक के १८ अध्यायों का नाम है। महाभारत को व्यास की रचना माना जाता है। परन्तु वर्तमान महाभारत के रचयिता व्यास नहीं हैं। वस्तुत: व्यास ने तो वर्तमान में प्रचलित एक लाख श्लोकों में महाभारत का नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने तो ८-१० हज़ार श्लोकों का 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था। कालान्तर में उसमें प्रक्षेप होते गए। कब, किसने, कितना और कहाँ प्रक्षेप किया इसका निश्चय करने के लिए कोई आधार न होने के कारण विद्वान् इस विषय में एकमत नहीं हैं। तथापि इतना निश्चित है कि ये प्रक्षेप समय-समय पर अनेक विद्वानों द्वारा हुए हैं। संस्कृत-साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वर्तमान में प्रचलित महाभारत के तीन कर्ता माने हैं। 'जय' का व्यास-रचित होना निर्विवाद है। व्यास के ही एक शिष्य वैशम्पायन ने कुछ श्लोक बढ़ाकर 'जय' को 'भारत' नाम दिया। उनके 'भारत' की श्लोक-संख्या चौबीस हज़ार बताई जाती है। तत्पश्चात् सौति ने ७६००० श्लोक मिलाकर उसे 'महाभारत' के नाम से प्रतिष्ठित किया । सौति कथावाचक थे। महाभारत के सभी आख्यान उन्हीं के लिखे माने जाते हैं। सम्भव है कि श्रोताओं के मनोरंजन के लिए आख्यानों की रचना करते समय उन्होंने सिद्धान्तों का ध्यान न रखा हो। श्रोताओं के साथ हुए प्रश्नोत्तरों के कारण भी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हो सकती हैं। पूर्वापर-विरोधी और शास्त्र-विरोधी सभी बातों को निश्चित प्रमाणों के अभाव में सौति के सिर भी नहीं मढ़ा जा सकता। अत: विवश हो यही मानना पड़ता है कि विभिन्न कालों में विभिन्न लोग प्रक्षेप करते रहे हैं। महाभारत में सौति को पुराणों

का विद्वान् भी बताया है। इससे स्पष्ट है कि सौति पुराणोत्तरकाल के कथावाचक थे। पुराणों का काल महाभारत के बहुत बाद का है। अंग्रेज़ों के भारत में आने के बाद भी पुराणों की रचना होती रही है, यह निम्नलिखित श्लोक से स्पष्टतः सिद्ध है–

रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फ़र्वरी।
षष्टिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम्॥

–भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग, खं० १, अ० ५

इसलिए पुराणों के आधार पर सौति का काल निश्चित नहीं किया जा सकता। ऐसा भी प्रतीत होता है कि जिस प्रकार साम्प्रदायिक लोग अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, वैसे ही प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं। सौति ने महाभारत की श्लोक-संख्या एक लाख गिनी है। परन्तु महाभारत में इस संख्या की अपेक्षा ४००० से १५००० तक की संख्या कम है, क्योंकि कुम्भघोण संस्करण में लगभग ९६००० श्लोक हैं और कलिकाता संस्करण में ८५००० । इससे स्पष्ट है कि महाभारत में से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं।

हमारा प्रतिपाद्य विषय महाभारत न होकर गीता तक सीमित है, और महाभारत का यह भाग मूलतः निश्चय ही व्यास-रचित है। लोकमान्य तिलक का इस विषय में कहना है–"वर्तमान गीता को महाभारतकार ने पहले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है। यह नई रचना नहीं है। तथापि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारतकार ने कोई हेर-फेर नहीं किया होगा।"

–गीता रहस्य, पृ० ५२५

महाभारत में आदिपर्व के अन्तर्गत निम्न दो श्लोक इस प्रसंग में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं–

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुजैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥८९॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः॥९०॥

सर्वश्रेष्ठ वरदायक भगवान् वेदव्यास ने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारत को सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकदेव और वैशम्पायन को पढ़ाया। फिर उन सब ने पृथक्-पृथक् महाभारत-संहिता बनाकर प्रकाशित की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा महाभारत के पृथक्-पृथक् पाँच संस्करण प्रकाशित हुए। एक ही विषय में लिखने पर भी **पाँच विद्वानों के चिन्तन और अभिव्यक्ति में समानता नहीं हो सकती। इसलिए पाँच महाभारतों में पर्याप्त अन्तर रहा होगा।** वर्तमान में उपलब्ध महाभारत पाँचों में से किसकी रचना है, इसका पता कैसे लगे? फिर, उसे प्रामाणिक या अन्यथा कहने का क्या आधार हो सकता है?

प्रक्षेप से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चित है कि प्रक्षेप किसी पर्व अथवा अध्यायविशेष में सीमित नहीं रहा होगा; वह समूचे महाभारत में यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ होगा। यदि वर्तमान में प्रचलित **लक्षश्लोकी महाभारत मूलतः केवल आठ-दस हज़ार श्लोकों का था तो एक लाख श्लोकों के महाभारत में समाविष्ट सात सौ श्लोकों की गीता का ६०-७० श्लोकों में होना क्या युक्तियुक्त नहीं है?** यह भी हो सकता है कि पूर्व-निर्दिष्ट पाँच संस्करणों में से विलुप्त संस्करणों में वैसा ही संस्करण (१० हज़ार श्लोकी) रहा हो। उसमें गीता का उपदेश भी ६०-७० श्लोकों में दिया गया हो और उसमें इधर-उधर की बातें न करके कृष्ण ने युद्ध से विरत अर्जुन के प्रश्नों का तर्कसंगत, बोधगम्य तथा सूत्रात्मक अर्थात् संक्षिप्त उत्तर दिया हो।

प्रक्षेपों के कारण अनेक की रचना हो जाने से गीता में परस्पर-विरोध, पुनरुक्ति तथा प्रसंग-विरुद्ध कथन आदि अनेक दोष आ गए हैं। उदाहरणार्थ–

द्वितीय अध्याय के २३वें श्लोक में **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः'** कहने के बाद अगले ही श्लोक में **'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्'** कहने की क्या आवश्यकता थी? जिसे शस्त्र नहीं काट सकते उसका 'अच्छेद्य' होना और जिसे 'अग्नि नहीं जला सकती' उसका 'अदाह्य' होना तो स्वतः सिद्ध है। इस श्लोक में आए 'सर्वगतः' शब्द से भी इसका प्रक्षिप्त होना स्पष्ट है। यह 'जीवात्मा' का प्रकरण है। जीवात्मा के 'एकदेशी' होने से उसे 'सर्वगत' नहीं कहा जा सकता। **'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः'** कहने के पश्चात् **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** कहना अनावश्यक था। **'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'** के साथ **'न जायते म्रियते वा कदाचित्'** कहने में क्या तुक थी? **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्-ध्रुवं जन्म मृतस्य च'** इस सिद्धान्त का निरूपण करने के साथ **'न जायते म्रियते वा कदाचित्', 'अथ चैनं नित्यजातम्......', 'देही**

नित्यमवध्योऽयम्.........', 'न त्वेवाहं जातु नासम्.........' इत्यादि कथन क्या व्यर्थ समय नष्ट करना नहीं था? द्वितीय अध्याय में इन्द्रिय-निग्रह की बात बलपूर्वक ५८, ६० व ६१ श्लोकों में कह दी गई। फिर किंचिद् भिन्न शब्दों में ६७-६८वें श्लोकों में कहने की क्या आवश्यकता थी? व्याख्यानों वा प्रवचनों में बल देने के लिए एक ही बात को बार-बार कहा जा सकता है, परन्तु जिस स्थिति में गीता का उपदेश देना पड़ा, उस अवस्था में आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द बोलने का अवसर या औचित्य नहीं बनता।

इसी अध्याय में ४५वाँ (त्रैगुण्यविषया.......) और ४६वाँ (यावानर्थ उदपाने..........) श्लोक अस्थान में होने से प्रक्षिप्त हैं। यह प्रकरण निष्काम कर्म का है। इन दो श्लोकों से पूर्व के ४३-४४वें तथा तत्पश्चात् ४७-४८वें श्लोकों में निष्काम कर्म का विधान किया गया है। ऐसी अवस्था में बीच के श्लोकों में भी निष्काम कर्म के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहिए था। परन्तु इनमें स्पष्ट ही वेदों की निन्दा की गई है जिसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं था।

इस प्रकार गीता में पुनरुक्त, परस्पर-विरुद्ध तथा प्रसंग-विरुद्ध वचनों की भरमार है। वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास द्वारा सम्पादित योगिराज श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में इस प्रकार के दोष ढूँढने पर भी नहीं मिलने चाहिएँ, फिर भी वर्तमान में प्रचलित गीता में ये दोष अनेकत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसके लिए न श्रीकृष्ण दोषी हैं न वेदव्यास। इसके लिए दोषी हैं अज्ञात कुलशील के विद्वान्, जो अपने साम्प्रदायिक मन्तव्यों की पुष्टि के लिए समय-समय पर मनमाने प्रक्षेप करके गीता के कलेवर को बढ़ाते-घटाते रहे हैं।

जिस स्थिति में, अर्थात् युद्ध में प्रवृत्त दो सेनाओं के बीच में खड़े होकर यह संवाद हुआ उसमें विषयान्तर और विस्तार के लिए कोई अवकाश, अवसर या औचित्य नहीं था। वहाँ तो सारी बात कुछ क्षणों में समाप्त हो जानी चाहिए थी। अर्जुन ने लड़ने से इन्कार करते हुए जो बातें कही थीं, केवल उनका उत्तर अपेक्षित था। पूरक या अतिरिक्त प्रश्नों (Supplementries) के लिए भी विशेष अवसर नहीं था। युद्धक्षेत्र में जिस उपदेश की कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं थी और अर्जुन ने जिस विषय में जिज्ञासा भी नहीं की थी, उनका विवेचन वहाँ करने की क्या तुक थी? वहाँ तो श्रीकृष्ण को केवल

शंकाओं का समाधान करना चाहिए था जिन्हें अर्जुन ने अपने युद्ध से विरत होने के कारणरूप में प्रस्तुत किया था।

वहाँ न तो अध्यात्म, योगाभ्यास और समाधि आदि का विवेचन करने का अवसर था और न खान-पान, दान-पुण्य के सात्त्विक, राजस व तामस भेदों की व्याख्या करने का। इस प्रकार के प्रश्न यदि अर्जुन उठाता भी तो श्रीकृष्ण को कह देना चाहिए था कि 'देश, काल और परिस्थिति को देखते हुए इस समय केवल युद्ध-सम्बन्धी बातें कर, शेष बातें युद्ध की समाप्ति पर घर में बैठकर करेंगे। यहाँ तो तू अकेला सुनेगा, वहाँ अन्य अनेक भी सुनकर लाभान्वित होंगे।'

दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लें कि गीता में उपलब्ध उपदेश दिया गया था तो उसका क्या लाभ हुआ? महाभारतकार के अनुसार वह सब अर्जुन तो भूल ही गया, स्वयं श्रीकृष्ण को भी बिल्कुल याद नहीं रहा। वहाँ अश्वमेधादिक पर्व में अनुगीता के अन्तर्गत लिखा है-

एक दिन अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि जब संग्राम का समय उपस्थित था, तब-

> **यत्तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सुहृदात्।**
> **तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः॥६॥**
> **मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।**
> **भवांस्तु द्वारकां गन्ता न चिरादेव माधव॥७॥**

"आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञान का उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित चित्त हो जाने के कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है।

हे माधव ! उन विषयों को सुनने के लिए मेरे मन में बार-बार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं, अतः वे सब विषय मुझे दुबारा सुना दीजिए।"

इस पर श्रीकृष्ण बोले-

> **अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।**
> **न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति॥१०॥**
> **नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।**
> **न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय॥११॥**
> **स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।**
> **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥१२॥**

"हे अर्जुन ! तुमने जो अपनी नासमझी के कारण उस उपदेश को याद नहीं रखा यह मुझे बहुत बुरा लगा है। अब उन बातों का पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता। पाण्डुनन्दन ! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता। ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए वह धर्म पर्याप्त था। अब वह सारा-का-सारा धर्म फिर दुहराना मेरे वश की भी बात नहीं है।"

इससे तो स्पष्टतः प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के अनुसार दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर गीता के नाम पर दिया गया उपदेश अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए दिया गया था, न कि युद्ध से विरत अर्जुन की शंकाओं का समाधान करके उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए। युद्ध के प्रसंग में ब्रह्मपद की प्राप्ति की बातें करना कहाँ की बुद्धिमत्ता थी? अर्जुन को भी साहस करके टोक देना चाहिए था कि महाराज! मैं युद्धक्षेत्र में शस्त्रधारी लाखों सैनिकों के बीच घिरा खड़ा हूँ, ऋषि-मुनियों के बीच किसी आश्रम में नहीं बैठा हूँ । इस समय तो आप मेरी युद्ध-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान कीजिए। ब्रह्मपद-प्राप्ति की बातें युद्ध के बाद होती रहेंगी।

और यदि श्रीकृष्ण अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए कह रहे थे तो बीच-बीच में बार-बार लड़ने के लिए खड़ा होने (**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः**' इत्यादि) के लिए प्रेरित एवं उत्साहित क्यों कर रहे थे?

यह तो होता है कि कभी-कभी विद्यार्थी अध्यापक द्वारा पढ़ाया पाठ भूल जाता है, पर यह कभी नहीं होता कि विद्यार्थी द्वारा फिर से पूछे जाने पर अध्यापक यह कह दे कि अब तो मैं भी भूल गया हूँ इसलिए दुबारा नहीं पढ़ा सकता। निश्चय ही विद्यार्थी से अध्यापक का या शिष्य से गुरु का ज्ञान अधिक होता है।

श्रीकृष्ण ने गीता में एक स्थान पर अर्जुन से कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥४।५॥

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सब (जन्मों) को जानता हूँ । तू नहीं जानता।

अर्जुन सामान्य पुरुष था, उसका भूल जाना कोई बड़ी बात नहीं

है, परन्तु जन्म-जन्मान्तर की बातों को अपने योगबल से जाननेवाले योगिराज श्रीकृष्ण लगभग एक मास पहले की इस जन्म की बातों को भूल जाएँ, यह कैसे सम्भव है?

उस उपदेश को इस समय दुहराने में अपनी असमर्थता का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया । —अनुगीता १३

उस समय मैंने योगयुक्त होकर परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था।

अर्जुन ने कुछ शंकाएँ प्रस्तुत कीं और श्रीकृष्ण ने तत्काल उत्तर देना आरम्भ कर दिया। युद्धक्षेत्र के अशान्त वातावरण में, तुमुलनाद में, श्रीकृष्ण को योगयुक्त होने में देर नहीं लगी। तब उस 'स्वर्ग के समान सुन्दर स्थान' में, सर्वथा एकान्त एवं शान्त वातावरण में, योगयुक्त होने में क्या बाधा थी?

श्रोता अर्जुन के भूल जाने पर श्रीकृष्ण ने उसे 'श्रद्धाहीन, मन्द-बुद्धि और नासमझ' आदि कहते हुए उसकी भर्त्सना की। तब उसी अपराध के लिए वक्ता को क्या कहें? सिवा इसके कि 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं'। महाभारत का एक अन्य श्लोक द्रष्टव्य है जो इस प्रकार है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा।। आदि०१।८१

अर्थात् इस ग्रन्थ में आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिनका अर्थ मैं (वेदव्यास)समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं; और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है।

ये आठ हजार आठ सौ श्लोक कौन-से हैं? इसका निश्चय न तो आज तक कोई कर पाया है और न कभी कोई कर पाएगा। इस समस्त विवेचन से यह तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि महाभारत का और उसके अन्तर्गत भगवद्गीता का अधिकांश प्रक्षिप्त है।

हम यह नहीं कहते कि गीता का अधिकांश अनुपयोगी है अथवा अशुद्ध या व्यर्थ है। हमारा आग्रह तो इस बात पर है कि वह (थोड़े-से श्लोकों को छोड़कर, जिनका सीधा सम्बन्ध अर्जुन की युद्ध के आरम्भ में प्रस्तुत शंकाओं से है) युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ संवाद न होकर कालान्तर में अनेक विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त है।

हमने यहाँ अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार विद्वानों के विचारार्थ

उन श्लोकों को अर्थसहित संकलित कर प्रस्तुत किया है जो प्रसंगानुसार तथा तर्क-प्रतिष्ठित होने से प्रामाणिक हैं। इनमें न्यूनाधिक्य हो सकता है। अन्तिमेत्थम् का दावा हम नहीं करते।

जिस स्थान पर महाभारत का युद्ध हुआ, उसे गीता के प्रथम श्लोक में 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' बतलाया गया है। इस पर लोकमान्य की टिप्पणी इस प्रकार है–

'**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**–कौरव-पाण्डव का पूर्वज कुरु नाम का राजा इस मैदान को बड़े कष्ट से जोतता था, अतएव इसे कुरु का क्षेत्र (खेत) कहते हैं। इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो मनुष्य या पशु-पक्षी निराहार रहकर मरेंगे या युद्ध में मारे जाएँगे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। कुरुक्षेत्र की वायु द्वारा उड़ाई गई धूलि जिसके ऊपर पड़ जाएगी, वे पापी भी परमपद (मोक्ष) प्राप्त करेंगे। तब से उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया। (महा० शल्य पर्व ५३) इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र पुण्यक्षेत्र या धर्मक्षेत्र कहाने लगा। इस मैदान के विषय में यह भी कथा प्रचलित है कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रिय-विहीन करके यहाँ पितृ-तर्पण किया था और अर्वाचीनकाल में भी इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं।' (गीता रहस्य, पृ० ६०८)

तिलक द्वारा महाभारत से उद्धृत यह प्रमाण किसी बुद्धिजीवी के गले नहीं उतर सकता, क्योंकि वह स्वयं महाभारत में अनेकत्र प्रतिपादित कर्मफल-सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करता है।

गीता में श्रीकृष्ण की सुविचारित घोषणा है–

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥६।४५॥

यत्नपूर्वक उद्योग करता हुआ योगी, जिसके पाप शोधे गए, अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करता हुआ परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है, तब मात्र कुरुक्षेत्र की धूलि ऊपर गिर जाने अथवा वहाँ निराहार मर जाने से पशु-पक्षियों तक को मोक्ष मिल जाने की बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? फिर, परशुराम द्वारा २१ बार पृथिवी को क्षत्रियविहीन कर देना कौन-सा पुण्यकर्म था?

महाभारत-युद्ध में ही १८ अक्षौहिणी सेना (५० लाख मनुष्य) में से केवल १० व्यक्तियों को छोड़कर सभी काल के गाल में समा गए

थे। ऐसी भूमि को पुण्यभूमि या धर्मक्षेत्र कैसे माना जा सकता है? इतिहासज्ञ एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि इसी युद्ध के कारण भारत का इतना पतन हुआ कि जो देश कभी विद्या, चरित्र, विज्ञान और कला की दृष्टि से सब देशों का शिरोमणि और समृद्धि की दृष्टि से पारसमणि और सोने की चिड़िया माना जाता था, वह पतन के गर्त में ऐसा गिरा कि आज तक भी उससे पूरी तरह नहीं उभर पाया है। न तो घरेलू झगड़े के कारण हुए ऐसे विनाशकारी युद्ध को धर्मयुद्ध कहा जा सकता है और न ऐसे युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है।

□□

आयुर्वेद किसका उपवेद ?

शरीर के पञ्चभूतों से बने और जीव के अल्पज्ञ एवम् अल्पशक्ति होने से अयुक्त आहार-विहार आदि के कारण उसका कभी-कभी रोगों से आक्रान्त हो जाना सम्भव है। स्वस्थ व्यक्ति रोगी न हो और रोगी स्वस्थ हो जाए—यही चिकित्साविज्ञान अथवा आयुर्वेदशास्त्र का प्रयोजन है। **'एतावदेव भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठानञ्च यावद्धातूनां साम्यं स्यात् ।'** (चरक, शरीरस्थान अ० ६)

ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है—**'यत्किञ्चिद्वै मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः।'** उन्हीं भगवान् मनु की मान्यता है—**'सर्वज्ञानमयो हि सः'**--मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार वेद है। इसलिए **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'**—किसी विषय में कुछ जानना हो तो खोजने पर मूलरूप में वह वेद में मिल जाएगा। महर्षि गौतम ने वेदों के स्वतः प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन में कहा है—**'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'** (२।१।६८) अर्थात् वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद-भाग है उसके अनुसार कार्यानुष्ठान से अनुकूल फल की प्राप्ति सिद्ध है। इससे उतने भाग का प्रामाण्य सिद्ध होने से आप्तप्रामाण्य को बल मिलता है और उसके आधार पर समस्त वेद का प्रामाण्य सिद्ध होने से आप्तप्रामाण्य को बल मिलता है और उसके आधार पर समस्त वेद का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। न्यायदर्शन के इस सूत्र में प्रकारान्तर से वेद में आयुर्वेद-विषयक ज्ञान के उपलब्ध होने की स्थापना के साथ-साथ उसके अनुष्ठान के अनुकूल फल की प्राप्ति में आस्था व्यक्त की गई है।

अथर्ववेद के मन्त्रसमुदाय का नाम 'ब्रह्म' है, इसलिए अथर्ववेद का अपर नाम ब्रह्मवेद है। स्वयं अथर्ववेद में इसकी अन्तःसाक्षी उपलब्ध है। अथर्ववेद (१५।६।८) में चारों वेदों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन करते हुए कहा है—**'तमृचः सामानि यजूꣳषि ब्रह्म चानुव्यचलत् ।'** तदनुसार गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है—**'चत्वारो वै इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।'** गोपथ ब्राह्मण के अनुसार **'अथर्वाङ्गिरोभिर्-**

ब्रह्मत्वम्'—अर्थात् अथर्ववेद को जाननेवाला ही ब्रह्मा होता है। इसलिए ब्राह्मणग्रन्थों की घोषणा है—**'अथर्वैर्वा ब्रह्मा'**। इसका अभिप्राय यही है कि ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक चारों वेदों का जाननेवाला ब्रह्मा के पद का अधिकारी होता है। इसी से औपचारिक रूप में ब्रह्मा के चतुर्मुख रूप की कल्पना कर ली गई प्रतीत होती है। पुनः अथर्ववेद (११।६।१४) में ब्रह्म के स्थान पर 'भेषज' पद रखकर कहा गया—**'ऋचः सामानि भेषजा यजूँषि'**। यही बात गोपथ ब्राह्मण (गो० पू० ३।४) में इन शब्दों में दुहराई गई—**'यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म'**। इस प्रकार 'ब्रह्म' तथा भेषज अथर्व के पर्यायवाची होते हैं। इस बात की पुष्टि करते हुए ताण्ड्य-महाब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया—**'भेषजं वा अथर्वाणि'** (१२।९।१०)। इस प्रकार चिकित्सा-विज्ञान अथवा आयुर्वेद का अथर्ववेद से सीधा सम्बन्ध है। अथर्ववेद का ज्ञाता कितने आत्मविश्वास के साथ मृत्यु को आदेश देता है—**'कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः'** (अथर्व० ८।२।५)।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट आयुर्वेद के वृद्धत्रयी हैं। चरक संहिता (सूत्रस्थान अ० ३०) में प्रश्न उठा—**'कस्मादायुर्वेदः?'**—आयुर्वेद कहाँ से आया? इसके उत्तर में महर्षि चरक ने कहा—**'चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते वेदञ्चोपदिश्यायुर्वाच्यम्'**—आयु के हितार्थ चिकित्सा-शास्त्र का उपदेश किया गया है और वेद का उपदेश आयु का उपदेश करने के लिए किया गया है। पुनः प्रश्न उठा कि चारों वेदों में कौन-सा वेद मुख्य रूप में चिकित्साशास्त्र का प्रतिपादक है? महर्षि ने उत्तर दिया—**'तत्र भिषजा पृष्टेनैवञ्चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानाम् आत्मकोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणः स्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियम-प्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह ।'**—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदों में अथर्ववेद में आयुर्वेद का उपदेश है, क्योंकि अथर्ववेद में ही स्वस्त्ययन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास और मन्त्र आदि परिग्रह द्वारा चिकित्सा का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भगवान् सुश्रुत का वचन है—**'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य'** (सूत्रस्थान १।३)। काश्यपसंहिता (विमानस्थान) में भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है।

मोनियर विलियम्स ने अपनी Sanskrit-English Dictionary में, लिखा है—आयुर्वेद 'Considered as a supplement to Atharva Veda.'

परन्तु उपवेद का अर्थ करते हुए उसने लिखा है कि 'आयुर्वेद' ऋग्वेद का उपवेद है; साथ ही यह भी लिख दिया है—This is according to चरणव्यूह 'But according to Sushruta it belongs to Atharva Veda.' अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के पाँच उपवेद कहे हैं—**'पञ्च वेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराण-वेदञ्चेति ।'** (गो० १।१०) इनमें न तो आयुर्वेद का उल्लेख है और न अर्थवेद का ।

प्राचीन ग्रन्थ 'चरणव्यूह' में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना है। ग्रन्थकार का भी यही मत है। प्रसिद्ध कोशकार आप्टे ने भी ऐसा ही माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ऐसा समझते हैं कि अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद में आयुर्वेद का विषय अधिक है। उनके भाष्य में भी सोम, रुद्र, अश्विनौ आदि के अनेक मन्त्रों की आयुर्वेदपरक व्याख्या उपलब्ध होती है। अग्नि, सूर्य, आपः, मित्र, वरुण आदि प्रायः सभी देवों के मन्त्र प्राकृतिक चिकित्सा के पक्ष में विनियुक्त हो सकते हैं। कुछ सूक्त तो स्पष्टतः आयुर्वेद-सम्बन्धी हैं।

दोनों पक्षों के आचार्य सुविज्ञ हैं। किसी के भी विचार को भ्रान्तिमूलक नहीं कहा जा सकता। प्रतीयमान इन विरोधी धारणाओं में समन्वय सम्भव है। आयुर्वेद के दो अभिप्राय हैं—व्यावहारिक एवं अध्यात्मिक। दोनों अभिप्रायों के अनुसार 'रोग, जरा, मृत्यु' पर विचार करना चाहिए। चरक, सुश्रुत आदि ने आयुर्वेद के व्यावहारिक पक्ष के अनुसार आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग या उपवेद कहा है जो कि अथर्ववेद के विषयों के अनुरूप है। व्यावहारिक जीवन में होनेवाले 'रोग-जरा-मृत्यु' का विषय अथर्ववेद में है, अतः इस दृष्टि से आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। परन्तु 'रोग-जरा-मृत्यु' का उच्चस्तर के आध्यात्मिक जीवन के साथ विशेष सम्बन्ध है। आध्यात्मिक विधियों के द्वारा इन तीनों का मूलोच्छेद हो सकता है; व्यावहारिक उपचारों द्वारा नहीं। व्यावहारिक उपचारों के होते हुए भी 'रोग-जरा-मृत्यु' बार-बार होते रहते हैं। आध्यात्मिक उपचारों द्वारा इन तीनों से मुक्ति पाकर मुक्तात्मा चिरकाल तक जैसे विमुक्त रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (२।१२) में कहा है- **"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।"** पाँच भूतों को वश में करने के अनन्तर जब योगी का शरीर योग की अग्नि से देदीप्यमान हो जाता है, तब वह रोगहीन हो जाता है। उस अवस्था में

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ १॥–य०अ० ६। मं० २२

भाष्यम्–अस्याभिप्रायार्थः–इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति।

न उसे बुढ़ापा सताता है और न मृत्यु। योगानुसार ईश्वरप्रणिधान द्वारा रोग आदि से शीघ्र और स्थायी छुटकारा पाया जा सकता है। अतः यह आध्यात्मिक आयुर्वेद का विषय है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि ऋग्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य परमेश्वर है जिसके प्रणिधान द्वारा रोग आदि से पर्याप्त दीर्घकाल तक स्थायी तौर पर मुक्ति मिल जाती है और आत्मा की सम्यक् स्वनिष्ठस्थिति प्राप्त हो जाती है, यथा–

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥[1]

–ऋ० १।१६४।३९

वस्तुतः आयुर्वेद आयुर्विज्ञान अर्थात् आयु का विज्ञान है। जीव का शरीर के साथ संयोग जीवन कहाता है। जितनी देर यह संयोग रहता है उसे आयु कहते हैं। यह संयोग कैसे और किसलिए होता है–जिससे यह जाना जाता है वह आयुर्वेद है। सुश्रुत में कहा है–'**आयुरस्मिन् विद्यते वायुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।**' सूत्रस्थानम् १।१५। इसकी व्याख्या करते हुए उद्धरण में लिखा है–**आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो विद्यते ज्ञायते विचार्यते अनेनेति'। इति व्युत्पत्तिलाभे ऋग्वेदस्योपवेदो विन्दतीति व्युत्पत्तेर्गौणित्वेन।** हमारी आयु=जीवन का क्या प्रयोजन है–यह बताना ऋग्वेद का काम है। **यह जीवन किस प्रकार बना रहे, औषधादि के प्रयोग के द्वारा यह निर्देश करना अथर्ववेद के क्षेत्र में आता है। इस प्रकार आयुर्वेद उपवेद तो ऋग्वेद का ठहरता है, उपाङ्ग विशेषतः अथर्ववेद का** तथा सामान्यतः अन्य वेदों का भी हो सकता है। इस प्रकार अध्यात्म-आयुर्वेद का सम्बन्ध योग और ऋग्वेद दोनों से उपपन्न है।

यहाँ केवल वैद्यकशास्त्र के मूलमात्र के उद्देशार्थ सामान्य मन्त्र का निर्देश किया है, किसी रोग की चिकित्सार्थ विशिष्ट ओषधि का नहीं। ऐसा सामान्य मन्त्र यजुर्वेद में है। इसीलिए यहाँ यजुर्वेद का मन्त्र दिया है। आयुर्वेद-सम्बन्धी उपवेदादि के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

चिकित्साशास्त्र में स्वास्थ्य के आधारभूत एवं जीवनयात्रा के मुख्य तत्त्वों, मनुष्य के स्वस्थ बने रहने के लिए अभीष्ट दिनचर्या, ऋतुचर्या,

---

१. समासते=सम्यक् आसते ।

हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र 'इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्' (७।१।३९) इति वार्त्तिकेन 'जसः' स्थाने 'डियाच्'[1] इत्यादेशः। सुमित्राः सुखप्रदा अनाशकाः सन्तु, यथावद् विज्ञाताश्च। तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु। तथा (योऽस्मान् द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै दुर्मित्रियाः) दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु, अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशका भवन्ति तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति॥

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते। यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः।

आहार-विहार, निवास-प्रवासादि स्वास्थ्योपयोगी बातों और रोगी हो जाने पर रोग से मुक्ति पाने के साधनोपायों, उपचारों एवं रोगी-परिचर्या और ओषधियों के युगधर्म का प्रतिपादन होता है। वेदों में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान बीजवत् है। उनमें किसी तत्त्व का विशद प्रयोगात्मक रूप नहीं है। जब हम ज्ञान के बीज को अपनी बुद्धिरूपी भूमि में वपन करके चिन्तन, मनन, अनुभव, परीक्षण आदि के जल से सिंचित करते हैं, तभी वह बीज वृक्षरूप में विकसित होकर फलप्रद होता है।

'उष दाहे' इत्यस्मादोष इति, ओषं दाहं दुःखं बाधयन्ति पिबन्ति विनाशयन्ति ते ओषधयः।—जो दाहजनक रोगों का नाश करती है, अथवा **'ओषति दाहे सति रोगिण एना धयन्ति पिबन्तीति ओषधयः।'**—जो अग्निसमान रोग से सन्तप्त होने पर 'एनाः' इन रोगों को पी जाती हैं, अथवा

---

१. अत्राऽऽकारान्तं पदच्छेदं मत्वा 'डियाच्' आदेशो विहितः। इत्थमेव ग्रन्थान्ते वैदिकव्याकरणनियमेष्वपि वार्तिकस्यास्य व्याख्याने मन्त्रांशोऽयमुद्धृतः। परन्त्विह 'दुर्मित्रियाः' पदं स्पष्टमेव सकारान्तं विद्यते। यजुर्वेदभाष्येऽपि सर्वत्र 'सुमित्रियाः' इत्येवं सकारान्तमेव पदं निर्दिश्यते तथासति जसः स्थाने डियाजादेशे सकारान्तत्वं पदस्य नोपपद्यते। तस्मात् 'सुमित्रियाः दुर्मित्रियाः' पदयोः स्वार्थे घच् प्रत्ययः (४।४।११८) उपसंख्येयः। तुलना कार्या—सुमित्र्याः दुर्मित्र्याः (आ० श्रौ० ३।४।२) सुमित्र्याः (ऋ० १०।६५।३)।

भाषार्थ—(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से (आप:) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ, तथा (ओषधय:) सोमलता आदि सब ओषधियाँ (न:) हमारे लिए (सुमित्रिया: सन्तु) सुखकारक हों; तथा (दुर्मित्रिया:) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उनके लिए विरोधिनी हों; क्योंकि, जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं उनके लिए सदा दुःख देनेवाले होते हैं ।

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं।

॥ इति वैद्यकविद्याविषय: संक्षेपत: ॥

'वातपित्तादिकं दोषं धयन्तीति'—जो वातपित्तादि दोषों को नष्ट कर देती हैं वे ओषधि कहाती हैं। मित्र शब्द **'मिदि स्नेहने'** से निष्पन्न होता है। इसके विपरीत **'द्विष अप्रीतौ'**—द्विष धातु का अप्रीति अर्थ में प्रयोग होता है। 'द्वेष' और 'स्नेहन' में समानाधिकरण सम्भव न होने से 'दुष्टत्व' तथा 'मित्रत्व' में भी समानाधिकरण उपपन्न नहीं होता। अत: 'दुर्मित्र' पद का अर्थ 'दुष्ट मित्र' नहीं बनता। परिणामत: **'दुर्मित्रिया:'** का **'शत्रुरूपा: दुखप्रदा:** अथवा **विरोधिन्य:'** अर्थ सर्वथा उपयुक्त है। **'सुमित्रिया:'** का अर्थ **सन्मित्ररूपा: सुखप्रदा:** अथवा **सुखकारका:'** स्वत: सिद्ध है।

प्राकृतिक पदार्थों में महौषध होने के कारण **'आप:'** यहाँ समस्त ओषधियों का उपलक्षण है। अन्य आहार की वस्तु होने के साथ-साथ और जल प्राकृतिक चिकित्सा का मुख्य साधन है। वृष्टि, स्रोत, झरने और नदी के रूप में प्राप्त अथवा कुएँ से निकला शुद्ध जल विविध विधियों—शीतोष्णपान, स्पर्श, मार्जन, टकोर, भाप, मर्दन, धारापात आदि के रूप में प्रयोग किये जाने पर अनेक दु:साध्य रोगों को दूर करने में ओषधरूप हो जाता है।[1]

---

१. आप: भिषजां सुभिषक्तमा:। —अथर्व० ६।२४।२
आपो विश्वस्य भेषजी:। —अथर्व० ३।७।५
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा:। —अथर्व० १।६।२
अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। —अथर्व० १।४।४
आप: पृणीत भेषजं वरुथं तन्वे मम। —अथर्व० १।६।३
अमृतमुदकनाम। —वैदिक निघण्टु १।१२

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि सभी मनुष्य अपने-अपने द्वेषियों के लिए ऐसी प्रार्थना करेंगे तो परमेश्वर किस-किसकी सुनेगा? इस शंका का समाधान महर्षि द्वारा आर्याभिविनय में किए गए इस मन्त्र के अर्थ में किया है। वहाँ परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना 'न्यायकारिन्' संबोधनपूर्वक की गई है। अन्यायकारी और अन्यायपीड़ित दोनों ही न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत होकर अपने-अपने पक्ष में न्याय की प्रार्थना करते हैं, परन्तु न्यायाधीश दोनों पक्षों की बात सुनकर निर्दोष के पक्ष में निर्णय देकर अपराधी को दण्डित कर न्याय-व्यवस्था को बनाए रखता है। इसी प्रकार परमेश्वर सबकी सुनता किन्तु न्यायानुकूल निर्णय देता है ।

ईश्वरीय ज्ञान वेद में किसी के अहित की कामना की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए उक्त मन्त्र का किसी के प्रति शाप में विनियोग सम्भव नहीं । शब्दों का केवल निर्गलित अर्थ ही अभिप्रेत नहीं होता, उससे भिन्न अर्थ भी निर्दिष्ट होता है। सूर्यास्त की सूचना देने का इतना ही अर्थ नहीं है कि सूर्य अस्ताचल की ओर प्रयाण कर गया। यह तो सब किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। सूर्यास्त की सूचना का निहितार्थ यह है कि सन्ध्या-अग्निहोत्रादि का समय हो गया है। वेदमन्त्रों के माध्यम से प्रार्थना करनेवाला भगवद्भक्त किसी के अहित का चिन्तन नहीं कर सकता। जब वह दुष्ट लोगों के लिए ओषधियों के दुःखप्रदा होने की बात कहता है तो प्रकारान्तर से वह यही कह रहा होता है कि वे द्वेष आदि का परित्याग करके सन्मार्ग पर चलने लग जाएँ जिससे उनके लिए भी **'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'** की प्रार्थना सार्थक हो सके । जिस प्रकार कुपथ्य का सेवन करनेवाले को ओषधि लाभ नहीं पहुँचाती, उसी प्रकार कुपथगामी के लिए संसार के पदार्थ हितकर सिद्ध नहीं होते।[1] आर्याभिविनय में इस मन्त्र के अर्थ का विस्तार करते हुए लिखा है-जो

---

१. **'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्टाध्यायी ३।१।८५) के अनुसार लकार का छान्दस व्यत्यय करके 'सन्तु' का अर्थ 'सन्ति' की भाँति करना होगा। इस सन्दर्भ में निरुक्तशास्त्र का आदेश है-**'अर्थनित्यः परीक्षेत''''''यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत'** (२।१) अर्थात् जहाँ व्याकरण के अनुसार अर्थ अनुगत नहीं होता वहाँ अर्थ को मुख्य मानकर किसी अर्थ की समानता से निर्वचन करे'''''' ''''अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्त्तन अभीष्ट है। पाणिनि ने उक्त सूत्र लिखकर और महाभाष्यकार ने इस सूत्र का भाष्य लिखकर वास्तव में निरुक्तशास्त्र के सिद्धान्त का निर्देश अपने शास्त्र में प्रतिपादित कर दिया।

हमसे द्वेष–अप्रीति=शत्रुता करता है तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं–अर्थात् जो अधर्म करे उसको आपके रचे पदार्थ दुःखदायक हों जिससे वह हमको (धर्मात्माओं को) दुःख न दे सके और हम लोग सदा सुखी रहें।"

यह प्रार्थना समाज के हित में **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** की पवित्र भावना से प्रेरित है। जो सत्कर्मनिरत धर्मात्मा मनुष्यों से द्वेष करता है और ऐसे मनुष्य जिस पापी से द्वेष करते हैं अर्थात् प्रीति नहीं करते, वह मनुष्य असामाजिक तत्त्व है। मन्त्रगत **'योऽस्मान् यं च वयम्'** शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति सबसे द्वेष करता है और जिस एक व्यक्ति से सारा समाज द्वेष करता है, निश्चय ही ऐसा व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से हेय है। गीता (१२।१५) में कहा है–**'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः'**–जिससे न लोगों को क्लेश होता है और न जिसे लोगों से क्लेश होता है, वही परमेश्वर को प्रिय होता है। आदर्श व्यक्ति वह है जिसके विषय में वेद (३६।१८) कहता है–**"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे"**–जो सबको मित्र की दृष्टि से देखे और जिसे सब मित्र की दृष्टि से देखें ।

□□

चिकित्सा-विज्ञान

वेदों में जीव-विज्ञान (Biology) का विस्तृत वर्णन पाकर डॉक्टर वी०जी० रैले ने अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'The Vedic Gods' में लिखा–

"Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world in the Rigveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books, or, whether they are books on anatomy or physiology of the nervous system, without the knowledge of which psychological deductions and philosophical speculations cannot be correctly made."

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी-संस्थान की रचना-सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के वर्णनों से इतना मेल खाता है कि कई बार मन में प्रश्न उठता है कि वेद वास्तव में धर्मग्रन्थ हैं या शरीरविज्ञान या नाड़ी-संस्थान की रचना-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं जिन्हें जाने बिना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारों को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

रक्त-संचार (circulation of blood) के सिद्धान्त का पता यूरोप वालों को डॉक्टर हार्वे के द्वारा भले ही सत्रहवीं शताब्दी में लगा हो, परन्तु यजुर्वेद के व्याख्यानरूप शतपथब्राह्मण (१४।४।८।१) में 'हृदय' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि हृदय को यह नाम इसलिए दिया गया है कि वह तीन काम करता है–'हृ' से 'हरति', 'द' से 'ददाति' और 'य' से 'याति'–वह लेता है, देता है और गति करता है। हृदय शरीर से दूषित रक्त को लेता है और फेफड़ों द्वारा उसे शुद्ध करके शरीर को देता रहता है और इस निमित्त सदा धड़कता=गति करता रहता है। इस प्रकार हृदय शब्द में ही रक्त-संचार का भाव आ जाता है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है–

कोऽस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूमा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥

–अथर्व० १०।२।११

इस मन्त्र में रक्त के लिए 'आपः' और हृदय के लिए सिन्धु शब्दों का प्रयोग हुआ है। आपः का मूल-यौगिक अर्थ है–व्याप्त (आप्लृ, व्याप्तौ)–शरीर में सर्वत्र व्याप्त होने से रक्त का आपः नाम सर्वथा उपयुक्त है। इसी प्रकार हृदय के लिए सिन्धु शब्द सार्थक है–'समुद्रवन्त्येनमापः'–सभी नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं, इसलिए उसे समुद्र या सिन्धु कहते हैं। शरीर का रक्त शुद्ध होने के लिए चारों ओर से हृदय की ओर जाता है और वहाँ से शुद्ध होकर बाहर सब अंगों में पहुँचता है।

अथर्ववेद काण्ड २, सूक्त ३३ तथा काण्ड १० सूक्त २ में शरीर के प्रधान अंगों के वर्णन के साथ-साथ तत्तद् अंग अथवा संस्थान से रोगनिवृत्ति का उल्लेख किया है। इन प्रधान अंगों की संख्या ६४ बताई गई है। इन्हीं के अन्तर्गत अन्य अंग भी हो सकते हैं। वेद में दाएँ फेफड़े को 'क्लोम' और बाएँ को 'हलीक्ष्ण' नाम दिये हैं। सुश्रुत में भी यह अन्तर स्पष्ट है, यद्यपि नामकरण में थोड़ा भेद है। वहाँ लिखा है–**वामतः प्लीहा फुप्फुसो दक्षिणतो यकृत् क्लोम च** (सु० ४।३७)। क्षीरस्वामी ने भी प्रायः मिलते-जुलते शब्दों में कहा है–'**हृदयस्य दक्षिणे यकृत् क्लोमो वामे प्लीहा फुप्फुसश्चेति ।**' इस प्रकार आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी दाएँ फेफड़े को क्लोम नाम से अभिहित किया है।

दूषित रक्त हृदय के वाम कोष्ठ में स्पन्दन करता है और शुद्ध रक्त हृदय से शरीर की ओर स्पन्दन करता है। 'अरुणाः'–अनीमिक अवस्था में रक्त कम लाल, कम आभा वाला होता है। 'लोहिनी' (जिसमें लोहे की मात्रा अधिक होती है) अधिक लाल होता है। 'ताम्रधूम्राः'–तांबा लाल होता है परन्तु आग पर रखने से इससे निकलनेवाला धुआँ नीला होता है। शिराओं (Veins) का रंग नीला होता है और धमनियों (Arteries) का रंग लाल होता है। शरीर की नाड़ियों का वर्णन विशेषतः इस मन्त्र में किया है–

एतास्तेऽसौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उपतिष्ठन्तु त्वात्र ॥

अथर्व० १८।४।३३

इस मन्त्र में 'धेनु' नाम से नाड़ियों का उल्लेख हुआ है। 'धेनु' और 'धमनि' निघण्टु में पर्याय रूप में रखे हैं। एनी, श्येनी, सरूपा और विरूपा नाम की चार प्रकार की धेनु या धमनियाँ हैं। इनमें अरुण

रंगवाली वातवाहिनी शिराएँ, 'एनी' श्वेत रंगवाली कफवाहिनी, 'श्येनी' रक्त वर्णवाली 'सरूपा' तथा नीले रंगवाली 'विरूपा' कहलाती हैं।

सुश्रुत के शरीरस्थान में भी इन चार प्रकार की शिराओं का ऐसा ही वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है–

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना शिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफान्।
असृग्ग्रहास्तु रोहिण्यः शिरा नात्युष्णशीतलाः।।

–सु० शरीर ७।२०

और इन रक्तवाहिनी नाड़ियों के प्रवेश और निकास से उत्पन्न कलकल शब्द करनेवाले रक्ताशयों को बार-बार कँपानेवाला प्राण है, जो जीवात्मा की चेतना से प्रेरित होकर हृदय-कमल में प्रविष्ट होता है। वही शरीर का आधार-स्तम्भ है। इस आशय को प्रकट करनेवाला अथर्ववेद का यह मन्त्र है–

प्राणः सिन्धूनां कलशा अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिकाविशन् मनीषया ।। १८।४।५८।।

इनके अतिरिक्त अनेक छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ हैं जिन्हें 'तिलवत्सा' कहते हैं ।

अथर्ववेद ने **'भूयसीः शरदः शतम्'** कहकर सौ वर्ष से भी अधिक काल तक जीने की प्रेरणा की है। परन्तु स्वस्थ एवं नीरोग रह-कर जीना ही जीना है। एतदर्थ वेद ने युक्ताहार-विहार को सर्वोत्तम साधन मानते हुए कहा–

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ।।

–अथर्व० ८।२।१९

यह मन्त्र आयुष्यगण में पठित है और इसकी देवता आयु है। इस मन्त्र के द्वारा वेद ने अन्न, जल, दूध, फल आदि आहार तथा वस्त्र, स्थान आदि विहार-सामग्री को विष-दोष से सर्वथा अछूता रखने के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। आयुर्वेद की बृहत्-त्रयी में परिगणित 'अष्टाङ्गहृदय' के सूत्रस्थान (७।२९) में विषों के अन्तर्गत विरुद्ध भोजन का उल्लेख करते हुए कहा-**'विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम्।'** सुश्रुत में भी कहा–**'संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति'** (सूत्रस्थान २०।८)। वहाँ पर खरबूजे, तरबूज, ककड़ी, मूली,

गाजर, खटाई, नमक, तेल, दही, पिट्ठी, आदि को दूध के साथ खाना उदर में जाकर विष उत्पन्न करनेवाला बतलाया है। इसी प्रकार दन्त-धावन, स्नान के जल, कंघे, उबटन, चन्दनादि लेपन, अंजन, माला, वस्त्र, शय्या आदि के भी विषयुक्त होने का उल्लेख किया गया है। समस्त रोगों का कारण विष है। अतएव अथर्ववेद (९।८।१०) में कहा है– **'यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्'**–मैं समस्त रोगों के विषों को तुझसे दूर करता हूँ।

परन्तु **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।'**–कभी न कभी प्रायः सभी को कोई न कोई रोग आक्रान्त कर बैठता है। तब चिकित्सा के द्वारा उसका निवारण आवश्यक हो जाता है। चिकित्सा का पात्र शरीर है। शरीर में विकृति आ जाने पर उसकी चिकित्सा की जाती है। अतएव शरीर की प्रकृति और अवयवों का ज्ञान अनिवार्य है। इसके बिना उपचार असम्भव है, इसलिए शरीर की उत्पत्ति, उत्पत्ति में मूल तत्त्व, शरीर का विकास करनेवाली धातुएँ, उसका आधार, स्थान, वृद्धि का क्रम, बाह्य अंगों का परिगणन, आन्तरिक सूक्ष्म उपकरणों तथा वृत्तियों का निर्देश, गर्भ, गर्भ की स्थिति और प्रसूति का वर्णन तथा सुरक्षा के उपचारों का प्रतिपादन आदि शरीर स्थान का विषय है। अथर्ववेद में दो मन्त्र हैं–

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमञ्च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्ष सस्ते अभि चक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम्॥

–अथर्व० १८।४।२८-२९

इन मन्त्रों में 'सप्तहोता' और 'सप्तमातरम्' के नाम से शरीर के अवयवों (**अङ्गानि वाव होत्राः**–गो० उ० ६।६) के रूप में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र–इन सात धातुओं का उल्लेख किया गया है; और मूल तत्त्व के रूप में वायु, अर्क और रयि अर्थात् सोम के नाम से वात, पित्त और कफ का वर्णन किया गया है। **'अग्निर्वा अर्कः।'**–शतपथ (१०।६।२।५) के इस वचन के अनुसार 'अर्क' अग्नि का पर्याय है, और चरक (सूत्रस्थान १२।८) के अनुसार **'अग्निर्वा शरीरे पित्तान्तर्गतः'**–शरीर में अग्नि पित्तरूप है। इसी प्रकार **'सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः'** (चरक सूत्र० १२।८) रयि अथवा सोम कफरूप है।

दूसरे मन्त्र की मानो व्याख्या करते हुए सुश्रुत (सूत्र २१।९) में

लिखा है–

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिला तथा॥

जैसे वायु प्रेरणा–गति देने, सूर्य रस का आदान करने और सोम विसर्जन करने से जगत् को धारण करते हैं, वैसे ही वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करते हैं। वायु को वेद ने 'शतधारम्' अर्थात् असंख्य धाराओं–नाड़ी–स्रोतों से युक्त कहा तो चरक ने उसका **'तन्त्रयन्त्रधरः प्रवर्त्तकश्चेष्टानां नियन्ता प्रणेता मनसः सर्वेन्द्रियाणामुद्योनकः'** के रूप में वर्णन किया है।

ऋग्वेद के कई मन्त्रों में त्रिधातु शब्द से त्रिदोष का संकेत किया गया है–**त्रिधातुशर्म वहतं शुभस्पती** (१।३४।६)। **इन्द्र त्रिधातुशरणम्** (४।७।२८)। अथर्ववेद के तो सैकड़ों सूक्त आयुर्वेद से सम्बद्ध हैं, जिनमें शरीर में अग्नि की स्थिति, पाचन–क्रिया, शरीर के अंग-प्रत्यंग के नाम, रोगों के नाम, ओषधियों के नाम व गुण, कृमियों का विस्तृत वर्णन, विषविज्ञान, चिकित्सा के विविध प्रकार, शल्य–चिकित्सा, रसायन एवं वनस्पतियों का विशद रूप से वर्णन हुआ है।

शरीर–रचना विज्ञान–अथर्ववेद के १०वें काण्ड के दूसरे सूक्त में प्रश्नोत्तर की रोचक शैली में मनुष्य के सिर से लेकर पैरों तक सभी मुख्य–मुख्य अंगों–प्रत्यंगों के नाम ले-लेकर उनका उल्लेख हुआ है और पूछा गया है कि किसने इनकी रचना की है। ऋषि दयानन्द ने शरीर–रचना में अद्भुत कौशल को ईश्वरसिद्धि में प्रमाण–रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है–

"देखो ! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत्, फेफड़ा, पंखा, कला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूल रचना, लोम–नखादि का स्थापन, आँख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान–विशेषों का निर्माण, सब धातुओं का विभाग–करण आदि अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन बना सकता है?"

(सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास)

इस सब का यथायथ वर्णन और विकार आने पर समुचित

चिकित्सा वेदों में उपलब्ध है। अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ८ में शरीर की २४ चेष्टाओं तथा अन्तःकरण के २३ धर्मों का परिगणन किया है। उदाहरणतः—

जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन्।।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्।।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन्।।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्।।

अथर्ववेद के नैघण्टुक वर्णन में चिकित्सोपयोगी दो प्रकार की वस्तुओं का समावेश है : एक—जल, वायु, अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि प्राकृतिक पदार्थ; और दूसरी—ओषधि, वनस्पति आदि। इन सब के नाम, रूप तथा गुण-धर्मों का वर्णन विस्तारपूर्वक विभिन्न रोगों के प्रकरण में किया गया है। काण्ड ८, सूक्त ७ के २८ मन्त्रों में पर्वत तथा समस्थलों, भूप्रदेशों और जल में उत्पन्न होनेवाली ओषधियों को ऋतु-ऋतु में संग्रह करने तथा उनके स्वरस, कषाय, गोली, वटी, आदि विधि-कल्पों को तैयार कर समस्त प्राणियों की सफल चिकित्सा के साथ-साथ ओषधियों का आकार-भेद, रंग-भेद, गुण-भेद, स्वरूप-भेद, उत्पत्तिस्थान-भेद, उपयोज्य-भेद आदि से वर्गीकरण किया गया है।

मन्त्र १ में भूरी, श्वेत, लाल, चितकबरी, नीली और काली ओषधियों का उल्लेख है। मन्त्र १२, १३, १६ और २७ में आकारभेद से वृक्ष, पौधे, तृण, लता, फूलवाली, फलवाली, पत्तोंवाली और कन्दवाली ओषधियों का, मन्त्र ४ में स्वरूपभेद से अनेक शाखाओं वाली, एक मूल वाली, अनेक मूल वाली, केवल तने वाली, अंकुरावयव वाली व काँटों वाली ओषधियों का, मन्त्र ६, ७ व १० में गुणभेद से जीवन्ती अर्थात् जीवन देने वाली, रक्षणी, मर्मभरणी, उन्नयनी अर्थात् स्फूर्तिदायिनी, पोषणी, मधुमती, संशोधनी, स्नेहनी, विषदूषणी या विषनाशिका, स्तन्या (दूध उत्पन्न करने वाली) आदि ओषधियों का, मन्त्र ९ व १७ में उत्पत्तिस्थान-भेद से जलाशयों, भूस्थलों तथा पर्वत-प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाली ओषधियों का तथा उपयोज्यभेद से मनुष्यों, नागरिक पशुओं, जंगली जन्तुओं, पक्षियों आदि की चिकित्सा में विशेषतः उपयोगी ओषधियों का वर्णन हुआ है। उदाहरण के रूप में यहाँ कतिपय मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि। अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः

पुरुषजीवनीः।। ८।७।४

हे रोगी ! (ते) तेरे लिए (प्रस्तृणतीः) अलग-अलग शाखाओं में फलनेवाली-अनार आदि, (एकशुङ्गाः) एक मूलवाली आक आदि, (स्तम्बिनी) खम्बेरूप एक ही तने वाली, (प्रतन्वतीः) फैले हुए अनेक मूलवाली ब्राह्मी आदि ओषधियों को आदेश देता हूँ तथा (याः) जो (अंशुमतीः) काँटोंवाली-जवासा, कंटेली, नागफनी आदि, (काण्डिनीः)-सरकंडा, बेंत, ईख आदि, (विशाखाः) शाखाहीन-खजूर, नारियल आदि, (उग्राः) तीव्र प्रभाववाली, (पुरुषजीवनीः) मनुष्यों को जीवन देनेवाली (वीरुधः) वनस्पतियों को आदेश देता हूँ।

२. जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधिमहम्। अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये।। ८।७।६

(जीवलां) जीवन देनेवाली (अरुन्धतीं) मर्मस्थलों को भरनेवाली (उन्नयन्तीं) स्फूर्ति प्रदान करनेवाली (मधुमतीं) मधुर गुणवाली ओषधि को (अरिष्टतातये) स्वास्थ्य-प्रदानार्थ उपयोग में लाता हूँ।

३. या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च। ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे।। ८।७।१७

(याः) जो (आङ्गिरसीः) अंगों में रस देनेवाली (पर्वतेषु) पर्वतों में (समेषु) समस्थलों में (रोहन्ति) उगती हैं (ताः पयस्वतीः) वे रसभरी ओषधियाँ (वः हृदये) हमारे हृदय में (शिवाः सन्तु) कल्याण करनेवाली हों।

४. अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः। व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।। ८।७।२०

वृक्षों में पीपल, तृणों में दाभ, लताओं में सोम, प्राकृत द्रव पदार्थों में जल, प्राणिज वस्तुओं में घृत, अन्नों में जौ-चावल और आकाशीय दिव्य पदार्थों में सूर्य-चन्द्र महौषध हैं।

ओषधियों के सन्दर्भ में इस सूत्र के ये दो मन्त्र विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं-

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे।। ८।७।२३
याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे।। ८।७।२४

जंगली सूअर वराह बहुत बलवान् होता है। वह धरती खोदकर कन्द खाता है। नेवला सर्प से लड़ता है पर उसे विष नहीं चढ़ता। वह भी किसी विषनाशक ओषधि का प्रयोग करता है। इसी प्रकार बिलों में रहनेवाले दीर्घजीवी जन्तु, गरुड़ आदि उड़ान भरनेवाले पक्षी, चिड़िया, हंस, मृग आदि जंगल में रहनेवाले जन्तु कुछ विशेष ओषधियों को जानते हैं। उनके व्यवहार से भी ओषधियों का ज्ञान प्राप्त कर उनका उपयोग करना चाहिए।

अथर्ववेद में कम से कम ११० ओषधियों के नाम मिलते हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण ओषधियों के लोक में प्रसिद्ध नामों तथा उनके गुणधर्मों का वर्णन आगे करेंगे।

चिकित्सा में सहायक रोगों के कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण आदि का नाम निदान है। अथर्ववेद मात्र चिकित्साशास्त्र नहीं है। उसमें सभी रोगों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार नहीं किया गया है; केवल प्रधान रोगों के निदान आदि पर ही प्रकाश डाला गया है, क्योंकि अन्य रोगों के निदान भी प्रायः वे ही रोग होते हैं। आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार सभी रोगों का सामान्य कारण धातुवैषम्य अर्थात् वात, पित्त, कफ की विषमता को माना गया है। इस सिद्धान्त का मूल अथर्ववेद (काण्ड १, सूक्त १२, मन्त्र ३ में स्पष्टतः उपलब्ध है। वहाँ 'अभ्रजाः, वातजाः, शुष्मः' शब्दों के द्वारा समस्त रोगों के वातज, पित्तज तथा श्लेष्मक होने का वर्णन किया गया है।

रोगों में प्रधान ज्वर है। इस विषय में चरक (निदान स्थान १।३१) का कथन है—

"इह तु ज्वर एवादौ विकारानामुपदिश्यते। तत्र प्रथमत्वाच्छारीराणाम्। ज्वरमतिशरीराणीति ज्वरः.......... स रोगाणा-मधिपतिर्नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधैः शब्दैरभिनीयते। सर्वप्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते.......... सर्वप्राणभृतां ज्वर एव प्राणानादत्ते।"

ज्वर के प्रकरण में यहाँ अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों से केवल चार मन्त्र प्रस्तुत हैं—

१. यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परिवृङ्ग्धि नः।।५।२२।१०

२. यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परिवृङ्ग्धि तक्मन्॥१।२५।१

३. ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः॥५।२२।५

४. तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥ ५।२२।१३

पहले मन्त्र में ज्वर का उल्लेख करते हुए कहा है कि जब वात, पित्त, कफ विषम या कुपित हो जाते हैं तब वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक ज्वर हो जाता है। दूसरे मन्त्र में ज्वर की सम्प्राप्ति अर्थात् ज्वर कैसे आता है, यह बताने के लिए कहा है कि शरीर की अग्नि अपने स्थान पक्वाशय से च्युत होकर वात, पित्त, कफ धर्मों से युक्त आहार-रस के गतिकेन्द्ररूप हृदय में प्रविष्ट होकर दहक उठती है। हृदय प्राण का स्थान है। उसमें रक्त के प्रवेश और निकास से समस्त शरीर में ज्वर व्याप्त हो जाता है, अर्थात् ज्वर हृदय से उठकर समस्त शरीर में फैल जाता है। तीसरे मन्त्र में ज्वर के उत्पत्ति-स्थान घासपात की अधिकता और अतिवृष्टिवाले स्थान बतलाए गए हैं। इसके अलावा ऐसे स्थान भी ज्वराक्रान्त बताए गए हैं, जहाँ सूर्य की किरणों तथा वायु का प्रवेश नहीं होता। चौथे मन्त्र में ऋतुओं को भी ज्वर का क़ारण कहा है। शीत ऋतु में सर्दी लगने से, ग्रीष्म ऋतु में लू लगने से तथा बरसात में वर्षा बन्द होने पर शरीर की अग्नि मन्द-मन्द हो जाने पर विषम ज्वर आ घेरता है जो कभी प्रतिदिन, कभी हर तीसरे दिन और कभी हर चौथे दिन आने लगता है। अन्यत्र (१।२५।३) शोक, ईर्ष्या, क्रोध, मोह, आदि मानसिक दोषों को भी ज्वर का कारण बताया है। 'माधवनिदान' में भी ज्वर के प्रकरण में कहा है—**कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं करोति विषमज्वरम्।** (मा० नि० ज्वर ३०।३१)

ज्वर की चिकित्सा का वर्णन काण्ड ५, सूक्त २२ में है। वहाँ पहले पसीना देकर तथा विरेचन या वस्तिकर्म द्वारा मल-मूत्र की शुद्धि करके आंशिक चिकित्सा का निर्देश किया है। तत्पश्चात् दासी, शूद्रा, गान्धारी, मूंजवान्, अंग तथा मगध आदि 'ज्वरापहा' अर्थात् ज्वरनाशक ओषधियों के सेवन का विधान किया है। लोक में काकजंघा, प्रियंगु, गन्धपलाश या कचूर, सोम, बेल, तथा पिप्पली नाम से प्रसिद्ध ओषधियों के ये वैदिक नाम हैं। 'राजनिघण्टु' में काकजंघा दासी का पर्याय है। 'वैद्यक शब्दसिन्धु' में प्रियंगु शूद्रा का, गन्धपलाशी गन्धारी का, बेल अंग का तथा सोम मूंजवान् का पर्याय है। इसी प्रकार 'कैयदव निघण्टु' के अनुसार पिप्पली मगध या मागधी का

पर्याय है। इन ओषधियों का यथायोग्य भस्म, वटी, अवलेह, चूर्ण, कषाय आदि के रूप में सेवन किये जाने का निर्देश है। इसी सूक्त के ११वें मन्त्र में ज्वर को संबोधित करके कहा है-**"मा स्मैतान् सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युयम्"**-हे ज्वर! तू कफ, खाँसी और रक्त उगलनेवाले राजयक्ष्मा को साथ मत बनाना। इन तीनों से सहयुक्त ज्वर की भयंकरता को अनुभव करते हुए अगले मन्त्र में आलङ्कारिक भाषा में कहा गया-

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्त्रा कासिकया सह।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छ॥

हे ज्वर! तू कफरोगरूप भाई के साथ, खाँसीरूप बहिन के साथ और राजयक्ष्मारूप भतीजे के साथ यहाँ से चलता बन।

यहाँ तक्मा=ज्वर के सहचारी रोगों का वर्णन करते हुए उन्हें उसका भाई, बहिन और भ्रातृव्य बताया है। भ्रातृव्य का अर्थ है-भाई का पुत्र। भाइयों के साथ शत्रुता की भावना प्रतीत नहीं होती। पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे में भाई-बहिन के बीच समझौता उतना कठिन नहीं होता जितना उनकी सन्तानों के बीच। पाण्डु और धृतराष्ट्र के बीच परस्पर निर्वाह होता रहा, परन्तु उनकी सन्तानों-पाण्डवों तथा कौरवों के बीच राज्य के बँटवारे ने महाभारत का रूप धारण कर लिया। एवं भ्रातृव्य शब्द स्वाभाविक शत्रुता का पर्याय बन गया-**'व्यन्त्सपत्ने'** (अष्टा० ४।१।१४५), अतः भ्रातृव्य=सपत्न=शत्रु । वेद में जो भ्रातृव्य के वध का कथन हुआ है (**भ्रातृव्यस्य वधाय**-यजु० १।१७) वह इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण हुई शत्रुता के कारण है। विवेच्य मन्त्र १२ में खाँसी और श्लेष्म (बलगम) को भाई-बहिन और उनसे उत्पन्न राजयक्ष्मा (भ्रातृव्य) के साथ पाप्मा पद का प्रयोग करके ऐसे ज्वर की भयंकरता का संकेत किया गया है।

श्वासनलियों में कफ जम जाने, शोथ हो जाने तथा उनके सुकड़ जाने से श्वास रोग उत्पन्न होता है। उसकी चिकित्सा काण्ड ५, सूक्त ४ में दी गई है। वहाँ श्वास आदि कई रोगों की चिकित्सा 'कुष्ठ' नामक ओषधि के द्वारा किये जाने का वर्णन है। परन्तु इस सूक्त में वर्णित कुष्ठ ओषधि से साधारण 'कूठ' नामक ओषधि अभिप्रेत नहीं है। अथर्ववेद ने उसे **'गिरिष्वजायथाः' 'जातं हिमवतस्परि' 'सुपर्णसुवने गिरौ जातम्'** तथा **'सोमस्य सखा'** अर्थात् कमल के उत्पादक सरोवरवाले हिमालय में उत्पन्न होनेवाला बताया है। निश्चय ही वह कश्मीर में उत्पन्न होने वाला 'कुष्ठ' या 'पुष्करमूल' होना चाहिए। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी

पुष्करमूल को कश्मीर में उत्पन्न होनेवाला विशेष कुष्ठ कहा है। 'भावप्रकाश निघण्टु' में लिखा है–**"उक्तं पुष्करमूलं तू पौष्करं पुष्परं च तत्। पद्मपत्रं काश्मीरं कुष्ठमेदमिमं जगुः॥'**

सोम का सहस्थानी या सोम जैसे गुणोंवाला यह वैदिक कुष्ठ श्वासरोग, शिरोरोग, नेत्रान्ध्य, नपुंसकत्व, ज्वर आदि **'यक्ष्मं सर्वं च नाशय'** समस्त अर्थात् बहुत-से रोगों को दूर करता है। भावप्रकाश, राजनिघण्टु आदि आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थों में कुष्ठ को **'कासश्लेष्मानिलापहम्', 'श्वासारोचककासघ्नम्', 'शोथघ्नम्', 'कफवातज्वरापहम्', 'पाण्डुनाशनम्'** आदि गुणों से युक्त माना गया है। परन्तु वेदोक्त पुष्करमूल कुष्ठविशेष में प्रसिद्ध कुष्ठ से कहीं अधिक गुणों के होने का संकेत है।

त्वचा में लालमिश्रित श्वेत अथवा केवल श्वेत चकत्तों को श्वेत कुष्ठ कहते हैं। इसकी चिकित्सा काण्ड १, सूक्त २३ में बताई है। रोग के निदान का उल्लेख करते हुए कहा है–

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥

इस मन्त्र में दूषी विषक्रिया के कारण त्वचा, मांस और हड्डी में विकार उत्पन्न होने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है। इसकी चिकित्सा का विधान जिन मन्त्रों में किया गया है उनमें पहला मन्त्र यह है–

नक्तञ्जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नी च ।
इदं रजनि रञ्जय किलासं पलितं च यत्॥ १।२३।१

इस मन्त्र में विशेष तौर पर असिक्नी नामक ओषधि का वर्णन किया गया है। असिक्नी को रात्रि में उगने-बढ़नेवाली तथा रँगनेवाली कहकर उसे कुष्ठवाले भाग की त्वचा की सफेदी को दूर करने तथा सफेद बालों को काला करने वाली बताया है। निरुक्त (९।२६) में **'असिक्न्य-शुक्लाऽसिता'** कहकर असिक्नी शब्द को असिता का पर्यायवाची सिद्ध किया है। कृष्णा नाम का असिता से अभेद है। उधर 'राजनिघण्टु' में असिता नीला, नीली, नीलिनी, कृष्णा व श्यामा सभी। ओषधे, असिक्नि की भाँति 'इदं रजनि रञ्जय' में 'रञ्जय' क्रिया के साथ 'रजनि' विशेषण संबोधन में है। मेदिनी कोश में 'नीलिनी' को रजनी कहा है–'नीलिनी रजन्याम्'। इस प्रकार मन्त्रान्तर्गत 'रजनि असिक्नि ओषधे किलासं पलितं च रञ्जय' का भाव स्पष्ट हो जाता है–हे रंगनेवाली असिक्नी ओषधि! कुष्ठ को स्वस्थ त्वचा के रंग में और श्वेत बालों को काले रंग में रंग

दे। सुश्रुत में कुष्ठ चिकित्सा प्रकरण में उसे 'कुष्ठापहा' कहा है। उधर पलितहर चिकित्सा प्रकरण में उसका उल्लेख अर्जुन की छाल, भृंगराज आदि के साथ किया है।

काण्ड १, सूक्त २४ में किलासकुष्ठ की चिकित्सा में उपयोगी किलासभेषज तथा किलासनाशन विशेषणों से युक्त सुपर्ण, आसुरी, सरूपा और श्यामा नामक ओषधियों का उल्लेख किया है। सुपर्ण सप्तपर्णी का, आसुरी लाल सरसों का, सरूपा पित्ता हल्दी का, शालपर्णी लाक्षा का तथा श्यामा, गुड़ची, नीलनी, पीपली, रोचना आदि का नाम है। भावप्रकाश में इन्हें 'कण्डु तथा कुष्ठ के कृमियों का नाशक' कहा है।

अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर अपामार्ग नामक ओषधि का उल्लेख हुआ है। इससे उसका अनेक रोगों के उपचार में उपयोगी होना सिद्ध होता है। यहाँ एतद्विषयक कतिपय मन्त्र प्रस्तुत हैं—

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥
तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥

—अथर्व० ४।१७।६,७

इन मन्त्रों में अपामार्ग से अग्निमान्द्य, तृषारोग, वमनम्लानि, भस्मकरोग, अतितृषादाह, बाँझपन, शुक्र का अस्तम्भन आदि अनेक रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में पुनरुक्ति-दोष दीख पड़ता है। परन्तु दोनों मन्त्रों में इनके भिन्न-भिन्न अर्थों तथा अपामार्ग ओषधि के भेदों का संकेत होने से वह निरर्थक नहीं है। पहले मन्त्र में श्वेत अपामार्ग और दूसरे में रक्त अपामार्ग का उल्लेख है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों से इन अर्थों की पुष्टि होती है। जहाँ श्वेत अपामार्ग क्षुधामार=क्षुधा को मारनेवाले रोग अर्थात् अग्निमान्द्य को दूर करने में उपयोगी है, वहाँ रक्त अपामार्ग क्षुधामार=क्षुधा से मारनेवाले भस्मक रोग को दूर करनेवाला है। 'दत्तात्रेय तन्त्र' (अन्नाहार प्र० २) में इस विषय में लिखा है—

अपामार्गस्य बीजानि अजादुग्धेन पाययेत्।
पायसं वटिकासारैर्युक्ता मासं क्षुधापहा॥

'अपामार्ग के बीजों की बकरी के दूध में खीर बनाकर खाने से एक मास तक भूख नहीं लगती।' भस्मक रोग को दूर करने में औदुम्बर मणि भी उपयोगी है। अपामार्ग ओषधि के द्वारा छूत से लगनेवाले तथा

व्यभिचारादि पापाचरण से होनेवाले रोगों की चिकित्सा का वर्णन काण्ड ७ सूक्त ६५ में इस प्रकार मिलता है–

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ।
सर्वान् मच्छपथां अधि वरीयो यावया इतः॥१॥
यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे॥२॥

'योगरत्नाकर' में अर्शोरोग (बवासीर) की चिकित्सा के लिए भी अपामार्ग का प्रयोग बताते हुए लिखा है–

अपामार्गस्य बीजानां कल्कं तण्डुलवारिणा।
पीतं रक्तार्शसां नाशं कुरुते नात्र संशयः॥

अपामार्ग के बीजों की पिसी कल्क चावलों के पानी के साथ पीने से रक्तार्श (खूनी बवासीर) ठीक हो जाती है।

काण्ड २ सूक्त २५ में बवासीर को दूर करनेवाली एक अन्य ओषधि पृश्निपर्णी का उल्लेख मिलता है। चरक ने भी चिकित्सा-स्थान में अर्श की चिकित्सा में पृश्निपर्णी का उल्लेख किया है।

काण्ड ४, सूक्त २० में कमलपुष्प के द्वारा नेत्रों की दुर्बलता, धुँधलापन, जलन, स्राव, पीड़ा आदि नेत्र-रोगों को दूर करके, देखने की शक्ति में वृद्धि करने का उल्लेख है। ओषधि का वर्णन तीसरे मन्त्र में **'दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका'** कहकर किया है। कमल का नाम सुपर्ण है–**'सुपर्णः पद्मिन्याम्** (वैद्यक शब्दसिन्धु)। कमल की कनीनिका (नेत्रतारा) कमल पुष्प का मध्यभाग है। 'आयुर्वेद निघण्टु' में भी श्वेत कमल को नेत्रशक्तिप्रद बतलाया है–'**श्वेतं तु कमलं मधुरं वर्णकृत् नेत्र्यम्** ।' श्वेत कमल की केसर को आँख में लगानेवाले अंजन में डालने का विधान भी है–

कज्जलं काञ्चनीं चैव सितपद्मस्य केशरम्।
सर्वाञ्जनमिदं ख्यातं पातालनिधिदर्शनम्॥

इस प्रकार सूक्त के मूल मन्त्रों पर दृष्टि डालने से यहाँ नेत्ररोगापहा तथा नेत्र-शक्तिप्रद अभीष्ट ओषधि श्वेतकमल है।

कास या खाँसी की चिकित्सा काण्ड ६, सूक्त १०५ में दी गई है। यहाँ मन्त्र २ व ३ प्रस्तुत हैं जिनमें सूखी खाँसी की चिकित्सा बतलाई है–

यथा बाणः सुशंसितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम्॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम्।।

पहले मन्त्र में रेह या रेही मिट्टी के द्वारा सूखी खाँसी की चिकित्सा बतलाई गई है। रेह, मिट्टी का क्षार है। क्षार सूखे-जमे कफ को मृदु बना कर बाहर निकाल देता है। दूसरे मन्त्र में सूखी खाँसी को समुद्र-फेन द्वारा दूर करने का विधान है। समुद्रफेन से भी कफ घुलकर निकल जाने से सूखी खाँसी में लाभ होता है राजनिघण्टु के अनुसार **"अब्धिफेनः कफं च कण्ठरोगं च विनाशयते ।"** मूलतः प्रथम मन्त्र में संवत् नामक ओषधि का उल्लेख है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार **'संवत् भूमिविशेषः'**–विशेष प्रकार की भूमि को संवत् कहते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में इसे रेही मिट्टी कहते हैं।

गीली खाँसी की चिकित्सा से सम्बन्धित अथर्ववेद (१।१२।३) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है–

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च।।

वात, पित्त, कफ से उत्पन्न खाँसी (**अभ्रजा-वातजा-शुष्मो कास**) जो इस रोगी के जोड़-जोड़ में घुसा हुआ है (**यः अस्य परुष्परुराविवेश**) उससे इस रोगी को छुड़ा (**एनं मुञ्च**)। यह रोगी वनस्पतियों और पर्वतों में (**वनस्पतीन् पर्वतांश्च**) विचरण करे (**सचताम्**)।

राजयक्ष्मा के लक्षणों वाली इस भयंकर खाँसी से छुटकारा पाने के लिए इस मन्त्र में रोगी को जंगलों और पर्वत-प्रदेशों में रहने-घूमने-फिरने का विधान है। ऐसे रोगियों की चिकित्सा के लिए विशेष स्वास्थ्य-केन्द्र (Senatorium) ऐसे ही स्थानों में बनाए जाते हैं।

हृदय में शूल, कम्प या जलन होना हृदयरोग कहाता है। काण्ड ३ के सूक्त में इस रोग की चिकित्सा **'हरिणस्य विषाणया'** (हरिण के सींग के द्वारा) किये जाने का विधान है। माता-पिता से प्राप्त या जन्म से आया क्षेत्रिय रोग होने पर मृगशृङ्ग द्वारा उसकी चिकित्सा संभव है। सातवें मन्त्र के अनुसार मृगशृङ्ग का सेवन **'अपवासे नक्षत्राणामपवासे उषसामुत'**–प्रातःकाल नक्षत्रों के छुप जाने से लेकर उषाकाल की समाप्ति अर्थात् सूर्योदय तक करना अधिक उपयोगी है। मृगशृङ्ग हृदयरोग-नाशक है, यह आयुर्वेदशास्त्र में प्रमाणित है। भैषज्यरत्नावली (शूलरोगा-

धिकार-५४) में लिखा है-

दग्धयमनिर्गतं धूमं मृगशृङ्गगोघृतेन सह लीढम्।
हृदयनितम्बजशूलं हरति शिखी दारूनिवहमिव।।

हरिण के सींग के स्पर्श से त्वचा के दोष, प्रलेप से व्रण, भस्म से क्षय, कास, श्वास और अपस्मार की व्याधियाँ दूर होती हैं। मृगछाला के प्रयोग से रक्तपित्त, बवासीर, खाज आदि रोगों को दूर करने में सहायता मिलती है।

काण्ड २ सूक्त ९ में 'दशवृक्ष' द्वारा सन्धिवात, गृध्रसी, वातरोग की चिकित्सा का वर्णन है। दशवृक्ष से तात्पर्य लोक में प्रसिद्ध दशमूल से है-"**दशमूली-क्वाथं पीत्वा सशिलाजतुशर्करम्। वातकुण्डलि-काष्ठीलावातवस्तौ प्रयुज्यते।।**" (भैषज्यरत्नावली) काण्ड ६ सूक्त १०९ में पिप्पली को जीवन देने में समर्थ (जीवितवै) बताते हुए उसको क्षेपक वात, पक्षाघात आदि रोगों को नष्ट करनेवाली रसायन कहा है। इसी काण्ड के सूक्त ४४ में 'विषाणका' अर्थात् मेष शृङ्गी या अज शृङ्गी को 'वातीकृतविनाशिनी' कहते हुए उसके द्वारा वातव्याधि की चिकित्सा का उल्लेख मिलता है।

युद्ध में शस्त्रास्त्रों से लगने वाले घावों की चिकित्सा का वर्णन काण्ड २, सूक्त २७ में किया है। इस निमित्त 'पाटा' (पाठा) नामक ओषधि का उल्लेख हुआ है। इसके स्वरस के पान और लुगदी के लेप आदि से तत्काल लाभ होता है और योद्धा पुनः लड़ने योग्य हो जाता है। आयुर्वैदिक निघण्टु में भी पाटा को व्रणनाशक माना है।

काण्ड ५, सूक्त ५ में प्रहार के घावों को भरने या पके घाव को ठीक करने के लिए 'लाक्षा' ओषधि का उल्लेख मिलता है । ७वें मन्त्र में कहा है-'**अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह आत्मा बभूव ते।**' लाख की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहा है कि वह '**प्लक्षात् अश्वथात् खदिरात् न्यग्रोधात् पर्णात्।**' अर्थात् पिलखन, पीपल, खैर, वट व पलाश से निकलती है। यह लाख टूटे हुए को जोड़ने, पुराने घावों को भरने और नयों को तुरन्त ठीक करने में उपयोगी है । आयुर्वेद-ग्रन्थों में भी उसे '**भग्नसन्धानकारिका**' '**वर्णप्रदा**' आदि कहकर उसे वेदमूलक सिद्ध किया है। वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण के मेघनाद की शक्ति से भयंकर रूप में घायल हो जाने पर राजवैद्य सुषेण ने हनुमान को भेजकर वैशल्यकरणी, सन्धानी, सावर्ण्यकरणी तथा संजीवनी नामक जिन

ओषधियों को मँगवाया था, निश्चय ही उनका ज्ञान वेदमूलक था, यह अथर्ववेद के इन मन्त्रों से स्पष्ट है।

घाव के ठीक न होने पर निरन्तर बहते रहने को रक्तस्राव कहते हैं। इसकी चिकित्सा पर्वतीय झरने के जल, कूप को खोदकर निकलने वाले जल, जलाशय के निकट दीमक द्वारा एकत्र गीली मिट्‌टी तथा काली मिट्‌टी से बतलाई गई है। रक्तस्राव को रोकने के लिए काण्ड ६, सूक्त ४४ में विषाणका को उपयोगी बताया है। सायण आदि भाष्यकारों ने यहाँ गौ के सींग का विनियोग करके उससे जल पिलाने का विधान किया है। परन्तु अथर्ववेदीय बृहत् सर्वानुक्रमणिका में इसे स्पष्टतः वनस्पति बताया है और वह मेषशृङ्गी या मेढासिंगी है। भावप्रकाश में भी इसी अर्थ को ग्रहण करके उसके उपयोग का उल्लेख किया है। सूक्त के दूसरे मन्त्र में उसके लाभ का वर्णन करते हुए कहा है–

शतं वा भेषजानि ते सहस्त्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम्॥

रक्तस्राव को रोकने के लिए सर्वश्रेष्ठ ओषधि विषाणका को तीसरे मन्त्र में **'अमृतस्य नाभिः विषाणका नाम वा असि'** अमृतोपम बताया है।

काण्ड ३, सूक्त २३ में बन्ध्यात्व की चिकित्सा का वर्णन है। उस सूक्त में से यहाँ केवल तीन मन्त्र प्रस्तुत हैं–

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥२॥
यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥४॥
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः॥६॥

'आ ते योनिं गर्भं एतु' से स्पष्ट है कि मन्त्र का प्रतिपाद्य गर्भाधान है। इस निमित्त किये जाने वाले यज्ञ को 'प्राजापत्य' कहा है। इस मन्त्र में सन्तान को दस मास तक गर्भस्थ रहने का उल्लेख करते हुए, दूसरे मन्त्र में गर्भस्थिति में सहायक 'ऋषभ' ओषधि का वर्णन किया गया है। अष्टवर्ग की ऋषभ ओषधि का नाम 'ऋषभक' है। ऋषभक में गर्भशक्ति देने का गुण है। 'निघण्टु रत्नाकर' में **'हिमाद्रि-शिखरोद्भव'** (भावप्रकाशनिघण्टु) इस ओषधि के विषय में लिखा

है–"ऋषभको मधुशीतो गर्भसन्धानकारकः।" 'भावप्रकाश' में उसे 'ऋषभ' नाम से ही व्यक्त किया है। तीसरे मन्त्र में ऋषभ को वृष्टिजल में घिस या घोटकर सेवन करने का निर्देश है। साथ ही 'पुत्रविद्याय' पुत्रप्राप्ति के लिए कुछ अन्य 'दैवी' ओषधियों के प्रयोग का भी संकेत किया है।

काण्ड ४, सूक्त १७ में 'अगोता', 'बन्ध्यात्व' अथवा 'अनपत्यता' रोग को दूर करने के लिए 'अपामार्ग' नामक ओषधि का प्रयोग बताया है। स्त्री के बन्ध्यात्व तथा पुरुष के नपुंसकत्व, दोनों को दूर करके गर्भ धारण करने-कराने की चिकित्सा काण्ड ६, सूक्त ११ में कही गई है। सूक्त का प्रथम मन्त्र है–

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥

जो पीपल शमी वृक्ष पर आरूढ़ हुआ उगा हो उसको यहाँ सन्तान-प्राप्ति में सहायक बताया है। अन्यत्र भी पीपलबन्दा का सेवन करने पर स्त्री का बन्ध्यात्व तथा पुरुष का नपुंसकत्व दूर होकर सन्तानोत्पत्ति की शक्ति प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है, जैसे–कामरत्न, जन्मबन्ध्या चिकित्सा-२४, निघण्टुरत्नाकर आदि।

स्त्रियों की योनि में कृमियों के आक्रमण, गर्भ के जाते रहने और सन्तान के शीघ्र मर जाने की चिकित्सा काण्ड २०, सूक्त ९६ में ११ से १६ तक दी गई है। प्रसव के संदर्भ में काण्ड १, सूक्त ११ का यह मन्त्र द्रष्टव्य है–

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्॥

इसमें बाधा होने पर अपामार्ग ओषधि का विधान है। उससे **'तत्क्षणात् सा प्रसूयते'**। शरीर में प्रविष्ट विष-प्रभावों के प्रतिहार, निवारण तथा नष्ट करने का नाम विष-चिकित्सा है। सर्प-विष तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेद में बड़े विस्तार से मिलता है। इस विषय में सर्वप्रथम काण्ड ५ के सूक्त १३ का पहला मन्त्र इस प्रकार है–

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्निरिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥

इस मन्त्र में सर्पविष और उसकी चिकित्सा से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। एक यह कि सर्प के काटे का घाव तीन प्रकार का होता है–खात, अखात तथा सक्त। सुश्रुत आदि ग्रन्थों में इन्हें

क्रमशः सर्पित, रदित तथा सर्पाङ्गाभिहत बताया है। जब सर्प के काटे का घाव गहरा हो—सर्पदन्त मांस में गहरे गड़े हों, रक्त बाहर आ गया हो, घाव का रंग नीला हो और आस-पास सूजन हो, अर्थात् साँप के काटे के पूरे लक्षण हों, तो वह 'खात' या 'सर्पित' कहाता है। जब घाव गहरा न हो और साँप के दाँतों का लाल-नीली रेखाओं के रूप में चिह्नमात्र हो तो वह 'अखात' या 'रदित' कहाता है। और जब सर्प के अंगों के स्पर्श से त्वचा के ऊपर संसर्गमात्र जान पड़े तो वह 'सक्त' या 'सर्पांगाभिहत' कहाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आश्वासन-चिकित्सा से सम्बन्धित है। सर्पचिकित्सक का यह आश्वासन देना कि मुझे 'परमात्मा ने ऐसी शक्ति दी है कि मैं अपने वचनमात्र से तेरे विष को दूर कर दूँगा' बहुत बड़ी बात है। इसी को मन्त्रविद्या अथवा संवशीकरण कहते हैं। आश्वासन से रोगी का आधा रोग दूर हो जाता है। डूबते हुए को किसी अच्छे तैराक का यह कहना कि 'घबराना नहीं, मैं आ गया हूँ, तुझे डूबने नहीं दूँगा' डूबते हुए मनुष्य के भीतर उत्साह की बिजली दौड़ा देता है और उसमें हाथ-पैर मारने की शक्ति आ जाती है।

सभी सर्पाचार्य इस विषय में एकमत हैं कि सर्पों में पाँच प्रतिशत ही ऐसे होते हैं जिनके काटने से आदमी मर जाता है। इनमें भी—

तथातिवृद्धबालाभिर्दष्टमल्पविषम्।
नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः।
वृद्धामुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषः स्मृताः।।

—सुश्रुत कल्पस्थान ४।१९।३२

उपर्युक्त कारणों से असमर्थ होने के कारण अनेक अल्पविष हो जाते हैं। इन थोड़े-से सचमुच विषैले साँपों के काटने पर भी उक्त तीन प्रकार के घाव होते हैं। उनमें सक्त या सर्पांगाभिहत सर्वथा निर्विष अर्थात् अखात या रदित निर्विष होते हैं। केवल खात या सर्पित ही घातक सिद्ध होते हैं, परन्तु इन तथ्यों से अपरिचित होने के कारण अधिकांश लोग सर्पदंश के भय से ही मर जाते हैं। जब पाँच प्रतिशत से भी कम साँप घातक रूप से विषैले हों और उनमें भी एक-दो प्रतिशत ही खात पर सर्पित घाव कर पाते हों तो लगभग ९८ प्रतिशत लोगों की मृत्यु का कारण सर्पविष न होकर सर्पदंश का भय ही सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें यदि उनके विश्वास के अनुसार कोई चिकित्सक मिल जाए तो उनमें से अधिकांश मन्त्र पढ़ने अर्थात् आश्वासन-मात्र से ठीक हो जाते हैं।

झाड़-फूँक से सर्प-विष के निकल जाने का यही रहस्य है। अनेक घाव तो ऐसे भी होते हैं जो सर्प के काटे के न होकर किसी अन्य किन्तु अज्ञात जन्तु के काटे होते हैं, परन्तु उन्हें सर्प के काटे का समझकर मनुष्य भयमात्र से मर जाते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार की चिकित्सा में भय से मुक्त रहना परमावश्यक है।

अथर्ववेद काण्ड १०, सूक्त ४ में सफेद आक, इन्द्रायण, जंगली ककोड़ा या कुमारिका, अतीस, दारुहल्दी, गोकर्णी, मुलहठी आदि को सर्पविष दूर करने में उपयोगी बताया है। इसी सूक्त में सर्पविष को जल के फव्वारों तथा जलाशयों—विशेषत: काई से युक्त पोखरों में अवगाहन, सूर्यकिरणों तथा विद्युत् के द्वारा दूर करने का उल्लेख किया है। २५वें मन्त्र में कहा है—

अङ्गादङ्गात्प्रच्यावय हृदयं परिवर्जय।
अधा विषस्य यत् तेजोऽवाचीनं तदेतु ते॥

सर्प के काटे का विष बहुत अधिक फैल जाए तो उसका वेग शान्त करने के लिए मर्मस्थल (हृदय) को छोड़कर जगह-जगह से शिराछेदन कर रक्त निकाल देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त उन्माद रोग की चिकित्सा का वर्णन काण्ड ६, सूक्त ११ में, स्वप्नदोष का काण्ड १६, सूक्त ५ में, केश-रोगों का काण्ड ६, सूक्त १२६ में, मानसिक रोगों का काण्ड ६, सूक्त ९६ में, गण्डमाला का काण्ड ७, सूक्त ७४ में, उर:क्षत का काण्ड ७, सूक्त ७६ में, तथा विसर्प रोग का काण्ड १९, सूक्त ४४ में किया गया है।

कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनका ठीक-ठीक निदान नहीं हो पाता, अथवा जिनके उपचार के लिए उपयुक्त ओषधि उपलब्ध नहीं हो पाती। ऐसे सभी रोगों से छुटकारा पाने के लिए अथर्ववेद में दो उपाय बताए हैं। काण्ड ३, सूक्त ७ में **'आपो विश्वस्य भेषजीः'** कहकर जल-चिकित्सा का विधान किया है। प्राकृतिक पदार्थों में जल एक महौषध है। वैदिक निघण्टु (१।१२) में **'अमृतमुदक नाम'**—जल को अमृत कहा है। अथर्ववेद (१।४।४) में भी **'अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्'** ऐसा ही कहा है। **'आपः भिषजां सुभिषक्तमाः'** (६।२४।२), **'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजाः'** (१।६।२) तथा **'आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम'** (१।६।३) इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि नित्य आहार की वस्तु होने के साथ-साथ जल प्राकृतिक-चिकित्सा का मुख्य

साधन है। वृष्टि, स्रोत, झरने या नदी के रूप में प्राप्त अथवा कुएँ से निकला शुद्ध जल विविध विधियों–शीतोष्ण पान, स्पर्श, मार्जन, टकोर, भाप, मर्दन, धारापात आदि के रूप में प्रयोग किये जाने पर अनेक दुःसाध्य रोगों को दूर करने में औषधरूप हो जाता है। जल-चिकित्सा का वर्णन काण्ड ६, सूक्त २४ व ५७ में मिलता है। इन मन्त्रों में विशेषतः सद्योव्रण-चिकित्सा, रक्तस्राव को रोकने, हृदय की धड़कन, जलन व शूल को दूर करने, आँखों, एड़ियों व पंजों की जलन को शान्त करने आदि में जल के उपयोगी होने का उल्लेख है। काण्ड १०, सूक्त ५, मन्त्र २४ में जल-चिकित्सा द्वारा दुःष्वप्न्य अर्थात् स्वप्नदोषजन्य व्याधि को दूर करने की बात कही है। काण्ड ३, सूक्त ७, मन्त्र ५ में जलचिकित्सा को क्षेत्रीय अर्थात् जन्मजात रोगों से छुटकारा पाने में उपयोगी बताया है।

काण्ड ३, सूक्त ११, काण्ड १९, सूक्त ३८ तथा काण्ड २०, सूक्त ९६ में बताया है कि अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य आदि प्राकृत पदार्थ रोगों को दूर करते हैं। अग्नि-चिकित्सा, विद्युत्-चिकित्सा, वायु-चिकित्सा तथा सूर्य-चिकित्सा का पृथक्-पृथक् प्रयोग होता है। तथापि होम-प्रक्रिया में इन सब का एक-साथ समावेश हो जाता है। होम में मुख्यतः अग्नि तो काम करती ही है, साथ ही होम से विद्युत्-शक्ति अन्तरिक्ष में वासित होकर रोग को दूर करने में सहायक होती है। होम से वायु शुद्ध होकर लाभ पहुँचना तो प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार होम से सूर्यकिरणों में भी रोग को दूर करने की शक्ति बढ़ जाती है। होम द्वारा ओषधियों का प्रभाव सीधा फेफड़ों में होकर रक्त में पहुँच जाता है और इस प्रकार हृदय को बल देता है। इन्फ्लूएंज़ा, हैज़ा, प्लेग आदि महामारियों की रोकथाम तथा चिकित्सा में होम विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है। अज्ञात तथा असाध्यसम दुःसाध्य रोगों की चिकित्सा होम द्वारा ही संभव है। काण्ड २०, सूक्त ९६, मन्त्र ६ में कहा है–

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।

हे रोगी! तेरे जीने के लिए, जिसके लक्षण अभी प्रकट नहीं हुए ऐसे यक्ष्मा-रोग से, तथा व्यक्त-लक्षण रोग से, यक्ष्मा की निवारक हवि द्वारा नीरोग करता हूँ। वेद ने यज्ञ द्वारा जहाँ सामान्य रूप से चिकित्सा का उपदेश किया है। वहाँ रोगविशेषों की विशेष द्रव्यों के होम से चिकित्सा का भी संकेत किया है।

यजुर्वेद के पहले मन्त्र की यह विशेषता है कि उसमें यजमान

द्वारा अपने साथ-साथ पशुओं के भी 'अनमीवा' तथा 'अयक्ष्मा' अर्थात् नीरोग रहने की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद काण्ड ६ का ५९वाँ पूरा सूक्त पशु-चिकित्सा से सम्बन्धित है।

वात, पित्त, कफ के वैषम्य के अतिरिक्त रोगोत्पत्ति का दूसरा बड़ा कारण कृमि अथवा जीवाणु (Germs) हैं। अथर्ववेद (५।२९,२,७) में लिखा है कि अन्न, जल, वायु, दूध तथा फल आदि खाद्य पदार्थों के द्वारा शरीर में पहुँचकर जीवाणु मनुष्य को रोगी कर देते हैं। मनुष्य का रुधिर चूसनेवाले, मांस शोषण करनेवाले, शरीर की वृद्धि को रोकने वाले, नासिका तथा दाँतों में पहुँचकर हानि पहुँचानेवाले, मस्तिष्क में पहुँचकर मानसिक रोग उत्पन्न करनेवाले, तथा स्त्रियों की योनि और गर्भाशय में प्रवेश कर उन्हें बन्ध्या और मृतवत्सा बनानेवाले ऐसे अनेक अदृश्य जीवाणुओं का विस्तृत वर्णन अथर्ववेद काण्ड ८, सूक्त ६; काण्ड ५, सूक्त २९; काण्ड २, सूक्त २५; काण्ड ५, सूक्त २३; काण्ड २, सूक्त ३१; काण्ड ७, सूक्त ७६ में उपलब्ध है। पर्वत, वन, वनस्पति, जल तथा दूषित स्थानों में उत्पन्न होकर आंतों में जाकर रोग उत्पन्न करने वाले उदरावेष्टा आदि कृमियों का वर्णन अथर्ववेद २।३१, ८।६ तथा ७।७६ आदि में मिलता है। २।३१ व ३२; ४।३७; ५।६,२३ व २९; ८।२३ तथा १९।३६ सूक्तों में ९८ प्रकार के कृमियों के नाम आते हैं। विभिन्न प्रकार के कृमियों को अथर्ववेद में असुर, पिशाच, राक्षस, यातुधान आदि नामों से अभिहित किया गया है।

अथर्ववेद में मणियों द्वारा भी चिकित्सा का वर्णन मिलता है। यह कोई जादू-टोना न होकर औषधरूप है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों, वनस्पतियों, शंख आदि से बनाई जाती हैं। वस्तुतः ये स्पर्श-चिकित्सा का अंग हैं। इनके बाँधने या धारण करने से अनेक रोगों की चिकित्सा करने में सहायता मिलती है। १९।४६ में औदुम्बर मणि का, १९।३१ में जंगिड़ मणि का, २।४ व १९।३४ में दर्श मणि का, ८।४ में प्रतिसर मणि का, १०।६ में फालमणि का, १०।६ में वरणमणि का तथा १०।४ में शंख मणि का उल्लेख हुआ है।

सूर्यकिरण-चिकित्सा का वर्णन काण्ड १, सूर्य २२, काण्ड ६, सूक्त ८३ तथा काण्ड ९, सूक्त ८ में हुआ है। इसमें रोगी को प्रातः सूर्य-किरणों में बिठाकर रुग्ण अंग को सीधे सूर्यकिरणों में, अथवा विशेष प्रकार के; काँच, अभ्रकदल, पत्तों आदि द्वारा निर्झरित किरणों में स्नान कराया जाता है।

मानसिक तनाव—वेद में अनेक स्थलों पर मनःप्रदूषण और उससे उत्पन्न मानसिक तनाव को दूर करने के उपायों का उल्लेख हुआ है। मानसिक तनाव का अन्तिम परिणाम आत्महत्या है जिसके विषय में यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में लिखा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

इस महापाप से बचने के लिए मानसिक शक्ति को पहचानकर मन को वश में रखने का उपदेश वेद के शिवसंकल्प सूक्त में दिया गया है। शिवसंकल्प और उसके अनुसार शुद्ध आचरण होगा तो मानसिक तनाव उत्पन्न ही नहीं होगा। अथर्ववेद में कहा है—

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत्।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः।।

—अथर्व० ७।६४।१

अंहसः='अंहः' का अर्थ पाप होता है। काला पक्षी कौआ, व्यक्ति को घायल तो कर सकता है, पाप में प्रवृत्त नहीं कर सकता। अतः सन्दर्भान्तर्गत **'कृष्णः शकुनिः'** का अभिप्राय 'शक्तिशाली तमोगुण' प्रतीत होता है। अन्यत्र (श्वेत० उप० ४।५) में तमोगुण को तमस्=कृष्ण बताया भी है—**'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।'** अजा अर्थात् अजन्मा प्रकृति **'सत्वरजस्तमस्रूप'** होने से शुक्ल, लाल और कृष्णा है। तमोगुण है भी शक्तिशाली=शकुनि। जड़ जगत् सब तमोगुणप्रधान है। प्राणिजगत् भी प्रायः तमोगुण-प्रधान है, अतः तमोगुण शक्तिशाली है। मन सत्त्वगुणी भी होता है, रजोगुणी भी और तमोगुणी भी। सत्त्वगुणी मन में भी कभी-कभी दबा हुआ तमोगुण उभरकर सत्त्वगुणी व्यक्ति को पतनोन्मुख कर देता है। यह है तमोगुण का उड़कर प्रकट होना। इससे बचाने के लिए ही आपः='आप्लृ व्याप्तौ'=सर्वव्यापक परमेश्वर से प्रार्थना की गई है।

वेद मनःप्रदूषण को अखिल विश्व में अशान्ति का कारण मानता है, क्योंकि वह मन से निकलकर क्रमशः परिवार, समाज और राष्ट्र में से होता हुआ समूचे विश्व में फैल जाता है। मनःप्रदूषण को दूर करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपाय है—मन को विद्वेषरहित बनाना। इस दृष्टि से परस्पर व्यवहार का आदर्श उपलब्ध है अथर्ववेद के तृतीय काण्ड में तीसवाँ सूक्त, जिसका पहला मन्त्र है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

सहृदयता, मन का उत्तम भाव तथा निर्वैरता धारण करके एक-दूसरे से ऐसे प्रेम करो जैसे गौ अपने सद्योजात बछड़े से करती है।

शरीर तथा मन में अविनाभाव-सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने पर मन विचलित हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार मन के उद्विग्न होने पर शरीर कार्य करने में असमर्थ अथवा शिथिल हुए बिना नहीं रहता। इसलिए चिकित्साविज्ञान में जहाँ मुख्यतः पाँचभौतिक शरीर की चिकित्सा का वर्णन किया गया है, वहाँ आवश्यकतानुसार उसमें यत्र-तत्र मानसिक रोगों की चिकित्सा का भी उल्लेख हुआ है। मनोविकारों की चिकित्सा में प्राचीन काल में अपामार्ग (Achyranther asper) का प्रयोग किया जाता था। अपामार्ग का वर्णन वेदों में अनेक स्थलों पर हुआ है। उसे भेषजों का ईश कहा गया है—**'ईशानां त्वा भेषजाना०'** अथर्व० ४।१७।१; **'अग्रमेष्योषधीनाम्'** (अ० ४।१९।३)। सत्यजित्, सहमाना, शपथयावनी, पुनःसरा, विभिन्दती, शतशाखा, प्रतीचीनफल आदि अपामार्ग के गुण-बोधक पर्याय हैं। अपामार्ग अनेक मनोविकारों का शोधन कर देता है—अपामार्ग=अप्+मृजूष् शुद्धौ (अदादि)—दोष को अपगत करके मार्जन या शोधन करनेवाली। अपामार्ग होम्योपैथिक ओषध Aconite के समान गुणों वाली है, जिसका प्रयोग नाना मानसिक विकारों में होता है। होम्योपैथी के प्रतिष्ठित विद्वान् Willium Boerick की Manual of Homeopathic Materia Medica में Aconitum Napallus के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

Mind—Great fear, anxiety and worry accompany every ailment, howsoever triviul. Delirium is characterised by unhappiness, worry and fear. Fears death, but believes that he will soon die, predicts the day. Fears the future, a crowd, crossing the street, restlessness, tosses about with agony. Tendency to start. Imagination, acute clairovoyance. Pains are intolerable, they drive him crazy. Music is unbearable, makes him sad. Thinks his thoughts come from the stomach—that parts of his body are abnormally thick. Feels as if what had just been done was a dream.

आयुर्वेद के वृद्धत्रयी—चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट—ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है और उसी में चिकित्साविज्ञान का विस्तृत वर्णन मिलता है। □□

मनोविज्ञान

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोग-सामग्री बाह्य जगत् में ही उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख-दुःख होता है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है। बाहर उसकी गति नहीं। इसलिए उसे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिए सम्पर्क-अधिकारी की आवश्यकता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए एक ऐसे सहायक तत्त्व की आवश्यकता है जिसमें दोनों के गुण हों, अर्थात् आत्मा की भाँति अभौतिक और शरीर की भाँति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतों का विकार न होने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि आँखों से देखा नहीं जा सकता, इसलिए वह सर्वथा अभौतिक है; परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार वह अभौतिक होने के कारण आत्मा के निकट है और भौतिक होने के कारण शरीर के निकट है। इसलिए वह आत्मा और शरीर के बीच माध्यम का काम कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी को 'मन' कहते हैं। परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य-सम्पादन के लिए उसे भी ऐसे सहायकों की आवश्यकता है जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध रखते हों। इन्हीं को इन्द्रिय कहते हैं। पंचभूतों से उत्पन्न न होने पर भी भूतों के गुणों का ग्रहण कराने के कारण इन्द्रियाँ भौतिक कहाती हैं।

इन्द्रियाँ करण हैं, किसी के साधन हैं। साधारणतः बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है, इसलिए बाह्य साधन होने से इन्हें बाह्यकरण कहते हैं; परन्तु मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का साधारण अर्थ ग्रहण करने में कभी भी बाह्य विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता,

इसलिए इन्हें अन्तःकरण कहा जाता है। स्मृति आदि स्थलों में मन का आन्तर विषयों से सीधा सम्बन्ध रहने से उसे आन्तर इन्द्रिय माना गया है। जिस प्रकार बाह्य विषयों के ज्ञान के निमित्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करने के लिए मन की आवश्यकता है, उसी प्रकार आन्तरिक अर्थों तथा व्यवहारों—मनन, चिन्तन, स्मरण, संकल्प—को ग्रहण करने के लिए भी अन्तःकरण अथवा आन्तरेन्द्रिय के रूप में मन की आवश्यकता है। इन्द्रियों से स्वतन्त्र रहकर भी मन भीतर के कार्यकलापों—संकल्प-विकल्प, चिन्तन-मनन, भूख-प्यास, सुख-दुःख का अनुभव, रक्तसंचार, पाचन-क्रिया आदि की व्यवस्था करता है।

'मनस्' शब्द का ऋग्वेद में लगभग ढाई सौ बार प्रयोग हुआ है। दूसरी संहिताओं में भी अनेक स्थलों में उसका उल्लेख मिलता है। समस्त इन्द्रियों में मन इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है? वस्तुतः जिस तत्त्व से मन का निर्माण हुआ है, वह आकाशमण्डल में सूक्ष्मरूप से सर्वत्र विद्यमान है। इसी तत्त्व को महत्तत्त्व अथवा अन्तःकरण का नाम दिया गया है। इसी को विश्वमानस कहते हैं। सृष्टि के आदि में ऋषियों के मानस में वेदज्ञान का प्रकाश इसी मानस के द्वारा आई तरंगों से हुआ था। यदि मनुष्य अपने मन का सम्बन्ध इस मानस से जोड़ने में समर्थ हो जाए तो उसके अनुभव की गति दूर-दूर तक हो जाए। इसी तत्त्व का एक अंश मानव-हृदय में रहकर काम करता है। इसे 'मन' कहते हैं। ऐतरेय उपनिषद् (२।४) में कहा है—**"चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्"** अर्थात् चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। यहाँ चन्द्रमा से मन की रचना कही गई है। अन्यत्र कहा गया है—**"चन्द्रमा मनसो जातः"** अर्थात् चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से हुई। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रमा और मन का उपादान एक ही है, अर्थात् जिस महत्तत्व से इन दोनों की सृष्टि हुई है वह चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान तत्त्व है। उसी को यजुर्वेद के शिवसंकल्प-मन्त्रों में **'ज्योतिषां ज्योतिः'** कहा है।

उभयात्मकं मनः—ज्ञान और क्रिया दोनों में साधनरूप होने से मन उभयात्मक है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों के साथ उसका सम्बन्ध है। मन के निर्देश=सहयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। जब आत्मा को बाह्य जगत् में कुछ जानने की इच्छा होती है, तब वह अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य-विषय की ओर बहनेवाली विचार-तरंग को उत्पन्न करता

है। यह विचार-तरंग संवेदन-तन्त्रिकाओं=ज्ञानतन्तुओं में से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्र-बिन्दु से जा टकराती है जिसका वह विषय होता है। इस प्रकार बाहर के विषय से सम्बन्ध होते ही उसका स्वरूप लिये वह तरंग उन्हीं संवेदन-तन्त्रिकाओं के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र में लौटकर मन को सौंप देती है। इस प्रकार आत्मा को अपने इच्छित विषय का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान को प्राप्त करने पर यदि उस विषय में कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरक तन्त्रिकाओं=क्रिया-तन्तुओं द्वारा आवश्यक निर्देश सम्बद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म में प्रवृत्त हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर यदि मन संकल्प-विकल्प में फँस जाता है तो कर्मेन्द्रिय को आदेश देने से पहले बुद्धि से परामर्श करता है। दोनों अवस्थाओं में मन कार्य करता है, अतः वह उभयात्मक है। इस प्रकार उसका दायित्व अधिक होने से उसकी महिमा भी अधिक है।

अन्तःकरणचतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार अन्तःकरण-चतुष्टय कहाते हैं। पर एक मन की ही स्थिति के द्योतक होने से ये एक-दूसरे से पृथक् अथवा स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं, अपितु एक मन की विभिन्न शक्तियुक्त कार्य करने की स्थितिविशेष के बोधक हैं। विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए एक कार्यालय के विभिन्न विभागों की भाँति उसके विभिन्न नाम पड़ गए हैं, अर्थात् मन=मननात्मक स्थिति (संकल्प-विकल्प), बुद्धि=विवेचनात्मक स्थिति (विचारोपरान्त निश्चय), चित्त=चेतनात्मक स्थिति (स्मरण), अहंकार=स्व की प्रमुखता की स्थिति (अभिमान अथवा धृति)। मनस्तत्त्व का एक भाव इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त कर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है। इसे 'मन' कहते हैं। इसी मनस्तत्त्व के दूसरे भाग को, जो मस्तिष्क में रहकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता का निश्चय कर तदनुसार कार्य करने का आदेश देता है, 'बुद्धि' कहते हैं। इसी अन्तःकरण के एक भाग में ज्ञान-क्षेत्र के अनुभव तथा कर्मक्षेत्र के संस्कार अंकित होते हैं और स्मृति-रूप में उभरते रहते हैं। अन्तःकरण की इस स्थिति को 'चित्त' कहते हैं। ये तीन विभाग व्यापृत मन के हैं, क्योंकि इसकी क्रियाएँ आत्मा के नियन्त्रण में प्रकट रूप में होती रहती हैं। इसलिए इसे उद्बुद्ध मन भी कहते हैं। इसी मनोमय तत्त्व अथवा अन्तःकरण का चौथा भाग 'धृति' अथवा 'अहंकार' कहाता है। इस विभाग द्वारा वे सब कार्य किये जाते हैं जिनका

ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में आत्मा को नहीं होता। आत्मा से एक बार स्थायी आदेश मिल जाने के पश्चात् अभ्यास के कारण वे कार्य स्वतः होते रहते हैं। हर समय आत्मा से निर्देश लेना नहीं पड़ता। इस प्रकार **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**—एक ही मन को विभिन्न कार्यों में हेतु होने से विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

"केनास्मिन् निहितं मनः" (अथर्व० १०।२।१९)—किसने इस पुरुष में मन को स्थापित किया है? उत्तर में कहा गया है—

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः।
षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि॥

छठे मन-सहित ये पाँच इन्द्रियाँ मेरे हृदय में परमेश्वर ने तनूकृत की हैं। जीवात्मा को अपना काम चलाने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और नासिका) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, वाक्, उपस्थ तथा गुदा) परमेश्वर द्वारा मिली हैं। इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों का संचालक मन है **(यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते)**, अतः मन उभयात्मक इन्द्रिय है। जहाँ उपर्युक्त मन्त्र में मन को षष्ठ कहा है, वहाँ अथर्व० ५।१६।११ में उसे एकादशः (५+५+१) बताया है। सभी इन्द्रियों के विषयों-सम्बन्धी संस्कार उसी में एकत्रित रहते हैं।—**"एकादश मनो ज्ञेयमिन्द्रियमुभयात्मकम् ।"** (मनु०) वैदिक वाङ्मय में मन, चित्त, चेतस्, हृदयम् आदि शब्दों का पर्याय से प्रयोग हुआ है। परन्तु अनेकत्र इन शब्दों के एक-साथ आने (मन, चित्त, हृदय—अथर्व० ३।८।६; मन, हृदय—अथर्व० ३।२०।९; हृदय, चित्त—अथर्व० ३।२५।६; हृदय, मन— यजु० ३६।२, ऋग्० १०।७१।८७, १०।१९१।४) से समानार्थक लगने पर भी उनमें कुछ न कुछ भेद की प्रतीति होती है।

शिवसङ्कल्प सूक्त—यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के अन्तर्गत १ से ६ मन्त्रों को 'शिवसङ्कल्प सूक्त' के नाम से जाना जाता है। इस सूक्त का ऋषि 'शिवसंकल्प' है। **ऋषिर्दर्शनात्**—निरुक्तकार के इस वचन के अनुसार मन्त्रार्थ का दर्शन करके तत्तत् मन्त्र में निहित भावना को अपने जीवन में चरितार्थ करनेवाले व्यक्ति को उस मन्त्र का ऋषि माना जाता है। कालान्तर में उस ऋषि का सांस्कारिक नाम लुप्त हो जाता है और मन्त्र की भावना के अनुसार प्रचलित नाम से ही वह जाना जाने लगता है। ऋग्वेद का सूक्त १०।१९० अपने ऋषि अघमर्षण के नाम से विख्यात है। इन मन्त्रों की भावना से प्रेरणा लेकर मनुष्य अपने पापों

को दूर कर अघमर्षण बन सकता है। मन्त्रविशेष से प्रेरणा लेकर बुद्धिपूर्वक व्यवहार को अपने जीवन में चरितार्थ कर दूसरों को भी इसका उपदेश देनेवाले ऋषि का नाम मेधातिथि प्रसिद्ध हो गया। कण्व गोत्र में उत्पन्न होने अथवा इस नाम के गुरु के शिष्य होने से वह मेधातिथि काण्व कहाने लगा। कालान्तर में उसका सांस्कारित नाम विस्मृत हो गया और केवल उपाधिधारी नाम रह गया।

वस्तुतः मनोविज्ञान का जैसा वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक विवेचन यजुर्वेद के इस शिवसंकल्प सूक्त (अध्याय ३४। मन्त्र १।६) में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसी के मुख्यांशों के आधार पर हम यहाँ अपने विषय को प्रस्तुत कर रहे हैं।

हृत्प्रतिष्ठम्—जिन कर्मों का फल मनुष्य को इस जन्म में नहीं मिलता, उनको भोगने के लिए उसे जन्मान्तर ग्रहण करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि इस जन्म के अभुक्त कर्म संस्कार के रूप में आत्मा के साथ लगे रहकर अगले जन्मों में चले जाते हैं। मृत्यु के उपरान्त मस्तिष्क-सहित शरीर के भस्म हो जाने पर कर्मों का भौतिक आधार तो सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतः यदि संस्कारों के अधिष्ठान अन्तःकरण का आधार मस्तिष्क आदि को माना जाए तो देहान्त के साथ ही समस्त संस्कारों का भी अन्त मानना होगा और संस्कारों के अभाव में पुनर्जन्म सम्भव नहीं होगा। अतः संस्कारों का आधार कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो पूर्व-जन्म के शरीर में भी था और उस शरीर के भस्म हो जाने पर ज्यों का त्यों इस जन्म में भी आत्मा के साथ चला आया है। अतः मस्तिष्क आदि से भिन्न अन्तःकरण को मानना होगा जिसमें प्रत्येक अनुभव के संस्कार संचित रहते हैं, और उन्हीं संस्कारों को साथ लिये जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के साथ जाता रहता है। इस प्रकार मन का आवास हृदय ठहरता है—वह हृदय जिसके विषय में गीता में लिखा है—**"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति"** और जिसमें उपासक आत्मा और उपास्य परमात्मा एक-साथ रहते हैं।

शिवसंकल्प-मन्त्रों में कार्य की दृष्टि से मन के तीन रूपों=तीन नामों से कल्पना की गई है—दैव मन, यक्ष मन तथा धृति मन।

दैव मन—दैव मन का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार है, अतः सब इन्द्रियाँ उसी के अधिकार में रहकर कार्य करती हैं। प्रकाशमान और विषयों के द्योतन=प्रकाश का साधन होने से इन्द्रियों को 'देव' कहते

हैं। इन देवों का नियामक होने से अन्तःकरण का यह भाग 'दैव' अथवा 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहाता है। प्रकाश का ही अपर नाम ज्ञान है। अतः ज्ञान को उत्पन्न करने की ऐश्वर्य शक्ति जिन करणों में विद्यमान है, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि ऐश्वर्यवाले की संज्ञा इन्द्र (इदि ऐश्वर्ये) है। आत्मा का भी एक नाम इन्द्र है। समस्त इन्द्रियाँ आत्मा अर्थात् इन्द्र का ही काम करती हैं, इसलिए वे भी इन्द्रिय कहलाती हैं। आत्मा से आदेश प्राप्त कर, मन के द्वारा प्रेरणा पाकर इन्द्रियाँ अभीष्ट विषय से सम्पर्क करके तद्विषयक ज्ञान (सूचना) ज्ञानतन्तुओं के द्वारा अपने स्वामी को पहुँचा देती हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसका उसी से सन्निकर्ष होता है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से उनकी उत्पत्ति होती है, जैसे पृथिवी से घ्राण, अग्नि से चक्षु, अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने आधारभूत तत्त्व को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं। इसी कारण चक्षु का शब्द से अथवा नासिका का रूप से सम्पर्क होना असम्भव है।

मन के संयोग के बिना कोई इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। कभी-कभी किसी विषय का इन्द्रिय पर प्रबल आघात मन की प्रेरणा न होने पर भी, विषय से सम्बन्ध कर उसे जानने के लिए इन्द्रिय को विवश कर देता है, जैसे—सुषुप्तावस्था में किसी मनुष्य को मेघगर्जन सुनने की इच्छा नहीं हो रही। उस अवस्था में मन भी कोई कार्य नहीं कर रहा है। परन्तु अचानक ही मेघ के भयंकर गर्जन और बिजली की कड़क की ध्वनि उसके कान से टकराकर उसे सुनने के लिए विवश कर देती है। ऐसी अवस्था में भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन के संयोग के बिना इन्द्रिय अपने कार्य में प्रवृत्त हो गई। वस्तुतः यह संयोग और इसकी प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म तथा त्वरित है कि हम उसे अनुभव नहीं कर पाते।

यज्जाग्रतो०—बाह्याभ्यन्तर विषयों का प्रत्यक्ष करने के लिए दैव मन जैसे जाग्रत में इन्द्रियों की सहायता से कार्य करता है, वैसे ही सोते समय स्वप्नावस्था में भी आन्तर इन्द्रिय के रूप में संस्काररूपी चित्रों का प्रत्यक्ष करने में सचेष्ट रहता है।

परन्तु सब विषयों को ग्रहण करने में पूर्णतः समर्थ और अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी मन एक समय में एक से अधिक विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता। भले ही अनेक इन्द्रियाँ एक-साथ अपने-अपने ग्राह्य विषय से सम्बद्ध हों, परन्तु जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मन

का सान्निध्य होगा, उस समय उसी के विषय का ज्ञान आत्मा को होगा। यदि उस समय मन आन्तर इन्द्रिय के रूप में अन्तर्मुखी होकर गहन चिन्तन में लीन होगा तो खुली होने पर भी न आँख देख सकेगी और न कान सुन सकेंगे। बाह्य ज्ञानेन्द्रिय का अपने विषय से निरन्तर सन्निकर्ष रहने पर भी कभी ज्ञान होने और कभी न होने से भी स्पष्ट है कि जिस काल में उसका मन के साथ संयोग होता है, उस समय उसका ज्ञान होता है; सम्बन्ध टूटते ही ज्ञान बाधित हो जाता है।

किन्तु हमें एक समय में एक-साथ अनेक ज्ञानों तथा क्रियाओं की उपलब्धि होने से इस मान्यता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। हम देखते हैं कि एक व्यक्ति बैठा हुआ रेडियो द्वारा प्रसारित गाना भी सुन रहा है, समाचारपत्र भी पढ़ रहा है और पास बैठे मित्र से बातें भी करता जा रहा है। अथवा, यज्ञशाला में बैठा मन्त्र भी बोलता जा रहा है, बाएँ हाथ से समिधा भी डालता जा रहा है और दाएँ हाथ से घृताहुति भी देता जा रहा है। एक नर्तकी गा भी रही है और नाचने की प्रक्रिया में एक-साथ हाथ-पाँव, मुख आदि अंगों का विभिन्न मुद्राओं में संचालन भी कर रही है। इस प्रकार एक काल में अनेक ज्ञानों वा क्रियाओं का प्रत्यक्ष हो रहा है, और **'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** के अनुसार इसमें कुछ भी मन के सहयोग के बिना नहीं हो रहा है। परन्तु वास्तव में एक-साथ अनेक ज्ञानों तथा कार्यों की प्रतीति भ्रम-मात्र है। मन विभिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमशः संयुक्त होकर उस-उस विषय को ग्रहण कर रहा है। परन्तु मन इतना चंचल है—इतनी तीव्र गति से इधर-उधर आता-जाता है कि उसके क्रम को पकड़ना या अनुभव करना सम्भव नहीं। इस कारण विविध ज्ञानों व क्रियाओं के वास्तव में क्रमपूर्वक होने पर भी उनके एक साथ होने का भ्रम होता है। चित्रपट पर दिखाई देनेवाला दृश्य न जाने कितने क्रमिक चित्रों का संश्लिष्ट रूप होता है, किन्तु तीव्र गति से चलने के कारण उनमें से प्रत्येक का पृथक् रूप दिखाई नहीं पड़ता। एक मिनट में सहस्रों बार घूमनेवाला चक्र प्रत्येक क्षण में अपना स्थान बदलता है, किन्तु देखने में वह वैसा प्रतीत न होकर स्थिर-जैसा ही दीखता है।

व्यावहारिक दृष्टि से हम समूचे पद या वाक्य को एक-साथ पढ़ जाते हैं, परन्तु वास्तव में वाक्य के एक-एक पद और पद के एक-एक अक्षर व मात्रा का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है। प्रारम्भिक पाठ इसी प्रकार होता है, हाँ, कालान्तर में अभ्यास के कारण वैसा करते प्रतीत नहीं होते।

तब लगता है कि जैसे हम पूरा वाक्य एकबारगी पढ़ गए। एक वर्ण के उच्चारण-काल में दूसरे वर्ण का उच्चारण असम्भव है । परन्तु यह सब कार्य क्रमपूर्वक इतनी तीव्र गति से होता है कि उस क्रम को पृथक्-पृथक् रूप में पकड़ पाना हमारे लिए असम्भव है। एक काल में अनेक ज्ञान व कार्यों का आभास-मात्र होता है, परन्तु वह यथार्थ न होकर भ्रम-मात्र है।

यजुर्वेद (३४।६) में मन को 'जविष्ठम्'-'सर्वाधिक गतिवाला' बताया है तो ऋग्वेद (१।७१।९) में उसके आतिशय्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है-**"मनो न योऽध्वनः सद्य एति"** अर्थात् वह अपने मार्ग को तत्काल प्राप्त हो जाता है-मानो कुछ भी समय न लगता हो। **'मनसो जवीयः'**-मन से अधिक गतिवाला केवल परमात्मा है जो **"धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्"** (यजु० ४०।४) बैठा-बैठा ही दूसरे दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है, क्योंकि वह वहाँ (गन्तव्य स्थल पर) **"पूर्वमर्षत्"** पहले से ही उपस्थित होता है। यह परमात्मा की सर्वव्यापकता का आलंकारिक वर्णन है। मन की तीव्र गति का संकेत ऋग्वेद में इस प्रकार भी किया है-**"मनो जवसा वृषणा स्वस्ति"** (ऋ० १।११७।१५)। अथर्ववेद में मन की तीव्र गति का उपमान-रूप में ग्रहण करते हुए कहा गया है-

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत मनसोनु प्रकाम्यम्॥

हे कास रोग! जिस प्रकार शीघ्रगामी मन, मन के विषयों के साथ दूर जाता है, उसी प्रकार तुम भी दूर भाग जाओ। अन्यत्र (ऋ० १०।१६४।२) मन की गति की तीव्रता का वर्णन करते हुए कहा है-**"बहुधा जीवतो मनः, बहुत्रा जीवतो मनः"**-मन की गति की तीव्रता यही है कि वह एक के बाद एक बहुत विषयों में जा सकता है।

यक्ष मन-कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता यक्ष मन है, अतः कर्मेन्द्रियों के द्वारा होने वाले समस्त कार्य उसके नियन्त्रण में होते हैं। दैव मन और उसके अधीनस्थ इन्द्रियाँ सत्त्वगुण-प्रधान तत्त्वों से बनी हैं। यक्ष मन में रजोगुण प्रधान है और उसके अधीनस्थ इन्द्रियों का निर्माण भी रजोगुण-प्रधान भूतों से हुआ है। अपनी इच्छाशक्ति के बल पर ही यक्ष मन कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियों की तुलना में मन अत्यन्त सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है। वह आत्मा के निकट भी है, अतः स्वयं जड़

होता हुआ भी आत्मा के चैतन्य-प्रभाव को ग्रहण करता हुआ चेतन की भाँति कर्म करना आरम्भ कर देता है। इन्द्रियों तक उसकी पहुँच है, अतः उन्हें प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। मन की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्थूल हैं। अतः आत्मा के चैतन्य-प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ हैं; तदपि, प्राण-तन्तुओं के द्वारा मन को दी हुई गति को तत्काल ग्रहण कर कर्म में प्रवृत्त हो जाती हैं। आत्मा की इच्छा होने पर मन के आदेश से पैर चलने लगते हैं, वाणी बोलने लगती है, आँखों से आँसू बहने लगते हैं, पायु तथा उपस्थ मल बाहर फेंकने लगते हैं।

जिस प्रकार दैव मन को भीतर के अनुभवों एवं कार्यों में बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार भीतर की क्रियाओं के करने में यक्ष मन को भी इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए विचारार्थ भीतर प्रश्नोत्तर करते हुए वह वाणी के बिना ही बोलता रहता है और बिना पैरों के चलकर कहीं भी पहुँच जाता है।

सामान्य कार्यों के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में यज्ञादि के जितने अनुष्ठान करता है, उनमें उसका यही मन यक्ष अथवा यजमान बनता है। **"येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति"** (यजु० ३४।२) —बुद्धिमान् कर्मनिष्ठ विद्वान् जिसके द्वारा कर्मयज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, वह यक्ष मन ही है। जिस कर्मयज्ञ का मन यजमान है उसका ब्रह्मा आत्मा और ऋत्विक् इन्द्रियाँ हैं। इस सन्दर्भ में गीता (३।७) का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

अर्थात् जो इन्द्रियों को मन के वशीभूत करके आसक्ति का परित्याग कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आरम्भ करता है वह सर्वश्रेष्ठ है।

एक क्षण के लिए भी मनुष्य निष्क्रिय नहीं रह सकता। जिस समय उसमें जो गुण प्रधान होता है, उस समय उसी प्रकार के कर्मों में उसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिए जब मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अपने यक्ष मन को सत्त्वगुणप्रधान बना लेता है तो उसकी समस्त क्रियाओं का प्रवाह आत्मिक शान्ति की ओर चल पड़ता है।

आत्मा के एकलिंग 'ज्ञान' का साधन 'दैव' मन है तो उसके दूसरे लिंग 'प्रयत्न' का साधन यक्ष मन है। सुषुप्ति की अवस्था में मन कार्य करना बन्द कर देता है और मन के बिना कुछ हो नहीं सकता,

तब उस अवस्था में हो रहे कार्य कैसे होते हैं?

धृति मन—अदृष्टरूप में कार्य करनेवाले मन की संज्ञा 'धृति' है। यजुर्वेद (३४।१) के अनुसार मन जिस प्रकार **'जाग्रतो दूरमुदैति'**—जाग्रतावस्था में कार्य करता है, **'सुप्तस्य तथैव'**—उसी प्रकार सुषुप्तावस्था में भी करता रहता है। परन्तु हम जानते हैं कि सुषुप्ति में अपनी सहायक इन्द्रियों-सहित मन, बुद्धि, चित्त—सभी तमोगुण से अभिभूत हो अपना-अपना काम बन्द कर देते हैं। सब शिथिल होकर—थककर सो जाते हैं। चित्त के संस्कारों का व्यापार भी स्वप्नावस्था तक रहता है। गाढ़ निद्रा में पहुँचने पर वह शान्त हो जाता है। किन्तु उस अवस्था में भी रक्त-संचार, हृदय का स्पन्दन, प्राणों का संचलन, नियत समय पर आँख खुल जाना आदि बहुत-सी क्रियाएँ अव्यक्त रूप में होती रहती हैं। कभी-कभी जब हम बुद्धि से सोचते-सोचते बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँचे सो जाते हैं, तो प्रातः उठते ही हम देखते हैं कि जिस विषय में हम जाग्रत-अवस्था में भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कोई निश्चय नहीं कर पाए थे, वह हमें हस्तामलकवत् प्राप्त हो गया। कभी-कभी जाग्रतावस्था में भी ऐसा होता है कि जब हम किसी विषय का परित्याग कर विषयान्तर पर विचार कर रहे होते हैं तो प्रयत्न करने पर भी याद न आनेवाली बात, बैठे-बिठाए अपने-आप याद आ जाती है—बिना बुलाए मेहमान की तरह आ टपकती है। हम प्रायः रात्रि को प्रातः ४ बजे उठने का संकल्प करके सोते हैं। बिना अलार्म बजे, ठीक ४ बजे हमारी आँख खुल जाती है, मानो किसी ने हाथ पकड़कर उठा दिया हो। क्या यह सब बिना किसी के किये अपने-आप हो जाता है? नहीं, वह एक ऐसी सत्ता है जिसके बिना कुछ नहीं हो सकता—**'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** (मन्त्र ३)। जब गाढ़ निद्रा में तमोगुण की वृत्ति बुद्धि और चित्त-सहित दैव और यक्ष मन को उसके हाथ-पैर बाँधकर सुला देती है, तब अत्यावश्यक कार्यों में मन का 'धृति'-विभाग प्रवृत्त होता है। रात्रि-सेवा (Night dutry) के लिए यह स्थायी रूप से नियुक्त है। जब निद्रा के कारण व्यापृत मन की शक्तियाँ शिथिल होकर शान्त हो जाती हैं और विघ्न डालनेवाला कोई नहीं रहता तो धृति-मन को एकाग्र होकर चिन्तन-मनन करने का अवसर मिलता है और तब वह ग्रन्थियों को खोलकर तत्काल अपना निर्णय सुना देता है।

धारण करने का नाम धृति है। अन्तःकरण के इस भाग का यह नाम उसके अनन्त शक्तियों के धारण करने के कारण पड़ा है। धृति-मन

जिस पदार्थ को एक बार ग्रहण कर लेता है, उसे सँभालकर रखने और आवश्यकता पड़ने पर बिना माँगे लौटा देने का उसका अभ्यास एवं स्वभाव है। जड़ होते हुए भी अलार्म घड़ी की भाँति धृति-मन अपने भीतर प्रवाहित भावना-तरंग के कारण नियत समय पर अपना काम कर डालने का अभ्यस्त है। धृति-मन का यह सब कार्य आत्मा के नियन्त्रण में हुआ करता है, परन्तु स्वयम् आत्मा को भी इसका पता नहीं रहता। पता रहता तो सो न पाता और प्रातः उठने पर यह न कहता—"आज तो सोने में बड़ा आनन्द आया! दीन-दुनिया का कुछ भी पता न रहा!" यह वैसे ही है जैसे किसी व्यक्ति को पैर हिलाते रहने या कागज को लपेटते रहने की आदत पड़ जाती है। वह यह क्रिया करता रहता है, किन्तु उसे इसका अनुभव नहीं होता कि ये क्रियाएँ मैं ही कर-करा रहा हूँ। उसके ये कार्य चिरकाल के अभ्यास के कारण स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं। धृति-मन को उसने कुछ स्थायी निर्देश दे रक्खे हैं और वह तदनुसार कार्य करता रहता है। उसे बार-बार निर्देश लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः—संकल्प-विकल्प करना मन का स्वभाव है। भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों को जन्म देना उसका काम है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मन को सारे संकल्पों का एकमात्र आश्रय माना गया है—**'सर्वेषां सङ्कल्पानां मन एवायनम्'** (बृहद्० २।४।११)। इसी की व्याख्या करते हुए आगे बताया है—**'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरिति—एतत्सर्वं मन एव'** (बृहद्० १।५।३) अर्थात् काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, धी, ह्री, भय—ये सब मन ही हैं। विचार-सम्प्रेषण (Telepathy) अर्थात् बिना आधार के अपने विचार दूसरों के पास पहुँचाने और दूसरों के विचारों को ग्रहण करने का उल्लेख अथर्ववेद के एक सूक्त (३।२०) में मिलता है—Encyclopaedia of Psychology by H.J. Eyrende, 1975, vol. II, P. 1091; परन्तु विवेच्य शिवसंकल्पसूक्त के अनुसार मन का मुख्य कार्य संकल्प करना है। उन्हें शिव बनाने के लिए प्रयास करना साधक का काम है।

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। स्वयं मन के भीतर भी संघर्ष होता देखा जाता है। ज्ञान के विषय में ही नहीं, कर्म के विषय में भी ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य दोराहे या चौराहे पर खड़ा होकर सोचता

है–**'किङ्करोमि क्व गच्छामि'**–मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ? अथवा शैक्सपीयर के हैमलेट की तरह 'To be or not to be' की ऊहापोह में फँस जाता है। **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्** समर्थ होते हुए भी कोई निर्णय नहीं कर पाता। **'किं कर्म किमकर्म कवयोऽप्यत्र मोहिताः'** (गीता ४।१३)। इस पर विचार करते-करते मनुष्य कभी-कभी भयंकर मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में निर्णय लेने के लिए हमें बुद्धि के पास जाना पड़ता है। क्योंकि–

व्यवसायात्मिका बुद्धिः–यह मनुष्य की निर्णयात्मक शक्ति है। **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'**–एक होते हुए भी उसे अपने विशिष्ट गुणों के कारण विविध नामों से पुकारा गया है। इसके स्वरूप और कार्यों की भी अनेकत्र मीमांसा हुई है। अन्तःकरण की धारणा-शक्ति होने से उसे मेधा (ऋ० १।१८।६) कहा है। अथर्ववेद ६।४१।१ में उसे धी, आकृति, चित्ति, मति और श्रुति भी कहा है। ध्यान और धारणा के अतिरिक्त मनन और चिन्तन के आधार पर बुद्धि की मनीषा (ऋ० १।६१।२) और मति (ऋ०१।८९।२) संज्ञा है। ऋग्वेद १०। १९१ में एक-साथ प्रयुक्त **'सं वो मनांसि जानताम्', 'समानी व आकूतिः', 'समाना हृदयानि वः', 'समानमस्तु वो मनः'**–ये सभी शब्द प्रायः पर्यायवाची हैं। परन्तु ऋग्वेद १०।१९१।४ में **'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः'** में जहाँ आकूतिः को हृदय और मन से सम्बद्ध बताते हुए पृथक् भी कहा है, वहीं स्पष्टतः मन को उसका अधिकरण भी कहा गया है–**'आकूतिः सत्या मनसो मेऽस्तु'** (ऋ० १०।१२८।४)। अन्यत्र (अथर्व० ६।७३।२) उसे हृदय और मन में प्रविष्ट कहा गया है–**'हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा'** बताया है, क्योंकि वह मन में उत्पन्न होती है। अथर्व० १९।४।२ में उसे चित्त की माता के रूप में स्मरण किया है, क्योंकि वह दिव्य संकल्प-शक्ति स्वस्थ एवं सबल चित्त का निर्माण करती है।

बाह्य जगत् का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा आन्तरेन्द्रिय मन की संकल्प-विकल्पात्मक सामग्री मस्तिष्क को सौंप दी जाती है। उस पर युक्तियों तथा प्रमाणों से तर्क-वितर्क करके निश्चय की स्थिति तक पहुँचाना बुद्धि का काम है। साधारणतया दैव मन द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर तत्काल निर्णय करके बुद्धि यक्ष-मन को कर्मेन्द्रियों को आवश्यक कार्यवाही में प्रवृत्त होने का आदेश दे देती है। समस्या के गम्भीर होने पर यदि उस विषय में कुछ और ज्ञातव्य होता है तो बुद्धि दैव-मन

को, और अधिक एकाग्र हो, उस विषय में अपेक्षित अतिरिक्त जानकारी प्राप्त करने की प्रेरणा करती है। पूरी जानकारी मिल जाने पर बुद्धि अपना निर्णय दे देती है। कुछ करना आवश्यक होता है तो यक्ष-मन को तदनुसार कार्य करने की प्रेरणा करती है। यदि उस विषय में कुछ भी करना आवश्यक नहीं होता तो उसे संस्कार के रूप में चित्त को सौंपकर निश्चिन्त हो जाती है। इस प्रकार जहाँ किसी विषय का विवेचन कर उसका निर्णय करना बुद्धि का काम है, वहाँ आवश्यकतानुसार दैव-मन और यक्ष-मन से काम लेना भी उसका काम है। शिवसंकल्प-मन्त्रों में इसी की संज्ञा **'प्रज्ञान'** है।

इस सारी क्रिया को मात्र शारीरिक अथवा यान्त्रिक नहीं माना जा सकता। भौतिकवादियों के अनुसार मस्तिष्क में ही एक ऐसा स्थल है, जहाँ संवेद-तन्त्रिकाओं (ज्ञानतन्तुओं, Sensory nerves) द्वारा बाह्य जगत् की जानकारी मस्तिष्क में पहुँच जाती है और वहीं से प्रेरक तन्त्रिकाओं (Motor nerves) द्वारा प्रेरणा पाकर कर्मेन्द्रियाँ अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाती हैं। यह सारी प्रक्रिया मस्तिष्क द्वारा अपने-आप होती रहती है। उनके मत में शरीर एक स्वचालित यन्त्र के समान है। जैसे इन स्टेशनों पर रखी तोलने की मशीन में निर्धारित सिक्का डालते हैं और उस पर खड़े होते ही मशीन में से स्वतः भारसूचक छपा हुआ टिकट बाहर निकल आता है, वैसे ही किसी परिस्थितिविशेष के उपस्थित होने पर शरीर में स्वतः क्रिया-प्रतिक्रिया होने लगती है। बाएँ हाथ पर ततैया बैठते ही ज्ञानतन्तुओं द्वारा मस्तिष्क को सूचना पहुँचने पर क्रिया-तन्तुओं द्वारा दाएँ हाथ को सन्देश मिल जाता है कि बाएँ हाथ पर पहुँचकर ततैये को हटा दो। तनिक-सा विचार करने पर पता चलता है कि जिस प्रकार यन्त्र में सदा एक-जैसी अनुक्रिया होती है, उस प्रकार मनुष्य में सदा एक-जैसी निश्चित अनुक्रिया नहीं होती। एक व्यक्ति पहाड़ से नीचे फिसल गया, किन्तु नीचे गिरता-गिरता रास्ते में एक वृक्ष की टहनी पकड़कर लटक गया। उस समय उसके बाएँ हाथ पर ततैया बैठ गया। स्वचालित यन्त्र की भाँति अनुक्रिया होने का अर्थ है कि वह तत्काल दाएँ हाथ से बाएँ हाथ पर बैठे ततैये को हटा दे। परन्तु वह सोच में पड़ जाता है—"यदि ततैये को नहीं हटाता तो वह काट लेगा और उससे पीड़ा होगी। यदि हटाता है तो टहनी छूट जाएगी और वह नीचे गिरकर मर जाएगा। मर जाने से तो ततैये के काटने से होनेवाली पीड़ा को सहन करने में ही

कल्याण है।" अन्ततः वह टहनी को न छोड़ने का निश्चय करता है। संकल्प-विकल्प के बीच झूलते हुए यह निर्णय कौन करता है? निश्चय ही स्वचालित मशीन ऐसा नहीं कर सकती। यह काम **'प्रज्ञान-मन'** अथवा बुद्धि के द्वारा होता है।

बुद्धि का लोक अन्तःकरण का प्रकाशमय लोक है। शिवसंकल्प-मन्त्रों में भी प्रज्ञान अथवा बुद्धि को **'अन्तःज्योति'**=अन्दर की ज्योति अथवा स्वरूप कहा है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बुद्धि के प्रकाश में विषयों का सदा यथार्थ स्वरूप ही प्रकट हो। आँख की पुतली पर पड़े जाले की भाँति तमोगुण के बढ़ जाने पर बुद्धि का प्रकाश भी धुँधला पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में दूषित बुद्धि वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं देख पाती। कभी-कभी तो वह उसके स्वरूप के सर्वथा विपरीत देखने लगती है। अन्तःकरण को चेतन करनेवाला आत्मा है और बुद्धि अन्तःकरण का ही एक भाग है। फलतः आत्मा का उस पर प्रभाव है। जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है, उसी प्रकार चैतन्य के प्रभाव को बुद्धि का क्षेत्र तत्काल ग्रहण करता है। अतः आत्मा अपनी इच्छा-शक्ति के बल से बुद्धि के क्षेत्र को नियन्त्रित कर उसे रजोगुण तथा तमोगुण के पंजे में फँसने से बचा सकता है। एतदर्थ उसे उपने अधिकार का प्रयोग करना होगा। चैतन्यरूप होने से आत्मा सबका स्वामी है। अन्तःकरण जड़ होने से उसके अधीनस्थ है। आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन और मन के अधीन इन्द्रियाँ—यह स्वाभाविक क्रम है। इतरथा अन्धपरम्परा।

स्मृत्यधिष्ठानं चित्तम्—स्मृति का आधार चित्त है। अन्तःकरण का वह भाग जिसमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अनुभव संस्काररूप में अंकित रहते हैं, चित्त कहाता है। मस्तिष्क में काम करनेवाले किसी ज्ञानतन्तु-मण्डल को चित्त नहीं कहते। चित्त तो सत्त्व-रजस्-तमस् से बना हुआ विस्तृत तत्त्व है जिसमें इन गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। यही चित्त संस्कारों का आधार है। चित्त में अनेकानेक वृत्तियाँ उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती हैं, किन्तु नष्ट होने पर भी उनका प्रभाव शेष रहता है जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। संस्कारों से वृत्तियाँ और वृत्तियों से संस्कार बनते रहते हैं। यदि विरोधी भावनाओं से आत्मा इन्हें उखाड़ न फेंके तो ये संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चित्त में बने रहते हैं।

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः—संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहाता है। इन्द्रियों द्वारा किसी विषय का अनुभव होने पर उसके संस्कार आत्मा में सन्निहित हो जाते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त अथवा उद्बोधक पाकर वे पुनः ज्ञान के रूप में उभर आते हैं। इस संस्कारजन्य ज्ञान का नाम स्मृति है। यह 'याद आना' किसी बाह्य इन्द्रिय द्वारा साध्य नहीं। अतः मन=चित्त की सिद्धि में स्मृति का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। जिस इन्द्रिय के द्वारा जो प्रथम जाना या किया गया था, कालान्तर में उस इन्द्रिय का प्रयोग न होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा प्राप्त अनुभव की याद उसके संस्कारों के फलस्वरूप ही बनी रहती है। इस प्रकार इन्द्रिय-सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान 'ज्ञान' कहाता है और संस्कारजन्य ज्ञान **'स्मृति'**।

अनुभवानुरूपमर्थस्य स्मरणं स्मृतिः—पहले कभी इन्द्रियों के द्वारा जैसा जाना था, वैसा ही स्मरण होना स्मृति कहाता है। जैसा कोई पदार्थ देखा-सुना जाए, पदार्थ के न रहने पर भी वह वैसा ही जान पड़े—यह उसका स्मरण है। कैमरे की प्लेटं पर हाथी का मात्र आकार ही आता है और वह भी उतना ही बड़ा जितनी बड़ी प्लेट। किन्तु मन की प्लेट पर उतना ही बड़ा अंकित होता है जितना बड़ा देखा जाता है। कैमरे की प्लेट प्रर आम का केवल आकार बनकर रह जाता है, परन्तु जब हमें खाए हुए आम का स्मरण होता है तब उसके रंग, रूप, आकार, भार, स्वाद, गन्ध आदि सभी का मानस प्रत्यक्ष होता है। जब किसी मित्र का स्मरण होता है तो उसके रूप-रंग, वेशभूषा, अंगों का संचालन, बातचीत आदि सब वैसा ही दिखाई-सुनाई देने लगता है जैसा कभी मिलते समय देखा-सुना था। इस प्रकार अतीत का ज्यों का त्यों स्मरण होना ही **'स्मृति'** है।

सचेतनावचेतनाचेतनभेदात्तिस्त्रोऽवस्थाश्चित्तस्य—सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन भेद से चित्त की तीन अवस्थाएँ हैं।

कुछ संस्कार तो स्मरण करते ही अनायास हमारे स्मृति-पटल पर उभर आते हैं । कुछ ऐसे होते हैं जो प्रयास करने पर उद्भूत हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम प्रयास करने पर भी नहीं ढूँढ पाते। चित्त अथवा चेतना के विभिन्न स्तरों के कारण ऐसा होता है। सचेतनावस्था नदी के जल की ऊपरी सतह के समान होती है। पानी की ऊपरी सतह के नीचे जो पानी है वह अवचेतनावस्था का प्रतीक है। अचेतनावस्था धरती के

धरातल को स्पर्श करती हुई जलधारा के समान है। जिन अनुभवों को प्राप्त किये बहुत समय नहीं बीता होता अथवा समय-समय पर आवश्यकता पड़ते रहने से हमसे दूर नहीं हो पाते, उनके संस्कार जल की ऊपरी सतह पर तैरते हुए पदार्थों के समान हैं। ये संस्कार हमारे सचेतन मन में बने रहते हैं और आवश्यकता होने पर सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं।

कभी-कभी चित्त के गहरे जल में ध्यान की डुबकी लगाकर ही हम अपने अभीष्ट संस्कार को ज़गाने में समर्थ होते हैं। प्रायः अनुभवकाल में की गई हमारी उपेक्षा इसमें कारण होती है। यदि अनुभव के समय मनन तथा निदिध्यासन से संस्कार को परिपक्व कर चित्त को अर्पण किया जाए तो अवचेतन चित्त निश्चय ही उसे सँभालकर रखता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे निकालकर दे देता है। परन्तु इसके लिए उससे कुछ कहना-सुनना पड़ता है और कार्य-सिद्धि में कुछ समय भी लगता है। कभी-कभी किसी प्रबल सहकारी संस्कार के उद्भूत होने पर ही अपेक्षाकृत निर्बल संस्कार की स्मृति हो पाती है। जैसे किसी व्यक्ति को साधारणतया न पहचान पाने पर भी हम उसे एक झटके के साथ पहचान जाते हैं, जब वह हमें याद दिलाता है कि एक बार रात्रि के समय भयंकर वर्षा और आँधी से बचने के लिए वह हमारे बरामदे के कोने में आकर चुपचाप बैठ गया था और हमने चोर समझकर उसे ललकारा था। पर्याप्त समय तक प्रयोग में न आने के कारण भी कुछ संस्कार निर्बल पड़ जाने से अचेतनावस्था में चले जाते हैं। थोड़े-से प्रयास से ही वे बाहर आ जाते हैं।

कभी-क़भी काफी गहरा ग़ोता लगाने पर भी हम अपने अभीष्ट संस्कार को नहीं जगा पाते। अत्यधिक प्रयास क़रने, बार-बार माथा टकोरने पर भी हमें सफलता नहीं मिलती। इनमें कुछ संस्कार तो ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम सर्वथा अनुपयोगी समझकर कूड़े-करकट की कोठरी में फेंक देते हैं। तब कभी अकस्मात् आवश्यकता पड़ जाने पर भी उन्हें ढूँढ निकालना सम्भव नहीं रहता। कभी-कभी दूषित विचारों के आ जाने पर हम उन्हें मन से धकेलकर बाहर निकाल देते हैं, परन्तु एक बार आनेवाला जाने का नाम नहीं लेता। इसलिए वे बाहर जाने की बजाय हमारे मन के कोने (अन्तःस्तल) में छुपकर जा बैठते हैं। कुछेक को हम स्वयं समाजभय के कारण छुपाकर बिठा देते हैं। कुछ संस्कार हमारी अतृप्त वासनाओं से उद्भूत होते हैं। वे सभी अचेतन में जमा रहते हैं।

किसी भी संस्कार का सर्वथा नाश नहीं होता। किसी भी अवस्था में रहे, रहेगा अवश्य। ऐसे उपेक्षित व दबे पड़े संस्कार भी कभी-कभी बिना बुलाए आ धमकते हैं और हम उन्हें पहचानने को विवश हो जाते हैं। स्वप्नावस्था में, न जाने कब-कब के और कहाँ-कहाँ के संस्कार विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाते हैं। अचेतनावस्था को प्राप्त संस्कार मनुष्य के विक्षिप्त अथवा मूर्च्छित हो जाने पर मुखर हो जाते हैं। ऐसे कुछ संस्कार मानसिक तनाव में बदलकर रोगों का रूप धारण कर लेते हैं।

अहंवृत्तिकोऽहङ्कारः—'अहं' जिसकी वृत्ति है वह 'अहंकार' है। आत्मा अपने लिए सदा 'अहम्' पद का प्रयोग करता है। इस अवस्था में अन्तःकरण में आत्मा का भान होता है। अभिमान (मैं) की भावना होने से उसकी संज्ञा अहंकार है जो धृति-मन का वह रूप है जिसमें आत्मा की शक्तियों का आभास होता है। स्वाग्रह अथवा शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा में अहंकार की ही अभिव्यक्ति है। चेतना में वर्तमान जीवन की प्रेरणा देनेवाला मूल स्रोत अहंकार ही है।

सुषारथिर्मनः—मन चतुर सारथि है।

अच्छा सारथि घोड़ों को जिधर चाहता है, चलाता है। इन्द्रियों का बलिष्ठ और स्वस्थ होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़े इतने सधे हुए हों कि उनका एक-एक क़दम सारथि की इच्छानुसार पड़े। घोड़ों को नियन्त्रित करने के लिए सारथि को रस्सी की आवश्यकता होती है। शिवसंकल्प-मन्त्रों में इसे **'अभीशु'** नाम से पुकारा गया है। 'अभीषु' का पदार्थ है—अभि=सम्मुख+इशु=ऐश्वर्य वाला अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना। मनुष्य के सारथि=मन के सन्दर्भ में 'अभीशु' का अर्थ होगा—संचालन अथवा नियन्त्रण में समर्थ। समर्थ सारथि वही होगा जिसमें अपनी इच्छानुसार शक्ति का प्रयोग करने का साहस होगा। जाग्रत् तथा सुषुप्तावस्था में दूर-दूर तक दौड़ लगानेवाले मन को यदि वह कान पकड़कर नहीं बिठा सकता और इसके विपरीत स्वयम् उनका अनुगामी बन जाता है तो उसे 'सुषारथि' क्या, सामान्य अर्थों में भी सारथि नहीं कहा जा सकता। अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुँचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न यथास्थान पहुँचानेवाला ही **'सुषारथि'** पद का अधिकारी हो सकता है।

जविष्ठमजिरम्—मन सर्वाधिक वेगवान् तथा कभी जीर्ण न

होने वाला है। भौतिक जगत् में प्रकाश की गति सबसे तीव्र मानी जाती है—एक सैकण्ड में एक लाख छियासी हज़ार मील; किन्तु मन की गति का गणित की भाषा में निश्चय करना असम्भव है। इसीलिए वेद में मन के लिए आतिशय्यबोधक 'जविष्ठ' पद का प्रयोग हुआ है। जविष्ठ मन बड़ी से बड़ी बाधा आने पर भी कार्य-सिद्धि से पहले नहीं रुकेगा—**'मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति'**। मनस्वी व्यक्ति ही **'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'** जैसी घोषणा करने का साहस जुटा सकता है। यही जविष्ठ मन स्वेच्छाचारी हो जाने पर मनुष्य को किसी भी समय मृत्यु के मुख में धकेल देता है। इन्द्रियों के शिथिल अथवा निष्क्रिय ही नहीं, नष्ट हो जाने पर भी मन की सत्ता यथायथ बनी रहती है। शरीर निर्बल हो जाने पर भी मन जवान बना रहता है। **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा'** भर्तृहरि के इस वचन में प्रकारान्तर से इसी की व्याख्या की गई है।

त्रिकालज्ञानसाधनम्—विवेच्य सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में मन की शक्ति का वर्णन करते हुए कहा है—**"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्"**—यह मन भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब पदार्थों को ग्रहण करनेवाला है। यह ठीक है कि जड़ होने के कारण स्वयं मन में ज्ञान नहीं है और अल्पज्ञ होने से आत्मा भी त्रिकालज्ञ नहीं है, किन्तु आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो अल्पज्ञ होते हुए भी अपने भीतर विशाल ज्ञान के भण्डार को संग्रह करने का सामर्थ्य रखता है और उसके संसर्ग से अथवा साधन होने के कारण मन को उस ज्ञान से सम्बद्ध माना जा सकता है। जो आज क-ख-ग भी नहीं जानता, एक दिन आता है जब वह पूछे जाने पर बता देता है कि आज से ५ वर्ष पूर्व सूर्य-ग्रहण कब हुआ था, अथवा आज से १० वर्ष बाद कब होगा। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की गति और इसी प्रकार के ज्ञान के आधार पर उनके उदयास्त की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी यथार्थ उत्तर दे सकता है। इसी प्रकार के ज्ञान के आधार पर वह भविष्यत् की योजनाएँ बनाता है। स्वाध्याय, अनुभव, परीक्षण तथा ज्ञानियों के संसर्ग से आत्मा का ज्ञान नित्यप्रति बढ़ता जाता है। ज्ञानी जीवात्माओं की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान तो कहीं अधिक है—अनन्त है। सत्त्वगुणप्रधान हो जाने पर जब जीवात्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो वह अपने ज्ञान को न जाने कितना बढ़ा लेता है। उस अवस्था में त्रिकालज्ञ, तत्त्वदर्शी परम पुरुष

का ज्ञान जीवात्मा को अपनी शक्ति से सम्पन्न करने लगता है। जब साधारण मनुष्य भी स्वामी के निकट होने पर उसके ऐश्वर्य को अपना कहने लगते हैं तो मुक्तिपर्यन्त आत्मा का साथ देनेवाले मन को तादात्म्य-भाव से त्रिकालज्ञ कह दिया जाए तो कोई आपत्ति की बात नहीं।

परन्तु उस अवस्था में भी जीवात्मा, परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता। परमात्मा के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने की न उसे आवश्यकता है और न उसमें सामर्थ्य। अतः जीवात्मा को अधिक से अधिक उतना ही ज्ञान प्राप्त होता है जितने की उसके जीवन में उपयोगिता सम्भव है। मन्त्र में भूत, भविष्यत्, वर्तमान से पूर्व 'इदम्' पद जोड़े जाने से वे ही पदार्थ अभिप्रेत हैं जो जीवात्मा के सन्निहित हैं। यजुर्वेद (३८।२६) का यह मन्त्र इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर देता है–

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो वितस्थिरे तावन्तमिदं ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम्।।

इस मन्त्र में प्रयुक्त दो शब्द–ऊर्जा तथा तावन्तम्–बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। 'ऊर्जा' शब्द से दो भाव झलकते हैं। एक तो यह कि जीवात्मा प्रकट कर रहा है कि मेरी शक्ति इतने ही पदार्थों का ज्ञान ग्रहण करने तक सीमित है, और दूसरा यह कि मैंने अपने सत्त्वगुणप्रधान ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति को जागृत कर लिया है। 'तावन्तम्' भी उन पदार्थों की सीमा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में भूलोक तथा द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की उसे अपेक्षा है।

यस्मिन्नृचः—आत्मदर्शन अथवा ईश्वरीय शक्ति का प्रकाश होने पर मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण के सभी अंग चमक उठते हैं। तब चित्त में 'प्रतिभा' शक्ति का उदय होता है। उससे सूक्ष्म से सूक्ष्म, छिपी हुई, दूरस्थ एवम् अतीत की वस्तुओं का ज्ञान होने लगता है। जीवात्मा आन्तर एवं बाह्य सब तत्त्वों की यथार्थता–उनके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। सृष्टि के सब रहस्य उसे हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं। सब भावों के अधिष्ठाता परम पुरुष के गुणों का आभास होने पर समस्त ज्ञान उसे अपने भीतर प्रतिष्ठित दीखता है। ज्ञान का पर्याय वेद है। **'यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः'**—समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत ऋग्वेदादि उसे अपने भीतर वैसे ही ओतप्रोत दीखते हैं जैसे रथ की नाभि में अरे। वस्तुतः मनुष्य के लिए अपेक्षित

सम्पूर्ण ज्ञान उसमें सन्निहित है। शिक्षा, अभ्यास, ईश्वरोपासना आदि साधनों के द्वारा उसका प्राकट्यमात्र होता है।

जब तक लक्ष्य की प्राप्ति='ब्रह्म का साक्षात्कार' न हो, तब तक इन साधनों का अनुष्ठान आवश्यक है। किसी एक साधन द्वारा याथातथ्य ज्ञानार्जन सम्भव नहीं। निदिध्यासनपर्यन्त सभी साधन समान रूप से अनुष्ठेय हैं । इतना ही नहीं, प्रयोजन पूरा होने तक साधनों का निरन्तर अभ्यास तथा उनकी आवृत्ति भी अपेक्षित है।

मन ही नहीं, अन्तःकरण-चतुष्टय ज्ञान के साधन हैं, ज्ञाता या कर्त्ता नहीं। ज्ञाता, कर्ता एवं भोक्ता चेतन आत्मा ही है।

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति जीवात्मायुक्त शरीर की अथवा शरीरस्थ चेतना की अवस्थाएँ हैं। अपने स्वरूप में जीव इन सब अवस्थाओं से पृथक् है। जाग्रतावस्था में जीवात्मा बहिर्मुख होकर कार्य करता है। उसकी गति प्रायशः बाह्य विषयों की ओर होती है। उस अवस्था में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-ये उन्नीस निरन्तर उसके सहायक होते हैं। बहिर्मुख होने की अवस्था में आत्मा मन के साथ संयुक्त हो, प्राणों को प्रेरणा करके इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करता है। जाग्रतावस्था में स्थूल जगत् का उपभोग करने के कारण जीवात्मा 'स्थूलभुक्' कहाता है।

पुरुषार्थ करते जब मनुष्य थक जाता है तो तमोगुण प्रधान होकर उसकी समस्त इन्द्रियों को शिथिल कर देता है। उस अवस्था में इन्द्रियों के मन में प्रविष्ट हो जाने से बाह्य जगत् से आत्मा का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। किन्तु रजोगुण की कुछ भी मात्रा जब तक बनी रहती है तब तक मन क़ाम करता रहता है। इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। इस अवस्था में मन अपने वासनारूप संस्कारों से अनुभूत विषयों का प्रत्यक्ष करता है। बाह्येन्द्रियों के असमर्थ हो जाने से विवश होकर आत्मा अन्तर्मुख अथवा अन्तर्ज्योति हो जाता है। स्वप्नावस्था में जीवात्मा का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है। अतः उस अवस्था में वह स्थूल शरीर से भोग न करके सूक्ष्म शरीर में स्थित सूक्ष्म इन्द्रियों से सूक्ष्म जगत् का उपभोग करता है। इसीलिए उस अवस्था में जीवात्मा **'सूक्ष्मभुक्'** कहाता है।

स्वप्नावस्था में जीवात्मा बिना इन्द्रियों के सहयोग के सब-कुछ करता है, किन्तु वही जो जाग्रत् में देखा-सुना होता है। जाग्रतावस्था में जैसे व्यवहार, आचरण, भावना व विचार होते हैं, उन्हीं की प्रतिच्छाया

स्वप्नावस्था में पड़ती है। उन्हीं के सहारे वह अपनी सृष्टि बनाता-बिगाड़ता रहता है। उस अवस्था में रथ, घोड़े, सड़कें, नदी, तालाब, पुत्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव आदि कुछ नहीं होता। परन्तु शरीर से बांहर गए बिना संकल्पमात्र से उनकी रचना कर लेता है। रजोगुण की कुछ मात्रा होने से चंचल होने के कारण मन एक स्थान पर टिक नहीं सकता। अतः वह 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर भानमती का कुनबा' जोड़ लेता है। किसी संस्कार का कोई, और किसी का कोई अंग लेकर एक नई वस्तु घड़ लेता है। किसी संस्कार में मनुष्य की छाया देख ली और झट वहाँ से चलकर किसी दूसरे संस्कार में पक्षी के पंख देख लिये और मनुष्य के साथ पक्षी के पंख जोड़कर केवल संस्कारों के बल पर उड़ते हुए मनुष्य की कल्पना कर डाली। वैशेषिक-भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार स्वप्न में मनुष्य के उड़ने की कल्पना तब करता है जब उसके शरीर में वायु प्रधान होता है। इसी प्रकार पित्त प्रधान होने पर अग्नि में जलने आदि तथा कफ प्रधान होने पर जल में तैरने या डूबने के स्वप्न दिखाई देते हैं। जो तत्त्व शरीर में प्रधान होता है वही मन में भी प्रधान होता है और उसका स्वप्न पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।

□□

सृष्टि-चक्र

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहो-स्विन्नेति? अत्रोच्यते—वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव। तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥ —य० अ० ३। मं० ६

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम्।

वैदिक संहिताओं में ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। परन्तु वह सब इतने रहस्यपूर्ण व आलंकारिक ढंग से लिखा गया है कि आज के युग में उस पद्धति को जानना व समझना अत्यन्त कठिन है। अब यदि उन उपलब्धियों पर आज के विद्वान् एकमत नहीं हो पाते तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिन बातों को आज का विज्ञान जान पाया है, वे ही नहीं, अपितु जिनको अभी तक वह नहीं जान पाया है, वे भी वेदों में विद्यमान हैं।

ऋग्वेद (१।११५।१; २।४०।४) में विश्व को तीन लोकों में विभक्त किया गया है—पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः। इसके पश्चात् पुनः प्रत्येक के तीन भाग किये हैं। आकाश (अन्तरिक्ष) का सम्बन्ध बादल, विद्युत्, वायु से है तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और तारों का सम्बन्ध द्युलोक से है। पृथिवी की द्युलोक से दूरी अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग ढंग से बताई गई है।

ऋग्वेद में पृथिवी का आकार वर्तुलाकार कहा गया है (१।३३।८) और बताया गया है कि पृथिवी अपने-आप हवा में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है (४।५३।३)। शतपथ ब्राह्मण ने इसे स्पष्ट रूप से **'परिमण्डल'** संज्ञा दी है। पृथिवी के विस्तार के विषय में भी कल्पना की गई है। प्रो० तारकेश्वर भट्टाचार्य तथा डॉ० एकेन्द्रनाथ

(आयं गौः) अयं गौः[१] पृथिवीलोकः सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि। तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्य्यस्य परितो याति। एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम्। अत्र प्रमाणानि–

गौः ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ।[२]

घोष का मत है कि वेद में पृथिवी की दोनों गतियों–पृथिवी की अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर कक्षा-गति (Axial Rotation, Orbital Rotation) के प्रमाण उपलब्ध हैं। ये गतियाँ सूर्य के कारण उत्पन्न हुई हैं। लुडविग ने बहुत पहले बताया था कि ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूम रही है। ऋग्वेद (७।५८।२) में लिखा है कि पृथिवी की दोनों प्रकार की गति के कारण ही सूर्य दिन, रात, मास और वर्ष बनानेवाला है। ऋतुओं का जनक भी वही है। वायु को गति देनेवाला भी वही है(ऐत० ब्रा० २।७)। वहाँ यह भी लिखा है कि सूर्य न कभी उदय होता है और न अस्त। पृथिवी की गति के कारण ही वैसा प्रतीत होता है।

ऋग्वेद (१।४१।४) के अनुसार वरुण ने सूर्य के लिए मार्ग निर्मित किया है जिसे 'ऋत' कहते हैं। उसी के निमित्त से वहाँ आदित्य ब्रह्मचारी के मार्ग का निर्देश किया है। यही राशिचक्र-

---

१. मन्त्रे 'अयं गौः' इति पुँल्लिङ्गनिर्देशो लोकशब्दापेक्षया ज्ञेयः। तेन पुँल्लिङ्गप्रयोगात् पृथिव्याः परिभ्रमणे नास्य मन्त्रस्य प्रमाणं सम्भवतीति यत्कैश्चिद् उच्यते, तदपाकृतं भवति। एतदेव चाभिप्रेत्य ग्रन्थकृताऽपि विशेषतः 'पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येव' इत्युक्तम्।

२. निघण्टु १।१॥ यास्कीयनिरुक्तस्य व्याख्येयरूपो निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम्। साम्प्रतिका बहवो विद्वांसो निघण्टुमिमं यास्कप्रोक्तं न मन्यन्ते। एतेषां मतस्य निराकरणं पण्डित-भगवद्दत्तेन 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थस्य 'वेदों के भाष्यकार' नाम्नि भागे विस्तरेण कृतम् (पृष्ठ १८१-१९५), तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्।

तथा च—स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारण-नामसु।।[१] पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते।।[२]

'गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति।।' —निरु० अ० २। खं० ५

'गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति।।' —निरु० अ० २। खं० १४

'सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते।।' —निरु० अ० २। खं० ६

'स्वरादित्यो भवति।।' —निरु० अ० २। खं० १४

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी। 'अद्भ्यः पृथिवी'ति तैत्तिरीयोपनिषदि[३]। यस्माद् यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति, तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वाद् आदित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते। यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्य्याद् गच्छतीति विज्ञेयम्। एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः।।१।।

सम्बन्धी पट्टी (Zoadical Belt) का उल्लेख है। लुडविग का विचार है कि ऋग्वेद में रविमार्ग का पृथिवी की भूमध्यरेखा (१।११०।२) तथा धुरी (१०।८६।४) के साथ सम्बन्ध का वर्णन है। मोटे तौर पर सूर्य (पृथिवी) की वार्षिक गति दो अर्द्ध भागों—उत्तरायण और दक्षिणायन में विभाजित है। रविमार्ग (Ecliptic) बारह भागों या बारह

---

१. निघण्टु १।४।।

२. पृश्निरन्तरिक्षस्य नामेति निरुक्ते न क्वचित् साक्षात् पठ्यते, तथापि पूर्वोद्धृतस्य निघण्टुपाठस्य व्याख्याने (२।१३।१४) स्वरादय आदित्यस्य दिवश्च साधारणनामानीत्युक्तम् यास्केन। तत्र 'दिव्' शब्देनान्तरिक्षं गृह्यते इति भगवद्दयानन्दस्य मतम्। तथैव च भगवता स्ववेदभाष्ये बहुत्र पृश्निशब्दस्यान्तरिक्षरूपोऽर्थो व्याख्यातम्। निघण्टौ स्वरादिभ्यः साधारणनामभ्यः (१।४) प्राक् अन्तरिक्षनामानि पठ्यन्ते। तस्माद् आदित्येन सह साधारणनामत्वेन 'दिव्' शब्देन अन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं सम्भवति।

३. ब्रह्मा० वल्ली अनु० १

भाषार्थ–अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है। इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं। इस विषय में यह प्रमाण है–

'आयं गौः०'–गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का। अपनी–अपनी परिधि में, वे सब अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है, क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है; और सूर्य्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उसके प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं।

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है। तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रामण और पालन कर रहा है।।१।।

राशिचक्रों में विभाजित है। परिणामस्वरूप एक वर्ष में बारह महीने होते हैं। सूर्य प्रत्येक महीने में पृथक्–पृथक् राशि से गुजरता है। प्रत्येक राशि से गुज़रता हुआ सूर्य पृथक्–पृथक् नामों से पुकारा जाता है जिससे बारह आदित्यों की परिकल्पना की गई है।

'आयं गौरिति' मन्त्र के शब्दार्थ में निम्न प्रमाण हैं–यास्कीय निघण्टु में 'गौ' शब्द पृथिवी के पर्यायवाची शब्दों में पढ़ा गया है। निरुक्त में **'गौ'** का अर्थ **पृथिवी** इसलिए पढ़ा गया है क्योंकि (क) सूर्य से दूर–दूर गति करती है। (ख) अथवा इसमें सब प्राणी गति करते हैं। निरुक्त में **'सूर्य'** का नाम भी **'गौ'** लिखा है, क्योंकि यह (क) रसों को ले जाता है, और (ख) स्वयं अन्तरिक्ष में गति करता है।

इसी प्रकार निरुक्त में **'द्युलोक'** का नाम भी **'गौ'** आया है, क्योंकि वह (क) पृथिवी से बहुत दूर गया हुआ है, (ख) और इसमें सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक गति करते हैं। निरुक्त में **'स्वः'** नाम भी आदित्य का आया है, क्योंकि वह (क) पूर्णतया अन्धकार को

या गौर्वर्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः। सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥२॥ –ऋ० अ० ८। अ० २। व० १० मं० १

भाष्यम्–(या गौर्वर्तनिं०[१]) या पूर्वोक्ता गौर्वर्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती, पर्य्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गम्? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम्। (पयो दुहाना) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेक-रसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती, तथा (व्रतनीः) व्रतं स्वकीय-भ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती। (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति॥२॥

दूर भगानेवाला है, (ख) वह रसों के ग्रहणार्थ गया हुआ है, (ग) चन्द्र तथा पृथिव्यादिक ज्योतिर्लोकों के प्रकाश के प्रति गया हुआ है अर्थात् उन्हें प्रकाशित करता है, (घ) दीप्ति से संगत है, अर्थात् वह दीप्तिमान् है। निरुक्त में 'पृश्नि' नाम अन्तरिक्ष का आया है, क्योंकि उसमें सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक रहते हैं।

पृथिवीभ्रमण के पोषक प्रमाण वैदिक वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। जैसे–

१. यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि। वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥ –अथर्व० १२।१।५२

'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता'–वार्षिक गति से (वर्षभर में) पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्र काटकर लौट आती है। 'अहोरात्रे विहिते' प्रतिदिन की गति भी इसी से सिद्ध है।

---

१. अयं मन्त्रः प्राधान्येन पृथिवीभ्रमणमाचष्टे 'या गौः' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्। इयं पृथिवी सूर्यस्य परितो भ्रमति, न सूर्योऽस्याः परित इत्यस्यार्थस्य निर्देश आचार्यवर्यैः श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभिः स्वकीये यजुर्वेदभाष्यविवरणे 'आयं गौः' (३।६) मन्त्रव्याख्याने विस्तरेण विहितः। स तत्रैव द्रष्टव्यः।

भाषार्थ–(या गौर्व०) जिस-जिसका नाम 'गौ' कह आए हैं, सो-सो लोक अपने-अपने मार्ग में घूमता, और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है अर्थात् परमेश्वर ने जिस-जिसके घूमने के लिए जो-जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस-उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने-अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिए सब जगत् दृष्टान्त है। और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती, और पृथिवी, सूर्य्य, वायु और चन्द्रमादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है॥२॥

---

२. प्रजा हि तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश॥

–ऋ० ८।१०१।१४

सूर्य बहुत बड़ा है और सबके मध्य में स्थित है। पृथिव्यादि उसके चारों ओर घूमते हैं।

३. ऋग्वेद (१०।२२।१४) में बिना हाथ-पाँव के पृथिवी सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है–ऐसा प्रतिपादन किया है।

४. यजुर्वेद ८।९ में लिखा है–

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत्।
अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥

मैं सूर्य को दोनों ओर देखता हूँ, पूर्व में भी तथा पश्चिम में भी, अर्थात् सूर्य पूर्व या पश्चिम जाता है या घूमता है, यह बात नहीं। अपितु वह घूमता है, ऐसा मैं समझता हूँ। घूमते देखना या प्रतीत होना मेरे दृष्टिदोष से सम्बन्ध रखता है, वस्तुतः सूर्य घूमता नहीं।

५. यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसके पिछले आधे भाग में सदा अन्धकार तथा सामने आधे भाग में सदा प्रकाश बना रहता है। बीच में सब पदार्थ हैं। यह पृथिवी माता के समान सबकी रक्षा करती है। –ऋग्वेद १।१६४।१७

६. सूर्य चक्र को पैदा करता है, अर्थात् सूर्य पृथिवी आदि के चक्रोत्पन्न होने में हेतु है, स्वयं चक्र नहीं करता।

वेद के समान ही ब्राह्मणग्रन्थों से भी पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना सिद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय १४, खण्ड ६ तथा गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्द्ध ४।१० में स्पष्ट लिखा है–"यह सूर्य न कभी उदय होता है, न अस्त। उसे जो पश्चिम में अस्त या पूर्व में उदय होना मानते हैं, वे अपने-आपको भूल में डाल रहे हैं। "

वेद की इस (ब्राह्मणोक्त) व्याख्या के अनुसार तो इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। आदित्यगति माननेवालों के लिए ही 'सूर्य पश्चिम में जाकर अस्त हो गया अथवा अब पूर्वदिशा में उदय हो रहा है'–मुख्यवृत्ति से ऐसा व्यवहार हो सकता है। पृथिवी-भ्रमणवादी तो गाड़ी में बैठे पीछे दौड़ते हुए वृक्षों को 'वृक्ष दौड़ रहे हैं' इस व्यवहार के समान उपचार से ही कहते हैं, न कि वस्तुतः। उनका ऐसा कहना उपचार से बनता है या अज्ञानवश। इससे वृक्षों का दौड़ना सिद्ध नहीं हो जाता ।

महान् ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट ने भी पृथिवी-भ्रमण की पुष्टि की है। 'आर्यसिद्धान्त' में आए **'अनुलोमगतिनौं स्थः०'** का अभिप्राय यह है कि जैसे चलती हुई नाव में बैठे मनुष्य को नाव स्थिर और किनारे के पेड़, घर आदि उल्टी दिशा में चलते हुए दिखाई पड़ते हैं, इसी प्रकार नक्षत्रचक्र अचल होने पर भी घूमनेवाली पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्यों को सूर्य पश्चिम की ओर घूमता हुआ देख पड़ता है। 'आर्यसिद्धान्त' में आगे लिखा है–"सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही बार-बार अपनी धुरी पर घूमकर प्रतिदिवस इनके उदयास्त का सम्पादन करती है।"

पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना प्रत्यक्ष है। जब कोई पदार्थ घूमता है तो उसका वेग अपने केन्द्रस्थान (ठीक बीच) की अपेक्षा दूरतर स्थान में अधिक होता है। इसीलिए यदि कोई वस्तु बहुत ऊँचे स्थान (मीनार आदि) से गिराई जाए तो वह वस्तु कुछ दूर पूर्वांश में गिरेगी, जहाँ से गिराई गई है, उस स्थान से ठीक नीचे नहीं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि पृथिवी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है।

ऋषि ने जो 'आयं गौः' इस मन्त्र के व्याख्यान में अन्य लोकों का भ्रमण कहा है, वह गो शब्द से भूगोलादि के उपलक्षण से तथा

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।३।।

—ऋ० अ० ६। अ० ४। व० १३। म० ३

भाष्यम्—(त्वं सोम०) अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति।

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत् पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित् सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि।

तथा 'द्यावापृथिवी एजेते'[१] इति मन्त्रवर्णार्थाद् द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः।[२] अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम्।।

।। इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः।।

'अयं' इस पुंल्लिङ्ग प्रयोग से सब ठीक है। वहाँ सूर्य का अपनी कक्षा में तथा अन्यों का सूर्य के चारों ओर भ्रमण यथाक्रम समझना चाहिए।[३]

'पृथिवीसूक्त' के नाम से प्रसिद्ध अथर्ववेद के १२वें काण्ड के पहले सूक्त में विस्तारपूर्वक बताया है कि पृथिवी हम सब की माता है और इस नाते हमारा सब प्रकार से पालन-पोषण करते हुए अनेक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।
२. सर्वप्रमाणजातमभिलक्ष्य।
३. सूर्य अपनी धुरी पर एक चक्कर २५ दिन ९ घण्टे ७ मिनट में पूरा करता है। इस विषय में विस्तार से जानने के लिए श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु द्वारा सम्पादित महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेद भाष्य, प्रथम भाग में इस मन्त्र का भाष्य देखें।

"Once men thought that the sun remained perfectly still, while the planets and their moons moved round them. But we have learned that that is not true. The sun has two movements. Like the earth, the sun spins, or rotates, upon itself, and in the same direction as the earth. Thus, we can notice a sun-spot appear at

भाषार्थ–(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी-कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं।।३।।

यह सर्वविदित है कि चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है। घूमते हुए जब कभी वह पृथिवी और सूर्य के बीच में आ जाता है तो चन्द्रमा की ओट में हो जाने से कुछ काल के लिए पृथिवी से दिखाई देना बन्द हो जाता है। इसी को सूर्यग्रहण कहा जाता है। चन्द्रमा के पृथिवी के चारों ओर और पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने से ही यह स्थिति आती है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (५।२।१) से प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों ने बिना किसी यन्त्र की सहायता के अपनी नंगी आँखों

---

one side of the sun, travel across its face, disappear for several days, and then reappear where we saw it first.

But, besides this movement of rotation, the sun has a movement of translation, as it is called—that is, an actual bodily movement from place to place.

We do not doubt that all other stars are in motion too. It used to be impossible to see any sort of arrangement or order in the movements of the sun and the other stars. But now a German astronomer, Professor Kapteyn and others following him seem to have shown that the stars consist of two great hosts, which are streaming through or past each other in opposite directions and at different speeds, and they think that our sun belongs to one of these groups of stars. Of course, where the sun moves he carries all his family with him—planets, moons, comets and so on—together with everything that is born and borne upon them; but neither astronomer nor other scientist can say where the sun is carrying us, nor what the result will some day be."

— *The Book of Knowledge*, page 1678

से सूर्य के साथ उदित और अस्त होनवाले तारों की सहायता से सूर्य की गति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद (५।४०।९) में तुरीय उपकरण की सहायता से सूर्य के पूर्ण ग्रहण के निरीक्षण का उल्लेख मिलता है। प्राचीन आर्य सूर्यग्रहण के आरम्भ, अवधि तथा समाप्ति-काल की गणना कर सकते थे। अथर्ववेद (१९।९।१०) के अनुसार सूर्यग्रहण राहु द्वारा लगा करता है। सूर्यग्रहण का कारण चन्द्रमा होता है।

सूर्य की ऊर्जा से ही पृथिवी पर जीवन है। पृथिवी के लगभग ७० प्रतिशत क्षेत्र में जल है। सूर्य की ऊर्जा और पृथिवी के जल से वाष्प बनती है जो आकाश में जाकर मेघमण्डल का रूप धारण करती है जिससे वर्षा होती है। इसी से अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण, अन्नादि पृथिवी पर उत्पन्न होकर प्राणियों का भरण-पोषण करते हैं। इसलिए पृथिवी के लिए सूर्य पिता के समान है। सूर्य की पूर्ण ऊर्जा की बहुत कम मात्रा पृथिवी पर पहुँचती है। सूर्य के भीतर एक सैकण्ड में जितनी ऊर्जा पैदा होती है उसका भी जीव अपने करोड़ों वर्षों के जीवन में उपयोग नहीं कर सके हैं। यदि सूर्य के अन्दर कोयला होता तो कुछ ही वर्षों में जलकर समाप्त हो गया होता। इससे पता चलता है कि सूर्य की ऊर्जा का स्रोत कुछ और है। सूर्य से प्रति सैकण्ड ४० लाख टन के द्रव्यमान के परिमाण में ऊर्जा निकलकर आकाश में विकिरण हो रही है। सूर्य के अन्दर विभिन्न तत्त्वों के परमाणु हैं। उसमें हाइड्रोजन गैस के परमाणु सबसे अधिक हैं। हाइड्रोजन के परमाणुओं का संयोग होता है तो ऊर्जा उत्पन्न होती है और एक दूसरा तत्त्व हिलियम पैदा हो जाता है। इन परमाणुओं का विघटन होने पर फ़िर ऊर्जा पैदा होती है। इस प्रकार परमाणुओं के संयोग और वियोग से पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा पैदा होती है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस क्रिया को **'नाभिकीय चेन क्रिया'** कहते हैं। परिकलनों के आधार पर सूर्य के प्रकाश-मण्डल का औसत तापक्रम ६३००° सेण्टीग्रेड है। सूर्य के प्रकाश-मण्डल के चारों ओर जो द्रव्य वर्णमण्डल और किरीट के रूप में है उसका तापमान भी ३०००° के बराबर है। इतने ऊँचे तापक्रम पर कोई भी द्रव्य ठोस अथवा द्रव अवस्था में नहीं रह सकता। अतः सूर्य में वह अवश्य ही वाष्परूप में परिणत हो गया होगा। सूर्य

वाष्प अथवा वायुरूप में है। इसी से वायु को सूर्य का पिता कहा है। इन सब लोकों को नियमपूर्वक अपने-अपने मार्ग में चलानेवाली शक्ति का नाम परमेश्वर है जिसमें सब शक्तियाँ केन्द्रित हैं।

लगभग ४५० वर्ष पूर्व तक पाश्चात्य लोग यही मानते थे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। यह सिद्धान्त भूकेन्द्रित था। ईसाई मत की मान्यताएँ इसी आधार पर टिकी थीं। जिन वैज्ञानिकों ने इस मान्यता का विरोध किया उन्हें कठोर यातनाएँ सहनी पड़ीं। परन्तु गैलिलियो, कैपलर और कॉपरनिकस आदि वैज्ञानिकों की साहसपूर्ण खोजों के प्रकाश में आने के बाद ईसाई धर्मगुरुओं को विवश होकर मानना पड़ा कि यह जगत् सूर्यकेन्द्रित है और पृथिवी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। सन् १९१७ तक यही समझा जाता था कि सूर्य तारों से पूर्ण इस विश्व के केन्द्र में है। आधुनिक खोजों से पता चला है कि यह सम्पूर्ण विश्व उत्केन्द्र स्थिति में है।

इस ब्रह्माण्ड में सूर्य का अपना एक परिवार है जिसे सौरमण्डल कहते हैं। इस परिवार में ९ ग्रह हैं जो सूर्य की दीर्घ वृत्ताकार परिधि में परिक्रमा करते हैं। ३० उपग्रह हैं जो अपने-अपने ग्रहों के गिर्द घूमते हैं। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है और इसका भौगोलीय परिकाल २९½ दिन है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सब अपनी-अपनी धुरी पर लट्टू की तरह घूमते हैं। परन्तु सबका घूर्णनकाल अलग-अलग है।

असंख्य तारों के समूह को अंग्रेजी में गैलेक्सी या मिल्की-वे (Galaxy or Milki way) कहते हैं। हमारे यहाँ इसे आकाशगंगा के नाम से अभिहित किया गया है। सप्त-ऋषि आदि की तरह सूर्य भी एक तारा होने से हमारी आकाशगंगा का सदस्य है। आकाश में कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं जो बादल के टुकड़ों के समान दिखाई पड़ती हैं। इन्हें नीहारिका कहते हैं। ये भी हमारी आकाशगंगा के समान असंख्य तारों का समूह हैं। इस तरह की अनगिनत नीहारिकाएँ इस ब्रह्माण्ड में हैं। आकाशगंगा के अन्दर के सारे पिण्ड आकाशगंगा के नाभिकीय केन्द्र का चक्कर लगाते रहते हैं।

सूर्य १५० मील प्रति सैकण्ड की गति से वृत्ताकार-पथ में आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता है। अपनी धुरी पर सूर्य

२७ दिनों में एक चक्कर पूरा करता है जिसका प्रमाण सूर्य की सतह पर पाए जानेवाले धब्बे हैं जो सूर्य के पश्चिमी भाग से उसके पूर्वी भाग की ओर चलते प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये धब्बे अपनी जगह पर बने रहते हैं, परन्तु सूर्य में घूर्णन-गति के कारण घूमते-से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सभी लोक-लोकान्तर चलायमान हैं।

यूरोप में १७वीं शताब्दी के आरम्भ में जब इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो (Galileo) ने यह कहा था कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है तो धार्मिक लोगों ने उसके विरुद्ध आन्दोलन किया, क्योंकि बाइबल के अनुसार पृथिवी के गिर्द सूर्य परिक्रमा करता है। इसे अपराध मानकर दण्ड दिया गया और उसके फलस्वरूप उसे जेल में रहना पड़ा। इसी प्रकार जब उसने सूर्य में धब्बे होने की बात कही तो लोगों ने कहा कि या तो गैलिलियो की आँखों में दोष है या उसकी दूरबीन (Telescope) खराब है। जिस ईश्वर ने सृष्टि बनाई, यदि बाइबल में उसी का दिया ज्ञान होता तो सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातें न लिखी होतीं। ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी पर वेद ही खरा उतरता है।[१]

□□

---

१. What Galileo taught appeared to the members of the Inquisition to be in direct contradiction to the Bible, which spoke of the Sun rising and setting. We know now that the sun does not really rise and set, but that the earth goes round. But the men who tried Galileo did not know this, and in their belief the Bible was to be taken in its literal sense in all departments of human knowledge. They could not bring themselves to agree with Galileo when the old man urged, with some humour and cleverness, that the Bible was intended to teach how to go to heaven, and not how the heavens go. As a result of this trial, Galileo was condemned as 'vehemently suspected of heresy' and was ordered to be imprisoned.

—*The Book of Knowledge*, page 3612

आकर्षणानुकर्षण

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥१॥

—ऋ० अ० ६। अ० ९। व० ६। मं० ३

भाष्यम्—(यदा ते०) अस्याभिप्रायः—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य्य! यदा यस्मिन् काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिक्षणं च (ते) तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन (येमिरे) नियमेन धारयन्ति। अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति॥१॥

ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त ऋषियों की परम्परा के अनुसार ऋषि का यह विश्वास था कि सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है और इसलिए ईश्वरीय ज्ञान वेद भी सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। सृष्टि में सर्वत्र गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त काम कर रहा है। इसी कारण भारी से भारी ग्रह-उपग्रह चलायमान होते हुए भी एक-दूसरे पर गिरते नहीं हैं। भारतीय लोगों के लिए यह कोई नई बात नहीं है। परन्तु पाश्चात्य वैज्ञानिकों को न्यूटन (१६६५) से पूर्व इस बात की जानकारी नहीं थी।

न्यूटन, कैपलर के उन नियमों का अध्ययन कर रहे थे जो उन्होंने ग्रहों के घूमने के विषय में प्रतिपादित किये थे और कहा था कि ये ग्रह दीर्घवृत्ताकार मार्ग में घूमते हैं। कैपलर ने यह भी बताया कि ये ग्रह यदृच्छया न घूमकर किन्हीं निर्धारित नियमों के

भाषार्थ–(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है।

(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आपके अनन्त बल और पराक्रम-गुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आपके ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर-उधर चलायमान नहीं होते।

दूसरा अर्थ-इन्द्र जो वायु, सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं। उनसे सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी-अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर-उधर विचल भी नहीं सकते ।।१।।

अनुसार गति करते हैं। उनकी गति सूर्य आदि से उनकी दूरी पर निर्भर करती है। इन सब का हिसाब लगाना आसान नहीं था। परन्तु जब न्यूटन के कहीं अधिक उर्वर मस्तिष्क ने विचार किया तो उसे पता चला कि इन सब का आधार गुरुत्वाकर्षण है।[१] ग्रहों की गति

१. Newton's three laws are called the Laws of Motion. Kepler's three laws are called the Laws of Planetary Motion. They deal not with motion in general, but with the movements of the planets. With immense labour, continued for many years, Kepler showed that all the planets, which were then known, moved according to certain laws, their speeds depending on their distance from the sun, and so on. The calculations and statements of these laws are rather complicated and do not matter for us now. There was no obvious connection between the three laws; they were simply three facts about planetary motion that were found by him and put down one after the other. But when the still more glorious mind of Newton considered these facts, he saw that there lay hid in them the Law of Gravitation, on which they all depend. This law is responsible for perhaps the greater part of all the motions in the world. It is the law, as Herbert Spencer said, by which the universe is balanced. If the different bodies that make up the universe were still and were balanced by the law of gravitation, that would be wonderful enough; but they are all in motion, and are yet controlled. This law would alone suffice, if necessary, to make the universe really one.

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥२॥

—ऋ० अ० ६। अ० ९। व० ६। मं० ४

भाष्यम्—(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति।

हे पूर्वोक्तेन्द्र ! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति, तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति। अत एव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च॥२॥

इत्यादि का अध्ययन करके न्यूटन ने बताया कि सूर्य व ग्रह आपस में कोई बल लगाते हैं जो उन्हें पारस्परिक आकर्षण से प्राप्त होता है। न्यूटन के मन में यह परिकल्पना उत्पन्न हुई कि यह नियम अवश्य ही अधिक व्यापक है और सूर्य आदि के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्य वस्तुओं पर लागू होता है। इस परिकल्पना के अनुसार पदार्थों के पृथिवी की ओर गिरने का कारण भी यही है कि पृथिवी समस्त पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। वास्तव में यह शक्ति द्रव्यमात्र का गुण है। न्यूटन के शब्दों में—

"प्रत्येक द्रव्यकण प्रत्येक दूसरे द्रव्यकण को अपनी ओर आकर्षित करता है और इस आकर्षणबल का मान दोनों कणों के द्रव्यमानों का समानुपाती होता है और दोनों कणों के बीच की दूरी के वर्ग का उत्क्रमानुपाती होता है।"[१]

---

१. The law of gravitation is not a question of any planet or star. It is a universal law. It is equally and strictly true of every particle of matter and applies strictly between that particle of matter and every other particle, whether near or far. For us on the earth, the most important kind of gravitation is the Earth's gravitation; that is simply because the earth is so near. But a book, which rests on a table under the pull of the earth, is also being pulled toward the Sun, and the Moon and every star in the sky. Only the Earth, being near has the advantage, and that is why it is the downward pull we know so well, and usually call gravitation.

भावार्थ–(यदा ते मारुती०) अभिप्राय–इस मन्त्र में भी आकर्षण–विद्या है। हे परमेश्वर ! आपकी जो प्रजा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी–अपनी कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं।।२।।

यदा सूर्य्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे।।३।।

–ऋ० अ० ६ । अ० ९। व० ६। मं० ५

भाष्यम्–(यदा सूर्य०) अभिप्रायः–अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि। (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद् यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ।।३।।

भाषार्थ–(यदा सूर्य०) अभिप्राय–इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्यादि लोकों को आपने रचा, और आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, और आप अपने

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से ही सूर्य, चन्द्रमा और पृथिवी के पारस्परिक आकर्षण–बल का पता चला। उसी से पृथिवी व चन्द्रमा पर पदार्थों के तुलनात्मक भार का रहस्य समझ में आया। चन्द्रमा पर मनुष्य का भार पृथिवी पर मनुष्य के भार का $\frac{1}{6}$ होता है, क्योंकि पृथिवी की अपेक्षा चन्द्रमा के छोटा होने से उसकी आकर्षण–शक्ति कम है।

इस सिद्धान्त का व्यापक उपयोग वैज्ञानिक गणना में किया गया। उससे पता चला कि ब्रह्माण्ड के सभी पिण्ड एक–दूसरे को अपनी–अपनी गुरुत्वाकर्षण–शक्ति द्वारा आकर्षित करते हैं। इसी से

अनन्त सामर्थ्य से उनका धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है।।३।।

व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो
अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्
वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम्।।४।।

–ऋ० अ० ४ । अ० ५। व० १०। मं० ३

भाष्यम्–(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्रायः–परमेश्वरसूर्य-लोकौ सर्वांल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति।

हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात् स्तम्भितवानस्ति। अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति। अद्भुत-आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत् तिरोहितं निवारितं तमः करोति। वावत् तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत्। विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव? चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतम्? वृष्ण्यं वीर्यवद् विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति। सूर्य्यादेर्-धारणमीश्वरः करोतीति।।४।।

सभी लोक अपनी-अपनी कक्षाओं में चलायमान हैं।

ऋषि के अनुसार विभिन्न ग्रहों-उपग्रहों में जितनी-जितनी आकर्षण-शक्ति है, वह सब ईश्वरप्रदत्त है। उसी के शासन में सब नियमित रूप से गति कर रहे हैं।

भाषार्थ–(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्राय–इस मन्त्र में भी आकर्षण-विचार है। हे परमेश्वर ! आपके प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने-अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं, तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इससे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है, और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है।।४।।

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।५।।

–य० अ० ३४ । मं० ३१

भाष्यम्-(आकृष्णेन०) अभिप्रायः–अत्रप्याकर्षण-विद्यास्तीति। सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति। कथंभूतेन गुणेन? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन? रमणानन्दादिव्यवहार-साधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् सन्? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन् व्यवस्थापयन् सन्। तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षम्, ओषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन् सन् सूर्य्यो वर्त्तमानोऽस्ति । स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि

अपने यजुर्भाष्य में 'आकृष्णेन रजसा' इत्यादि मन्त्र के भावार्थ में ऋषि ने लिखा है–

"हे मनुष्यो ! जैसे इन भूगोलादि लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण है जो वृष्टि द्वारा अमृतरूप जल को वर्षाता और जो मूर्त्त द्रव्यों को दिखानेवाला है, वैसे ही सूर्य आदि लोक भी ईश्वर के

सर्वान् लोकान् धारयति। तथा पश्यन् दर्शयन् सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः।[१]

अस्मात् पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभि[२]रिति पदानुवर्त्तनात् सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात् सर्वाँल्लोकान् प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते। एवं सर्वेषु

आकर्षण से धारण किये हुए हैं—ऐसा जानना चाहिए।"[३]

'ज्योती रज उच्यते' तद्धि अनुरञ्जयति द्रव्याणि स्वेन प्रकाशेन। —दुर्ग, निरुक्त ४।१९

'वैश्वानर' अग्नि, सूर्य तथा परमेश्वर अर्थ में प्रयुक्त होता है।

---

१. ऋषि ने इस मन्त्र का दो प्रकार का अर्थ (जो प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध है) अहमदाबाद में पण्डितों के शास्त्रार्थ में हस्ताक्षर-सहित लिखकर दिया था। वह इस प्रकार है—

(आकृष्णेन) आकर्षणात्मना (रजसा) रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा (रथेन) रमणीयेन (देवः) द्योतनात्मकः (सविता) प्रसवकर्त्ता वृष्ट्यादेः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकम् (अमृतम्) ओषध्यादिकं रसं (निवेशयन्) प्रवेशयन् (भुवनानि पश्यन्) दर्शयन् याति रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन।

(सविता) सर्वस्य जगत् उत्पादकः (देवः) सर्वस्य प्रकाशकः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (अमृतम्) सत्योपदेशरूपम् (निवेशयन्) प्रवेशयन् सर्वाणि (भुवनानि) सर्वज्ञतया (पश्यन्) सन् (आकृष्णेन) सर्वस्याकर्षणस्वरूपेण वर्तमानः सन् (याति) धर्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः।। दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः।

संवत् १९३१ पौषबदि षष्ठी बुधवार ७ काल ४० मिनट सही सम्मतिरत्र दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः।

(पं० देवेन्द्रनाथ संकलित म० द० स० का जीवनचरित, भाग १, पृष्ट ३२३ प्र० सं०) यहाँ 'पौष बदि ६ बुधवार' तिथि गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है। उत्तरभारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार माघ बदि ६ जानना चाहिए। उस दिन अंग्रेजी तारीख २७ जनवरी १८७५ थी।

२. यजु० ३४।३०

३. Francis Thompson wrote as follows—

All things by Immortal Power,
Near or Far,
Hiddenly
To each other linked are,
That thou canst not stir a flower
Without troubling of a star.

लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव। तथानन्ता-कर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम्। रजो लोकानां नामास्ति। अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः–

'लोका रजांस्युच्यन्ते ॥' –निरु० अ०४ । खं० १९

'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रम-माणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा, रसतेर्वा॥'–निरु०अ०९।खं०११

'विश्वानरस्यादित्यस्य।'–निरु० अ० १२। खं० २१

अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते। इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम्॥५॥

॥ इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

भाषार्थ–(आकृष्णेन०) अभिप्राय–इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है। सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्यलोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं। सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित 'रथेन' आनन्दपूर्वक क्रीडा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं। इसमें परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्यलोक में प्रवेश करता, और सब लोकों को व्यवस्था से अपने-अपने स्थान में रखता है। वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता, और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य-असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सबको जानता है। तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है।

इस मन्त्र से पहले मन्त्र में '**द्युभिरक्तुभिः**' इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन-रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का, और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना-अपना आकर्षण है, और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहाँ लोकों का नाम 'रज' है। और 'रथ' शब्द के अनेक अर्थ हैं, इस कारण से कि जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको 'रथ' कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है, सो देख लेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करनेवाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं॥५॥ इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः। □ □

प्रकाश का केन्द्र

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः-

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥

—अथर्व० कां० १४ । अनु० १। मं० १-२

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥३॥
सूर्य्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४॥

—य० अ० २३। मं० ९-१०

भाष्यम्—(सत्येनो०) एषामभिप्रायः—अत्र चन्द्र-पृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति।

सूर्य एक तारा है। तारों में अपनी ऊर्जा के स्रोत हैं। यह ऊर्जा हाइड्रोजन आदि के परमाणुओं के निरन्तर संयोग तथा विघटन की क्रियाओं द्वारा सूर्य के अन्दर पैदा हो रही है, अतः सूर्य स्वतः प्रकाशमान है। ग्रहों-उपग्रहों में अपनी ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है, अतः वे परतः प्रकाशमान हैं। सूर्य का प्रकाश इन पर परिक्षिप्त होकर इन्हें प्रकाशित करके दृश्य बनाता है। हमारी पृथिवी और चन्द्रमा में सूर्य का ही प्रकाश है। जो ग्रह-उपग्रह सूर्य के जितना निकट होगा वह उतना ही गरम और जो जितना अधिक दूर होगा वह उतना ही अधिक ठण्डा होगा। रात्रि में जब सूर्य की किरणें चन्द्रमा से टकराकर पृथिवी की ओर परावर्तित होकर अर्थात् उलटकर आती हैं तो उनकी गरमी काफी कम हो जाती है, इसलिए रात्रि में चन्द्रमा का प्रकाश शीतल अनुभव

इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्व-माकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च। (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः। (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति। (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रितः सन् प्रकाशितो भवति। अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति, सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम्॥१॥

(सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात्। तद्यथा, यावति अन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति। तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात् तदभावे चोष्णत्वाभावात् ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति। अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन् वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥२॥

(कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति? कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति? कः पुनः प्रकाशितो

होता है। इसी शीतल प्रकाश और वायु से बहुत-सी ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं—**'सोमऽओषधीनामधिपतिः'**।

पृथिवी एक दीर्घ-वृत्ताकार मार्ग में सूर्य की परिक्रमा करती है जो एक वर्ष में पूरी होती है। परिक्रमा-पथ के दीर्घ वृत्ताकार होने के कारण यह एक बार सूर्य के निकट आ जाती है और ठीक आधी परिक्रमा के बाद सूर्य से दूर चली जाती है। सूर्य के चारों ओर पृथिवी की परिक्रमा के कारण ही ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं का आवर्त्तमान चक्र बनता है। पृथिवी के अपनी कीली पर घूमने के कारण ही दिन-रात बनते हैं। पृथिवी के जिस भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है वहाँ दिन, और जहाँ नहीं पड़ता है वहाँ रात होती है। पृथिवी की कीली की दिशा सदा उत्तर-दक्षिण रहती है। परन्तु यह धुरी परिक्रमापथ पर लम्बवत् न रहकर २३½° झुकी

जायते? हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति? तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः॥३॥

एषां क्रमेणोत्तराणि (सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन् संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान् सर्वान् लोकान् प्रकाशयति। तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति। भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति॥४॥

वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति॥

भाषार्थ-(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं-एक तो प्रकाश करने वाले, और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं।

अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत अर्थात् काल ने बारह महीने, सूर्य-किरण ने और वायु ने भी यथायोग्य सूक्ष्म-स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में आश्रित होकर

रहती है। इस झुकाव के कारण उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्ध के किसी स्थान पर पृथिवी की कक्षागत स्थिति के अनुसार दिन-रात के मानों में अन्तर पड़ता है। दोनों ध्रुवों पर छह महीने तक सूर्य निरन्तर दृश्य और छह महीने तक अदृश्य रहता है।

पृथिवी के पथ में इसकी धुरी के झुकाव के कारण विभिन्न देशों में सूर्य के प्रकाश की मात्रा न्यूनाधिक होती है। इसी से वर्ष के अन्तर्गत एक ऋतुचक्र पूरा होता है। जिस-जिस देश में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं उस-उस देश में गरमी कम होती है। जहाँ पर सूर्य का प्रकाश कम होता है, वहाँ शीत के अधिक होने से पानी की अपेक्षा बर्फ की वर्षा होती है और इस प्रकार पृथिवी के कुछ भागों में बर्फ़ के पहाड़ बन जाते हैं। फिर, जब वहाँ सूर्य की तेज़ किरणें पड़ती हैं तो वे पिघलकर नदियों का रूप धारण कर लेते

चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है। और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ।।१।।

(सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ होके, उससे उलटकर भूमि को प्राप्त होके बलवाली होती हैं, तभी वे शीतल भी होती हैं क्योंकि आकाश के जिस-जिस देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस-उस देश में शीत भी अधिक होता है; जिस-जिस देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है, उस-उस देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उनको जमने से पुष्टि होती है। और जब उनके बीच में सूर्य की तेजरूप किरण पड़ती है, तब उनमें से भाप उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है, और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिए ईश्वर ने नक्षत्र-लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है।।२।।

(कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उनके बीच में से

हैं। इस प्रकार पृथिवी जल से पुष्ट होती है। कभी-कभी इस प्रकार की स्थिति आती है जब सूर्य और पृथिवी के बीच चन्द्रमा आ जाता है। उस अवस्था में सूर्य चन्द्रमा के पीछे छिप जाता है और सूर्य का कुछ भाग पृथिवी पर दिखाई नहीं देता। इसी को सूर्यग्रहण कहते हैं। इसी प्रकार जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच पृथिवी आ जाती है तो सूर्य की किरणें चन्द्रमा तक न पहुँच सकने के कारण चन्द्रमा दिखाई नहीं देता। इसे चन्द्रग्रहण कहते हैं। इस प्रकार पृथिवी और चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

परन्तु सूर्य में जो प्रकाश है, वह परमेश्वर का दिया हुआ है–'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' –कठ० ५।१५

पहिला (प्रश्न)—कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता है और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? (दूसरा)—कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? (तीसरा)—शीत का औषध क्या है? और (चौथा)—कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है।।३।।

इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं—(सूर्य एकाकी०) (१) इस संसार में सूर्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है, तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करनेवाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है। (४) और चौथा यह है—पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है।

वेदों में इस विषय के सिद्ध करनेवाले मन्त्र बहुत हैं। उनमें से यहाँ एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जाएँगे।।४।।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।।
एतद्वै तत्।। —कठ० ४।९

जिस शक्ति से सूर्य उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, जिसमें सारे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारादि देव आश्रित हैं, उसके नियमों का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता—यही वह ब्रह्म है।

□□

यातायात

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥१॥
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः[१]॥२॥

—ऋ० अ० १। अ० ८। व० ८। मं० ३,४

भाष्यम्—[१]एषामभिप्रायः—[१]तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयते इति।

(तुग्रो ह) 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु' अस्माद् धातोरौणादिके 'रक्' प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते। यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत्, स (रयिम्) धनं कामयमानो, (भुज्युम्) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात्। स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठलोहादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादि-

---

यह निश्चित है कि ग्रन्थकार के समय तक आधुनिक विज्ञान हवाई जहाज का आविष्कार नहीं कर पाया था। ऋषि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन सन् १८७६ (संवत् १९३३) में किया था।[२] परन्तु हवाई जहाज की प्रथम उड़ान उसके २७ वर्ष बाद

---

१. 'एषाम् इति बहुत्वमस्मिन् प्रकरणे व्याख्यातान् मन्त्रानपेक्ष्य प्रयुक्तम्, न पूर्वनिर्दिष्टौ द्वावेव मन्त्रावभिप्रेत्य, अतएव 'तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु' इत्यत्रापि बहुवचनमुक्तम्।

२. पूना नगर में १३ जुलाई १८७५ को दिये गए अपने भाषण में ऋषि ने कहा था—"पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्याएँ भारतखण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं, जैसे विमानविद्या, अस्त्रविद्या आदि। जो लोग लड़ाइयाँ लड़ते थे, उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी विमान-रचना का एक पुस्तक देखा है।"

प्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेद् आगमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् (न कश्चित् ममृवान्) योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः ? तस्य कृतपुरुषार्थत्वात्। अतो नावम् (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्य्यात्। कौ साधयित्वा ? (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवी-मयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया। अश्विनौ युवाभ्यां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः। पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः। कथम्भूतैर्यानैः—(नौभिः) समुद्रे गमनागमन-हेतुरूपाभिः, (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः, स्वात्मीय-स्थिताभिर्वा। राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः। तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि। एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्य्यं सम्यक् प्रापणीयम्। पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः—(अपोदकाभिः)

---

१७ दिसम्बर सन् १९०३ को ऑरविल राइट नामक अमरीकी ने की थी। वह भी केवल १२ सेकण्ड की उड़ान थी। फिर उसी दिन उसके भाई विल्वर राइट ने ५९ सेकण्ड की उड़ान ली थी। पहला सफल हैलीकॉप्टर अमेरिका में आइगर सिकोरस्की नामक वैज्ञानिक ने सन् १९३७ में बनाया। आजकल के समान सुविधाजनक हवाईयात्रा तो उसके भी बहुत समय बाद सम्भव हो सकी। अतः इस प्रकरण में जो कुछ कहा गया है वह विशुद्ध रूप से वेदों के आधार से ही है। ऐसा नहीं है कि आधुनिक वैज्ञानिकों का विमान आदि का

यह कौन-सा पुस्तक था, इस पर कहीं से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। रामायण-महाभारत में और अन्य संस्कृत-ग्रन्थों में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के 'समराङ्गण सूत्रधार ग्रन्थ' (११ शती) में विमान बनाने का संक्षेप में विवरण मिलता है। अभी कुछ वर्ष हुए, स्वामी ब्रह्ममुनि जी की खोज से एक अतिप्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भारद्वाजकृत विमान-शास्त्र प्रकाश में आया है।

अपगतं दूरीकृतं उदकं[१] जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सच्चिक्कनास्ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्। तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तिरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति। अत्र प्रमाणम्–

आविष्कार देखकर बलात् वेदों से उन आविष्कारों को निकालने का प्रयास किया गया हो।

'नौविमानादि' में 'नौ' से पानी की सतह पर चलनेवाले या पानी में डूबकर चलनेवाले जलपोत, पनडुब्बी आदि अभिप्रेत हैं, 'विमान' से तरह-तरह के व्योमयान या हवाई जहाज अभीष्ट हैं और 'आदि' पद से भूमि पर चलनेवाले विविध यान रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, सामान ढोनेवाले ट्रक, बुलडोज़र, ट्रैक्टर आदि गृहीत होते हैं जो यात्रा, युद्ध, कृषि आदि में काम आते हैं । इसके अतिरिक्त 'आदि' पद में कारखानों में प्रयुक्त होनेवाले क्रेन, विविध इंजन तथा अन्य अनेक प्रकार के यन्त्र भी समाविष्ट हैं, जो तेल, पेट्रोल, पानी की भाप. गैस, बिजली, सूर्यताप आदि से चलते हैं । वेदों में नौविमानादि की विद्या है यह सिद्ध करने के लिए इस प्रकरण में ऋषि ने ११ मन्त्र दिये हैं ।

इस प्रकरण में जो मन्त्र दिये गए हैं, वे सब ऋग्वेद से लिये हैं।[२]

१. जलपोतों और विमानों से यात्रा

ऋषिः कक्षीवान् । देवता अश्विनौ । छन्दः त्रिष्टुप्

इस मन्त्र में तुग्र और भुज्यु शब्द आए हैं । उनके आधार

---

१. उदकमभिप्रेत्य 'दूरीकृतम्' इति नपुंस्कत्वं द्रष्टव्यम् ।

२. मन्त्रों का जो संस्कृत-भाष्य और आर्यभाषा-भाष्य है, वे दोनों पूर्णतः आपस में मिलते नहीं हैं । यहाँ अधिकतर संस्कृत-भाग के अनुसार अर्थ दिये हैं, कहीं-कहीं आर्यभाषा-भाग से भी सहायता लेनी आवश्यक हुई है । प्रथम पदार्थ शीर्षक से संस्कृतानुसारी अर्थ दिया है । फिर भावार्थ शीर्षक से कहीं आर्यभाषा के अनुसार तथा कहीं संस्कृत और आर्यभाषा दोनों से अभिप्राय लेकर भाव दे दिया है । वस्तुतः संस्कृत-भाग और आर्यभाषा-भाग दोनों में से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है तथा वे एक-दूसरे के पूरक हैं ।

अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः । तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ —नि० अ० १२। खं० १

तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव, रत्ने सामुद्रे ॥

—नि० अ० १३। खं० ५

एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥१॥

(तिस्रः क्षपास्त्रिरहा०) कथंभूतैर्नावादिभिः—तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (अतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः। पुनः कथम्भूतैः—(पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभी रथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत् तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः । तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम्[१]। अत एवोक्तं 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ'[२] । तानि यानानि (ऊहथुः)

पर सायण ने अपने भाष्य में यह आख्यायिका दी है—तुग्र नाम का अश्वी देवों का प्रिय कोई राजर्षि था । दूसरे द्वीप के निवासी शत्रुओं से जब वह बहुत तंग हो गया, तब उसने उन्हें जीतने के लिए अपने पुत्र भुज्यु को सेना के साथ नौका द्वारा भेजा । वह नौका समुद्र के बीच में दूर बह गई और वायु के थपेड़ों से टूट-फूट गई । तब भुज्यु ने शीघ्र ही दोनों अश्वी देवों की स्तुति की । स्तुति किये हुए उन अश्वी देवों ने सेनासहित उस भुज्यु को अपनी नौकाओं में चढ़ाकर उसके पिता तुग्र के पास तीन ही दिन-रातों में पहुँचा दिया।

---

१. 'नासत्यौ चाश्विनौ' इत्याह यास्कः। —निरुक्त० ६।१३

२. नासत्याश्विशब्दयोः समानार्थत्वाद् 'अश्विनौ' इत्यस्य व्याख्याने तत्कावश्विनौ ? 'द्यावापृथिव्यावित्येके' (नि० १३।१) इति निर्देशाद् इह 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ' इत्युक्तम्।

इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात्। अत्र प्रमाणम्–

व्यत्ययो बहुलम् ॥

—अष्टाध्याय्याम् अ० ३ । पा० १, सू० ८५

अत्राह—महाभाष्यकारः—

सायण का कथन है कि इसी घटना को इस तथा इसके बाद के दो मन्त्रों में प्रतिपादित किया गया है ।

वेद क्योंकि सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा ऋषियों के हृदय में प्रकट किये गए थे, अतः उनमें बाद में घटित किसी घटना या इतिहास का वर्णन नहीं हो सकता । इस कारण तुग्र, भुज्य आदि शब्दों को यौगिक मानकर ही अर्थ करना चाहिए ।

तुग्र शब्द **'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु'** धातु से औणादिक रक्[1] प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । 'तुज' धातु के उक्त धातुपाठ के अनुसार चार अर्थ होते हैं– १. हिंसा करना, २. बलवान् होना, ३. ग्रहण करना, और ४. किसी स्थान पर पहुँचकर वहाँ निवास करना। अतः जो बली होकर, शत्रु की हिंसा करके विजय, धन आदि को ग्रहण करता है और उत्तमोत्तम यानों के द्वारा स्थानान्तर में पहुँच व्यापार आदि द्वारा सुखी होना चाहता है, वह मनुष्य तुग्र है । अथवा चारों अर्थों में से किसी एक, दो या तीन अर्थों को चरितार्थ करनेवाला व्यक्ति भी तुग्र कहला सकता है।[2]

पालन तथा भोगने अर्थवाली **'भुज पालनाभ्यवहारयोः'** धातु से युक्[3] प्रत्यय होकर भुज्यु शब्द बनता है । उन धनादि पदार्थों का भोज भुज्यु है, जिनसे मनुष्य का पालन होता है । तदनुसार ही प्रस्तुत प्रकरण के संस्कृत-भाग में भुज्यु का अर्थ **'भुज्युम् पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगम्'** तथा आर्यभाषा-भाग में

---

१. रक् प्रत्यय विधायक उणादि सूत्र 'स्फायितञ्चिवञ्च०', उ० २।१३ आदि में तुज् धातु का पाठ न होने पर भी बहुवचन से इस सूत्र द्वारा तुज धातु से रक् प्रत्यय होता है ।

२. अपने वेदभाष्य में ऋषि ने विभिन्न मन्त्रों में तुज् के निम्न अर्थ किये हैं–शत्रुहिंसक सेनापति (ऋ० ६।२०।८); बल (ऋ० १।११७।१४); ग्रहणकर्त्ता (ऋ० ६।२०।८); तेजस्वी (ऋ० ६।२६।४); बलिष्ठ (ऋ० ६।६२।६)

३. 'भुजिमृड्भ्यां युक्त्युकौ' उ० ३।२१ से उणादि युक्प्रत्यय ।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहतः, छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अष्टा० ३।४।६ इत्यत्र सामान्यकाले लिङ्विधानाद् ऊहथुरित्युक्तम्। तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः। एवं कुर्वन्तो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति॥२॥

भाषार्थ—अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिए यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है—

(तुग्रो ह०) 'तुजि' धातु से 'रक्' प्रत्यय करने से तुग्र शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करनेवाला और स्थानवाला है, क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ[1] में वर्त्तमान हैं।

'जिनसे पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और विजय' लिखा है।[2]

'अश्विनौ' के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क का वचन है—

"अथातो द्युस्थाना देवताः। तासाम् अश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः। अश्वैरश्विनौ इति और्णवाभः। तत् कौ अश्विनौ? द्यावापृथिव्यौ इत्येके, अहोरात्रौ इत्येके, सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके।"

—निरु० अ० १२। खं०१

---

१. संस्कृत में 'काष्ठलोहादिभिः' पाठ है। लोह शब्द संस्कृत में धातुमात्र के लिए व्यवहृत होता है। सम्भव है इसी कारण अनुवादक ने 'सोना-चाँदी' आदि का भी भाषा में निर्देश किया है। सोना-चाँदी बहुमूल्य धातु होने से उनकी या उनके योग से नौका बनाना सम्भव नहीं, अतः ये दो पद उचित प्रतीत नहीं होते।

२. भुज्यु का अर्थ भोक्ता तथा जिसमें भोजन किया जाए वह पात्र भी होता है। द्रष्टव्य—उणादिकोष में उक्त सूत्र की ऋषिकृत व्याख्या—'यो भुनक्ति यत्र वा स भुज्युः पात्रं वा'। ऋषि के वेदभाष्य में भुज्यु के निम्न अर्थ मिलते हैं—सुख का भोक्ता या पालक (ऋ० १।११२।२०); राज्य का पालक वा सुख का भोक्ता (ऋ० १।११६।३); भोगसमूह (ऋ० १।११६।५); शरीर और आत्मा का पालनकर्ता पदार्थसमूह (ऋ० १।११७।१४); भोग के योग्य (ऋ० १।११९।४); भोक्ता (ऋ० ४।२७।४); भोगने योग्य आनन्द (ऋ० ६।६२।६)।

जो शत्रु को हनन करके अपने विजय, बल और धनादि पदार्थ और जिस-जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे, उन सभी का नाम 'तुग्र' है। (रयिम्) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है उसका जिनसे पालन और भोग होता है, उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे। (अश्विना) जो कोई सोना, चाँदी,[१] तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रचके, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि

अर्थात् द्युस्थानीय देवताओं में 'अश्विनौ' सर्वप्रथम परिगणित हैं। 'अश्विनौ' शब्द व्याप्त्यर्थक अशूङ् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'व्याप्त करनेवाले'। अश्विनौ दो हैं, जिनमें से एक सबको रस से व्याप्त करता है और दूसरा ज्योति से।

आगे निरुक्तकार ने लिखा है कि और्णवाभ आचार्य के मतानुसार 'अश्विनौ' अश्व[२] शब्द से बना है, अतः इसका अर्थ है 'अश्वों से युक्त'। ऋषि 'अश्व' का अर्थ 'वेगादि गुण' करते हैं।

आगे निरुक्तकार कहते हैं—तो यह 'अश्विनौ' कौन हैं? कुछ का मत है कि [३]द्यावापृथिवी अश्वियुगल हैं, कुछ का मत है कि दिन-रात अश्वियुगल हैं, कुछ का मत है कि सूर्य-चन्द्रमा अश्वियुगल हैं। ऋषि ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है।

'उदन्यजेव' आदि की व्याख्या में लिखा—"वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है।"

इस प्रकार ऋषि के मत में शिल्पविद्या के क्षेत्र में 'अश्विनौ' से अग्नि-पृथिवी, अग्नि-जल, अग्नि-वायु, विद्युत्-वायु, सूर्य-वायु आदि युगल गृहीत होते हैं। अपने वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने शिल्पवेत्ता स्त्री-पुरुषों या अध्यापक-उपदेशकों को भी अश्वी माना है।[४]

---

१. अर्थात् यौगिक धात्वर्थ-प्रधान अर्थ।

२. अश्व शब्द से मतुबर्थ में इन् प्रत्यय करने से अश्विन् बनता है, उससे प्रथमा के द्विवचन में अश्विनौ।

३. द्यौ का यौगिक अर्थ होता है दीप्तिमान्। अतः यहाँ द्यौ से अग्नि-ज्वालाओं का ग्रहण किया है।

४. यथा-(अश्विनौ) शिल्पविदौ दम्पती। —ऋ० १।११८।१
शिल्पविद्याविदौ अध्यापकोदेशकौ। —ऋ० ३।५८।५

का यथावत् प्रयोग कर, और पदार्थों को भरके, व्यापार के लिए (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहा:) आवे-जावे, तो उनके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा-सहित होकर दु:ख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किनको सिद्ध करने से होते हैं—अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से प्रसिद्ध हैं, वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि पर चलनेवाली सवारियों का (ऊहथु:) जाना-आना जिन पदार्थों से देश-देशान्तर में सुख से होता है। यहाँ पुरुषव्यत्यय से 'ऊहतु:' इसके स्थान में 'ऊहथु:' ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस-किस प्रकार की सवारी सिद्ध होती है, सो लिखते हैं—(नौभि:) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने-आने के लिए अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं,

---

इस प्रकार तुग्र, भुज्यु और अश्विनी का अर्थ देखने के पश्चात् मन्त्रार्थ स्पष्ट हो जाता है।

पदार्थ—(तुग्र:) जो शत्रु को हनन करके विजय, बल और धनादि पदार्थ को तथा स्थानों पर यानों द्वारा आवागमन करके सुख को ग्रहण करना चाहे वह (रयिम्) धन के, और (भुज्युम्) उसका जिनसे पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति, भोग और विजय को चाहता हुआ पदार्थविद्या के द्वारा अपनी अभिलाषा को पूर्ण करे। और वह (अश्विना)[१] पृथिवी के विकार काष्ठ, लोहा आदि पदार्थों से नाव को रचकर उसमें अग्नि, जल आदि का प्रयोग करके (उदमेघे)[२] समुद्र में (अवाहा:) जावे-आवे अर्थात् द्वीपान्तर में जाने के लिए नौका का ले-जाना, लाना परम प्रयत्न से नित्य

---

१. यहाँ 'अश्विना' तृतीया विभक्ति द्विवचन का रूप ऋषि को अभीष्ट है। 'अश्विभ्याम्' के स्थान पर 'सुपां सुलुक्' अ० ७।१।३९ सूत्र से भ्याम् को आ आदेश होकर 'अश्विना' बना है।

२. यस्य उदकैर्मिह्यते सिच्यते जगत् तस्मिन् समुद्रे।
—ऋग्भाष्य १।११६।३

(आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चलाके जाते-आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें-आवें तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने-आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है। तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहिए, जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें-फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहले कह आए और जो आगे कहेंगे, उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना। उसका अर्थ यह है–

किया करे। ऐसा करने पर (न कश्चित् ममृवान्) कोई भी योग-क्षेम से रहित होकर मरण को कभी प्राप्त नहीं होता। क्यों? क्योंकि वह पुरुषार्थी होता है। इस प्रकार सिद्ध किये हुए (अश्विना)[1] द्योतनात्मक अग्नि तथा पृथिवी के विकार लोहा, तांबा, सोना, चाँदी, काष्ठ आदि रूप दोनों[2] अश्वी (ऊहथुः[3]) सुख से देशान्तर में पहुँचा देते हैं। कैसे यानों से? (नौभिः) समुद्र में गमनागमन की हेतुभूत नौकाओं

---

१. मन्त्र में 'अश्विना' पद एक बार ही आया है। ऋषि ने मन्त्रार्थ में उसे दो बार प्रयुक्त किया है, एक बार तृतीया-द्विवचन के रूप में, दूसरी बार प्रथमा-द्विवचन के रूप में। संस्कृत में अर्थयोजना में किसी पद को एकाधिक बार लिया जा सकता है।

२. एक अग्नि और दूसरा पार्थिव विकार–इस प्रकार दो अश्वी होते हैं। सोना, चाँदी, लोहा, तांबा आदि धातुओं को इकट्ठा पिघलाकर उससे जो मिश्रित पदार्थ तैयार होगा, उससे यान बनाने का तात्पर्य यहाँ प्रतीत होता है। जैसे धातुओं के मिश्रण से तैयार की हुई कुतुब की लाट आँधी, वर्षा, धूप आदि में खुली खड़ी रहती है, फिर भी वह विकृत नहीं होती, ऐसे ही अनेक धातुओं का विविध अनुपातों में मिश्रण करके उस मिश्रित पदार्थ से यान और अन्य कलाएँ बनाई जाएँ तो उन पर वायु, पानी, ताप आदि का प्रतिकूल प्रभाव नहीं होगा। धातुओं के मँहगे-सस्ते होने का ध्यान रखकर किस यान और किस यन्त्र के लिए किन-किन धातुओं को किस अनुपात में डाला जाए इसका अनुसन्धान करना वैज्ञानिकों का कार्य है। किसी-किसी उपकरण को बनाने में किसी एक ही धातु का प्रयोग भी हो सकता है।

३. 'ऊहतुः' के स्थान पर व्यत्यय से 'ऊहथुः' है। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' अ० ३।४।६ से वर्तमान अर्थ में लिट् प्रयुक्त हुआ है।

(अथातो द्युस्थाना दे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत्-रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। 'अश्वैः' अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो, वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्णवाभ आचार्य का मत है। तथा कई-एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई-एक विद्वानों का ऐसा मत है कि 'अहोरात्रौ' अर्थात् दिन-रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इनसे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते

से। कैसी नौकाओं से? (आत्मन्वतीभिः[१]) जो सुदृढ़ होने से स्वयं स्थित हैं अथवा जिनमें आत्मीय जन स्थित हैं। अभिप्राय यह है कि राजपुरुषों को और व्यापारियों को व्यवहार के लिए समुद्र-मार्ग से उन नौकाओं का गमनागमन नित्य कराना चाहिए तथा उक्त प्रयत्नों से बहुत-से अन्य भी विमान आदि यानों को सिद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार (अन्तरिक्षप्रुद्भिः)[२] अन्तरिक्ष में चलनेवाले सिद्ध किये हुए विमान नामक यानों से सब मनुष्यों को परम ऐश्वर्य भली-भाँति प्राप्त करना चाहिए। पुनः कैसी नौकाओं से? (अपोदकाभिः[३]) जिन

---

१. (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयस्थिताभिर्वा (संस्कृतभाष्य)। प्रशस्ता आत्मन्यन्तो विचारवन्तः क्रियाकुशलाः पुरुषा विद्यन्ते।

२. अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः (संस्कृतभाष्य)। अन्तरिक्षे आकाशे प्रवन्ते गच्छन्ति याः ताभिः। प्रूङ् गतौ, भ्वादि। यह भी 'नौभिः' का ही विशेषण है। अन्तरिक्षगामी विमानों को भी नौका ही कहा गया है। इससे यह सूचित होता है कि विमान भी नौका की आकृति के ही बनाए जाएँ। आजकल भी इसी आकृति के बनते हैं। आकाशविहारी पक्षियों की भी नौका जैसी आकृति होती है। इससे उड़ान में सुविधा होती है।

३. (अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतम् उदकं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सचिक्कनाः ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च। (संस्कृतभाष्य)। वाटरप्रूफ। इससे पनडुब्बी यान बनाने का भी संकेत मिलता है।

हैं, इसी प्रकार कई-एक शिल्पविद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि 'सूर्य्याचन्द्रमसौ' सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं, क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-वियोग, वृद्धि-क्षय, आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा 'जर्भरी' और 'तुर्फरीतू' ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। जर्भरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करनेवाले और तुर्फरीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण, पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार

पर जल का लेप न हो सके अर्थात् जो चिकनी हों और जिनके अन्दर जल प्रवेश न कर सके, जल से न गलें और न जल्दी टूटे-फूटें।

भावार्थ-जो कोई सोना, चाँदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रचके उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग और पदार्थों को भरके व्यापार के लिए समुद्र और नदी आदि में आवे-जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। मनुष्यों को चाहिए कि भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान इन त्रिविध यानों को रचकर भूमि, जल और आकाश में यथावत् गमनागमन किया करें।

२. अतिवेगगामी त्रिविध यान

ऋषिः-कक्षीवान्। **देवता**-अश्विनौ। **छन्दः**-त्रिष्टुप्।

इस मन्त्र में भूमि, आकाश और समुद्र में चलनेवाले, छह यन्त्रकलाओं वाले अतिवेगगामी यानों का वर्णन है।

पदार्थ-(नासत्या[१]) जो पूर्वोक्त अग्नि, वायु, जल, विद्युत् आदि अश्वी हैं वे (भुज्युम्) अनेक प्रकार के भोगों को (ऊहथुः)

---

१. नासत्यौ च अश्विनौ। सत्यावेव नासत्यौ इत्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेतारौ इत्याग्रायणः-(निरु० ६।१३)। निरुक्त के इस प्रमाण से अश्वियुगल ही 'नासत्यौ' कहलाते हैं।

की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। 'उदन्यजे' अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है।।१।।

(तिस्रः क्षपस्त्रि०)–(नासत्या०) जो पूर्वोक्त अश्वि कह आए हैं, वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि जिनके वेग से तीन दिन-रात में (समुद्र०) सागर, (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका, विमान और रथ के द्वारा (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं। (त्रिभी

प्राप्त कराते हैं। कैसे यानों से ? जो (आर्द्रस्य समुद्रस्य) जल से पूर्ण समुद्र के तथा (धन्वन्)[1] भूमि और आकाश के (पारे) पार (तिस्रः क्षपः) तीन रात्रि और (त्रिः अहा) तीन दिन लगातार (अति व्रजद्भिः) अत्यन्त वेग से जानेवाले हैं, (पतङ्गैः)[2]) जो प्रत्येक उड़ान में या प्रत्येक दौड़ में शीघ्र गति करते हैं, (शतपद्भिः[3]) जैसे कोई असंख्यात वेग से पैरों द्वारा दौड़े, वैसे जो अतिवेग से दौड़नेवाले हैं, (षडश्वैः)[4] जिनमें छह अश्व अर्थात् शीघ्र गति के कारणभूत छह यन्त्र लगे हैं अथवा जिनमें अग्नि-प्रयोग के छह घर बने हैं, ऐसे (त्रिभिः रथैः) स्थलयान, जलयान और विमानरूप तीन प्रकार के यानों से ।

---

१. धन्व=अन्तरिक्ष (निघं० १।३)। धन्व अन्तरिक्षं धन्वन्ति अस्मादापः (निरु० ५।५)। इसके अतिरिक्त धन्वन् शब्द मरुस्थल (रेतीला स्थल) और धनुष का वाचक भी होता है। 'समानौ मरुधन्वानौ' (अमरकोष २।१।५)। धनुष अर्थ में वेद और लोक में प्रसिद्ध ही है। यहाँ स्वामी जी ने भूमि (मरु) और अन्तरिक्ष दोनों अर्थ लिये हैं। ऋग्भाष्य में इस मन्त्र के अर्थ में 'धन्वन्' का अर्थ स्वामी जी ने मरुस्थल ही लिया है— "(धन्वन्) धन्वनो बहुसिकतस्य स्थलस्य"। 'धन्वन्=धन्वनः'। 'सुपां सुलुक्'–अ० ७।११९ से षष्ठी विभक्ति का लुक् हुआ है।

२. (पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः (संस्कृतभाष्य)।

३. (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत् तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः (संस्कृतभाष्य)। यहाँ 'पदं' का अर्थ पैर अर्थात् यन्त्रकला लेकर यह भाव भी लिया जा सकता है कि जिसमें सौ यन्त्रकलाएँ लगी हैं।

४. (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा तेषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैः (संस्कृतभाष्य)।

रथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिए। तथा (षडश्वैः) छह अश्व, अर्थात् उनमें अग्नि और जल के छह घर बनाने चाहिएँ। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें, तथा (पतङ्गैः) जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है।।२।।

भावार्थ–पार्थिव पदार्थों से त्रिविध यानों को रचकर उनमें अग्नि, वायु, विद्युत् आदि का प्रयोग कर उन्हें भूमि, समुद्र और आकाश में चलाकर अभीष्ट सिद्धि करे। वे यान ऐसे हों कि आवश्यकतानुसार लगातार तीन रात्रि और तीन दिन, चलते रह सकें। उनमें छह प्रमुख कलायन्त्र लगाए जावें, जिनसे गति को तेज़ या धीमा किया जा सके तथा इच्छानुसार यान को चलाया या रोका जा सके। ऐसे यानों से व्यापार आदि के लिए भूमि, समुद्र और आकाश-मार्गों से गमनागमन नित्य किया करे।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि प्रथम तथा द्वितीय दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त 'ऊहथुः' क्रिया मध्यम पुरुष की है तथा लकार लिट् है जो परोक्ष भूतकाल का वाचक होता है। तदनुसार 'अश्विना ऊहथुः' का यह अर्थ किया जाना चाहिए कि 'हे दोनों अश्विदेवो! तुमने (नौकाओं द्वारा) देशान्तर में पहुँचाया था अथवा अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त कराया था।' किन्तु किया गया है यह अर्थ कि 'अश्वी देशान्तर में पहुँचाते हैं अथवा अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त कराते हैं।' इस शंका का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं कि 'ऊहथुः' में पुरुष-व्यत्यय है अर्थात् 'ऊहतुः' के स्थान पर व्यत्यय से 'ऊहथुः' प्रयुक्त हुआ है। प्रमाणस्वरूप वे पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'व्यत्ययो बहुलम्' अ० ३।१।८५ सूत्र पर महाभाष्य की निम्नलिखित कारिका देते हैं–

सुप्-तिङ्-उपग्रह-लिङ्ग-नराणां, काल-हल्-अच्-स्वर-कर्तृ-यङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां, सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।।

इस कारिका[1] में यह बताया गया है कि सूत्रकार ने जो यह

---

१. इस कारिका की सोदाहरण व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के व्याकरण नियम विषय में देखनी चाहिए। वहाँ पुरुष-व्यत्यय का उदाहरण– **अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः**–ऋ० ७।१०४।१५ दिया गया है जिसमें 'स वियूयात्' के स्थान पर पुरुष-व्यत्यय से 'स वियूयाः' प्रयोग है।

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥३॥

कहा है कि वेद में बहुल करके व्यत्यय (उलट-फेर) हो जाया करता है, वह व्यत्यय किन-किन में होता है? इनमें पुरुष (नर) का उल्लेख भी है। तदनुसार प्रस्तुत मन्त्र में 'ऊहतुः' इस प्रथमपुरुष-द्विवचन के स्थान पर व्यत्यय से मध्यमपुरुष-द्विवचन का प्रयोग हुआ है। अतः अर्थ करते हुए 'हे अश्विनौ, युवाम् ऊहथुः' के स्थान पर 'अश्विनौ ऊहतुः' ऐसा समझना चाहिए।

दूसरी शंका यह थी कि भूतवाची लिट् लकार का प्रयोग क्यों किया गया है? इसका उत्तर यह दिया है कि पाणिनि मुनि का सूत्र है **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** अ० ३।४।६, जिसका अर्थ यह है कि भूतकालवाची लुङ्, लङ् और लिट् लकार वेद में वर्तमान आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं। तदनुसार यहाँ लिट् लकार सामान्यकाल में प्रयुक्त हुआ है, अतः यहाँ किसी इतिहास का भ्रम नहीं करना चाहिए।

३. सौ अरित्रोंवाले यान

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्।

इस मन्त्र में सौ अरित्रोंवाले यान की चर्चा है। 'अरित्र' संस्कृत में चप्पुओं को कहते हैं जिनसे नाविक नौका को खेता है। बड़े जहाजों या यानों के वर्णन के प्रसंग में 'अरित्र' उन्हें कहा गया है, जिनसे जहाँ चाहें यानों को रोक सकें। जलीय जहाजों में 'अरित्र' लंगर या पानी की थाह नापनेवाली लोहे की जंजीरें होती हैं। स्थलयानों तथा विमानों में वे ब्रेक या कलें 'अरित्र' कहलाते हैं जिनसे यान आवश्यकतानुसार तुरन्त रोका जा सके तथा यान पतित या क्षतिग्रस्त भी न हो। यानों के अवयवों को दृढ़तापूर्वक परस्पर संयुक्त रखनेवाले बन्धन भी अरित्र कहलाते हैं। उन स्तम्भों को भी अरित्र कहते हैं जिनमें कलायन्त्रों को स्थिर किया जाता है।[१]

---

१. (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लौहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम्। एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम्। तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति (संस्कृतभाष्य)।

पदार्थ–हे मनुष्यो! (अनारम्भणे) जिसमें कोई आलम्बन या सहारा नहीं है, (अनास्थाने) जिसमें बिना यान के कोई ठहर नहीं सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का कोई आलम्ब नहीं मिल सकता, ऐसे (समुद्रे[१]) पृथिवी पर जो जल से पूर्ण समुद्र है उसमें तथा जलवाष्पों से पूर्ण आकाश में (तत्[२]) वे दोनों पूर्वोक्त अश्वी [अर्थात् पार्थिव पदार्थ और अग्नि, विद्युत् आदि तैजस पदार्थ] (अवीरयेथाम्[३]) यानों को चलाने में साधन बनते हैं, (यत्[४]) जो दोनों (अश्विना) अश्वी (शतारित्राम्) जहाँ चाहें वहाँ रोकने के लिए जिनमें सौ कलें लगी हैं, अथवा यानों के अवयवों को आपस में दृढ़ता के साथ संयुक्त रखने के लिए जिनमें सौ बन्धन कसे हैं, अथवा कलों को स्थिर करने के लिए जिनमें सौ खम्भे लगे हैं ऐसे (नावम्) जलयान, भूमियान तथा विमान को (अस्तम्[५]) क्षिप्त करके अर्थात् गति देकर (ऊहथुः[६]) देशान्तर में ले जाते हैं और (तस्थिवांसम्) उनमें रखे हुए (भुज्युम्) भोग्य पदार्थसमूह को (ऊहथुः) प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ–मनुष्यों को चाहिए कि वे सौ कलायन्त्रों, सौ बन्धनों अथवा सौ कलाधार स्तम्भों वाले भूयान, जलयान और विमान रचकर भूमि, समुद्र और आकाश में यात्रा करके अभीष्ट भोग्य पदार्थों को प्राप्त कर सुखी हों।

---

१. समुद्र–पार्थिव समुद्र तथा आकाश दोनों का नाम है। पार्थिव समुद्र के अर्थ में तो यह प्रचलित ही है, निघण्टुकोश में यह अन्तरिक्ष के नामों में भी पठित है (निघं० १।३)। समष्टि रूप में भाप बनकर ऊपर उठकर जहाँ जल पहुँचते हैं उस अन्तरिक्ष को समुद्र कहते हैं–समुद्द्रवन्ति आपो यस्मिन्।

२. ४. तत्=तौ। यत्=यौ। 'सुपां सुलुक्'–अ० ७।१।३९ सूत्र से विभक्ति का लुक् हुआ है।

३. वि-ईर क्षेपे। अवीरयेथाम्=वीरयेते। लट् के स्थान पर 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अ० ३।४।६ से लङ् प्रयुक्त हुआ है तथा व्यत्यय से प्रथम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष है।

५. असु क्षेपणे। क्षिप्तं चालितं यथा स्यात् तथा।

६. ऊहथुः=ऊहतुः=वहतः। पूर्ववत्।

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित् स्वस्ति।
तद्वौ दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥४॥

—ऋ० अष्ट० १। अ० ८। व० ८, ९। मं० ५,१[1]

भाष्यम्—हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्द्रवन्त्यापो यस्मिन्, तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसिद्धयर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति। 'अश्विना ऊहथुर्भुज्यु'मिति पूर्ववद् विज्ञेयम्। तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तम्) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति। कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत्? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम्। एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम्। तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति। तद्यानैः कथम्भूतं (भुज्युम्)

---

४. भापरूप श्वेत घोड़े से चलनेवाला यान

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक् पङ्क्तिः।

इस मन्त्र में यह वर्णन है कि अश्वीदेव यान की तीव्र गति के लिए उसे श्वेत अश्व (सफेद रंग का घोड़ा) प्रदान करते हैं। यान में प्रयुक्त अग्नि और जल ही अश्वी हैं और उनके योग से उत्पन्न होनेवाली भाप ही श्वेत अश्व है।

पदार्थ—(अश्विना) अग्नि और जल संयुक्त होकर (यम्) जिस (श्वेतम् अश्वम्) भापरूप श्वेत अश्व[2] को (अघाश्वाय[3])

---

१. ऋ० १।११६।५

२. 'अश्नुते अध्वानम् इति अश्वः'—मार्ग को तय करने के कारण घोड़ा अश्व कहाता है। इसी कारण जल की भाप को भी 'अश्व' कहा है। भाप को अश्व कहने में रूपकातिशयोक्ति अलंकार भी है।

३. 'अघाश्वाय'—शीघ्रगमनाय (सं० भा०)।—न हन्यते इति अघः स चासौ अश्वः वेगः तस्मै। भाप से ऐसा वेग यान को मिलता है जिसकी हानि नहीं होती अर्थात् जो निरन्तर बना रह सकता है और जितना बढ़ाना चाहें बढ़ सकता है।

भोगं प्राप्नुवन्ति? (तस्थिवांसम्) स्थितिमन्तमित्यर्थः।।३।।

यद्यस्मादेवं भोगो जायते, तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः (यमश्विना) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वम् (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय, शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति। (शश्वत्०) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति। तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति। (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः। तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते, तत् कीदृशम्? (दात्रम्) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम्। कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वन[1] इति 'केन्य' प्रत्ययः। अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकं (भूत्) अभूत् भवतीति। अत्र लङर्थे लुङ् विहित[2] इति वेद्यम्।

शीघ्रवेग के लिए (ददथुः[3]) यानों को प्रदान करते हैं, वह (शश्वत् इत्) निरन्तर ही (स्वस्ति) सुखदायक होता है। (वाम्[4]) उन दोनों अग्नि-जलरूप अश्वियों का (दात्रम्) दानयोग्य तथा सुखकारी होने से पोषक (महि) महागुणयुक्त (तत्) यान को गति देने के लिए वाष्प-रूप सफेद घोड़े को देनारूप वह कर्म (कीर्तेन्यम्[5]) अत्यन्त प्रशंसा के योग्य, अन्यों के लिए श्रेष्ठ उपकारक (भूत्[6]) होता है।

---

१. अष्टा० ३।४।१४

२. द्र० अष्टा० ३।४।६

३. ददथुः=ददतुः पुरुष-व्यत्यय।

४. वाम्=तयोः। व्यत्यय से तत् शब्द के षष्ठी-द्विवचन 'तयोः' के स्थान पर युष्मद् शब्द का षष्ठी-द्विवचन 'वाम्' प्रयुक्त हुआ है।

५. (कीर्त्तेन्यम्) कीर्तनीयम् अत्यन्तप्रशंसनीयम्। कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वनः (अ० ३।४।१४) इति केन्यप्रत्ययः। अन्येभ्यः तच्छ्रेष्ठोपकारकम् । -द०

६. (भूत्) अभूत्, भवतीति। अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम्। -द०

स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति। पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी॥ -निघं० अ० १। खं० १४॥ (सदमित्) यः सदं वेगम् इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति। (अर्यः) तमश्वमर्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात्। अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः[1] इति पाणिनिसूत्रात्, अर्य्यो वैश्यस्वामि-वाचीति॥४॥

(वाजी) वेगवान् (सदमित्[2]) निरन्तर वेग को प्राप्त करनेवाला (पैद्वः[3]) यान को मार्ग में शीघ्र वेग से ले-जानेवाला अग्निरूप[4] घोड़ा (हव्यः) हमारे द्वारा ग्राह्य है। उसे (अर्यः) वैश्य, व्यापारी देशान्तर से व्यापारार्थ यान चलाने के लिए अवश्य ग्रहण करे।

भावार्थ—अग्नि और जल के संयोग से भाप बनाकर उसके द्वारा भूयान, जलयान और विमानों को मनचाहे वेग से चलाया जा सकता है। वणिग् जनों को चाहिए कि ऐसे यानों का व्यापार में उपयोग करें।

५. यानों की बनावट

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। **देवता**—अश्विनौ।
छन्दः— निचृज्जगती।

इस मन्त्र में यान की बनावट पर प्रकाश डाला गया है कि वह किस तरह का बनाया जाए, जिससे अत्यन्त लम्बे मार्ग को भी कम समय में पार करा दे।

पदार्थ-(मधुवाहने रथे) मधुर गतिवाले यान में, शीघ्र गति के लिए (त्रयः पवयः)[5] वज्रतुल्य दृढ़ तीन चक्रसमूह रचने चाहिएँ,

---

१. अष्टा० ३।१।१०३

२. (सदमित्) यः सदं वेगम् इत् एति प्राप्नोति ईदृशः अश्वोऽग्निः—द०। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से निष्पन्न होने के कारण सद् का अर्थ वेग (गति) है और इत् में इण् गतौ धातु है।

३. 'पैद्व' निघण्टुकोश १।१४ में अश्ववाची शब्दों में पठित है। पदयते गमयतीति पैद्वः। पद गतौ।

४. अग्नि का अश्वत्व ऋषि ने ऋग्वेदभाष्य १।११ में स्पष्ट किया है। वहाँ शतपथ का यह प्रमाण भी दिया है—अश्वो ह वा एष (अग्निर्)-भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति। —श० १।३।३।३०

५. पवि निघं० २।२० में वज्रवाची शब्दों में पठित है और पहिये की परिधि को भी पवि कहते हैं। "वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलयन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रगमनार्थं त्रयः कार्याः।' —द०

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥५॥

—ऋ० अष्ट० १। अ० ३। वर्ग ४। मं० २

भाष्यम्—(मधुवाहने०) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः। तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः (स्कभितासः) किमर्थाः, सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनाम्) कमनीयां कामनासिद्धिं (विदुः) जानन्त्येव। अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद् यानमारब्धुमिच्छेयुः। कुतः? तावेवाश्विनौ तद् यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति। तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तं, त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैच्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम्॥५॥

जो कलायन्त्रों से जुड़े हों। उसी प्रकार शिल्पियों को चाहिए कि (स्कभितासः) थामनेवाले (त्रयः स्कम्भासः) तीन थम्भे बनाएँ। किसलिए? (आरभे[1]) सब कलायन्त्रों को थामने के लिए। ऐसे यानों से (विश्वे) सब विद्वान् शिल्पी (सोमस्य) सोमगुणविशिष्ट[2] सुख की (वेनाम्[3]) अभीष्ट कामनासिद्धि को (विदुः) जान लेते हैं। ऐसे यान (अश्विना[4]) पूर्वोक्त अग्नि-जल आदि अश्वियों से ही बनाने चाहिएँ, क्योंकि (अश्विना[5]) उक्त अश्वी ही, उस यान की सिद्धि को (याथः) प्राप्त कराते हैं। वह यान ऐसा होता है जो (त्रिः नक्तम्) तीन रात्रियों में और (त्रिः दिवा) तीन दिनों में, अत्यन्त लम्बे मार्ग

---

१. आङ् पूर्वक 'रभ राभस्ये' धातु से तुमुनर्थ में केन् प्रत्यय।
२. सोमगुणविशिष्ट सुख अर्थात् शन्ति देनेवाला मधुर सुख।
३. वेन धातु कामनार्थक है। (निघं० २।६)
४. ५. यहाँ भी प्रथम मन्त्र के समान अर्थ करते हुए 'अश्विना' शब्द दो वार लिया है जो क्रमशः तृतीया-द्विवचन तथा प्रथमा-द्विवचन में है।

भाषार्थ-(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्ब-रहित समुद्र में अपने कार्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो। (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने-आने के लिए सिद्ध होते हैं। (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई भी नहीं मिल सकता, (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी जल से पूर्ण रहता है, उनमें किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। (यदश्विनौ ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है, वह उत्तम भोगों को प्राप्त करा देता है, क्योंकि (अस्तं) जो उनसे चलाया जाता है, वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्यों को सिद्ध करता है। (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने, उनके थाँभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिए लौह आदि के लंगर भी रखने चाहिएँ, जिनसे जहाँ चाहे वहाँ उन यानों को थाँभे। इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कल-बन्धन और थाँभने के साधन रचने चाहिएँ। इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं।।३।।

(यमश्विना०) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं, उनके संयोग से (श्वेतमश्वम्) भापरूप अश्व अत्यन्त वेग देनेवाला होता है, जिससे कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्रगमन के लिए वेगयुक्त कर देते हैं, जिस वेग की हानि नहीं हो सकती; उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है। (शश्वदित् स्वस्ति) जिन यानों में बैठके समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है। (ददथुः) जो कि वायु, अग्नि और जल आदि से

को भी पार करा देता है।

भावार्थ—विमानादि यान ऐसे होने चाहिएँ जो मधुर गति के साथ चलें, जिससे यात्रा-कष्ट बिल्कुल भी न हो। उनमें तीन पहिये लगाने चाहिएँ, जिनका सम्बन्ध कलायन्त्रों से हो, जिससे जब चाहें तब पहिये घूमने लगें और जब रोकना चाहें तब रुक जाएँ। कलायन्त्रों को थामने के लिए तीन थम्भे लगाने चाहिएँ। अग्नि, जल, विद्युत्,

गुण उत्पन्न होता है, उसको मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें। (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े-बड़े शुभगुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों का उपकार करनेवाला (भूत्) है, क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलानेवाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना-आना कठिन है।।४।।

यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिए कि (त्रयः पवयो मधु०) जिसमें तीन पहिये हों, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाए और मधुर वेगवाला हो; उसके सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे । (त्रयः स्कम्भासः) उनमें तीन-तीन थम्भे ऐसे बनाने चाहिएँ कि जिनके आधार सब कलायन्त्र लगे रहें । तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है, उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं । (विश्वे) सब शिल्पी विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उसके आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं । (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात द्वीप-द्वीपान्तर में जा सकते हैं ।।५।।

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्।।६।।

—ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । व० ५ । मं० १

वेग-वायु आदि के प्रयोग से उन यानों को चलाया जाए । तब वे तीन दिन-रातों में ही लम्बी से लम्बी यात्रा पार करा देते हैं ।

६. तीन धातुओं से बना वेगवान् यान

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती।

इस मन्त्र में आत्मा, मन, प्राण और वायु के समान वेगवान् तथा तीन धातुओं से बने यान का वर्णन है जो दिन में तीन-तीन बार भूमि और आकाश की सैर कराता है ।

पदार्थ[१]–(यजता) परस्पर मिलनेवाले (अश्विना) जल-अग्नि आदि पूर्वोक्त अश्वी (त्रिधातु) लोहा, तांबा, चाँदी आदि किन्हीं तीन धातुओं से बने हुए विमानादि यान को (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (त्रिः) तीन बार भूमि और अन्तरिक्ष में (नः) हमें (अशायतम्[२]) चारों ओर शयन कराते अर्थात् परिभ्रमण कराते हैं। (रथ्या[३]) रथों अर्थात् विमान आदि यानों को चलानेवाले, अथवा जैसे नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना-आना बनता है वैसे दूर देश में भी शीघ्र पहुँचानेवाले, (नासत्या) सत्य गुण-कर्मवाले कलाओं में प्रेरित पूर्वोक्त अश्वी (तिस्रः[४]) ऊँची, नीची और सम तीन गलियों से (परावतः) दूर देश के भागों से (गच्छतम्[५]) यानों को वेगपूर्वक ले-जाते और लाते हैं, (इव) जैसे (आत्मा) आत्मा या मन और (वातः) वायु या प्राण (स्वसराणि[६]) अपने-अपने समयानुकूल दिनों में गच्छतः शीघ्रता से आते-जाते हैं।

भावार्थ[७]–इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे जीव अन्तरिक्ष

---

१. संस्कृत-भाष्य तथा आर्यभाषा-भाष्य दोनों में ही संपूर्ण मन्त्र की व्याख्या ऋषि ने नहीं की है । यहाँ उनके ऋग्वेद-भाष्य से सहायता लेकर मन्त्रार्थ पूर्ण किया है ।

२. अशायतम्=अशाययतम्=शाययतः। लडर्थ में लङ् प्रयुक्त है।

३. रथ्या=रथ्यौ। '(रथ्या) यौ रथविमानादिकं वहतस्तौ' (ऋग्-भाष्य)। दूसरा गलीवाला अर्थ आर्यभाषा-भाग से लिया गया है। रथ्या का गली अर्थ संस्कृत में प्रसिद्ध है। रथ्यासु हितौ, रथ्यौ, तौ इव लुप्तोपमा।

४. (तिस्रः) ऊर्ध्वाधः समगतिः (ऋग्भाष्य)

५. गच्छतम्=गमयतम् । णिच् का लोप है ।

६. स्वसराणि अहानि भवन्ति स्वयंसारीणि अपि वा स्वरादित्यो भवति स एनानि सारयति (निरु० ५।४)।

७. यह भावार्थ इस मन्त्र के ऋग्वेदभाष्य से लिया गया है। वहाँ संस्कृत का भावार्थ इस प्रकार है–"अत्रोपमालङ्कारः। ऐहिकसुखमभीप्सवो जना यथा जीवोऽन्तरिक्षादिमार्गैः सद्यः शरीरान्तरं गच्छति यथा च वायुः सद्यो गच्छति तथैव पृथिव्यादिविकारैः कलायन्त्रयुक्तानि यानानि रचयित्वा तत्र जलाग्न्यादीन् संप्रयोज्याभीष्टान् दूरदेशान् सद्यः प्राप्नुयुः नैतेन कर्मणा विना सांसारिकं सुखं भवितुमर्हति।

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः।।७।।

—ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० ३

आदि मार्गों से शीघ्रता के साथ दूसरे शरीर में चला जाता है और जैसे वायु वेग के साथ चलता है, वैसे ही संसारसुख की इच्छा करने वाले लोग पृथिवी आदि के विकारों से कलायन्त्रयुक्त यानों को रचकर और उनमें जल, अग्नि आदि का अच्छे प्रकार प्रयोग करके अभीष्ट दूर देशों को शीघ्रता से प्राप्त किया करें। इस कर्म के विना सांसारिक सुख होने योग्य नहीं है।

७. वाष्पयान

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। **देवता**—अश्विनौ।

छन्दः—निचृद् गायत्री।

इस मन्त्र में यानों में कौशलपूर्वक जल भरने तथा उसकी भाप से यानों को चलाकर समुद्र आदि के पार जाने का वर्णन है।

पदार्थ—(वाम्[1]) उन पूर्वोक्त अश्वियों से बननेवाला (दिवः[2]) द्योतनात्मक अग्नि, विद्युत् आदि पदार्थों से युक्त (रथः) जो यान है वह (सिन्धूनाम्) बड़े-बड़े समुद्रों के (तीर्थे[3]) पार करने में अत्यन्त वेगवान् होता है। उसमें (पृथु) अतिविस्तीर्ण (अरित्रम्[4]) जहाँ चाहें वहाँ रोकने के लिए और जल की गहराई नापने के लिए लोहे का बना यन्त्र लगाया जाता है। भूमि, पानी और आकाश में चलनेवाले तीनों प्रकार के यान में (धिया[5]) बुद्धि और क्रिया की चतुराई के साथ (इन्दवः[6]) वाष्पवेग के लिए जल (युयुज्रे) यथावत्

---

१. वाम्=अश्विनोः वाम्=अश्विनोः तयोः।—तद् शब्द के षष्ठी-द्विवचन के स्थान पर युष्मद् शब्द का षष्ठी-द्विवचन व्यत्यय से प्रयुक्त हुआ है।

२. (दिवः) द्योतनात्मकविद्युदग्न्यादिपदार्थैर्युक्तम् (ऋग्भाष्य)।

३. (तीर्थे) तरणे कर्तव्ये—द०।

४. अग्नि की व्याख्या मन्त्र सं० ३ में की जा चुकी है। प्रस्तुत मन्त्र के ऋग्भाष्य के पदार्थ में यह लिखा है—(अरित्रम्) यानस्तम्भनार्थं जलगाधग्रहणार्थं वा लौहमयं साधनम्।

५. धी=प्रज्ञा, कर्म (निघं० ३।, २।१)

६. 'इन्दवः' निघण्टु में जलवाची पठित है (निघं० १।१२)। 'उन्देरिच्चादेः' उणादि १।१२। इस उणादि सूत्र द्वारा उन्दी क्लेदने धातु से उ प्रत्यय तथा उ को इ आदेश होकर इन्दु शब्द बना है।

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्॥८॥

–ऋ० अ० १। अ० ६। व० ९। मं० ४

भाष्यम्–यत् पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं, तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह–(परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्। इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह–(आत्मेव वातः०) आगमनागमने[१] यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति, तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः॥६॥

तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह–(अरित्रम्) स्तम्भार्थं साधनयुक्तं (पृथु) अतिविस्तीर्णम्। ईदृशः स रथोऽग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम्। (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि, येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति। इन्दव इति जलनामसु निघण्टौ (अध्याये प्रथमे) खण्डे १२ पठितम्। उन्देरिच्चादेः, उणादौ प्रथमे पादे (१२) सूत्रम् ॥७॥

प्रयुक्त किये जाने चाहिएँ।

भावार्थ–जो अरित्रयुक्त यान बनते हैं वे बड़े-बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुँचाने में श्रेष्ठ होते हैं और आकाश तथा समुद्र में जाने-आने के लिए अत्यन्त उत्तम होते हैं। उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। उन तीन प्रकार के यानों में वाष्पवेग के लिए एक जलाशय बनाके उसमें जलसेचन करना चाहिए, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला सिद्ध हो।[२]

८. यानों से यात्रा करके यशस्वी हों।

ऋषिः–गोतमो राहूगणः। **देवता**–मरुतः। **छन्दः**–विराड्जगती।

---

१. **आसमन्ताद् गमनागमने इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः**–यथात्मा मनश्च।

२. यह भावार्थ आर्यभाषा-भाष्य के आधार पर लिखा गया है। ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र का यह भावार्थ लिखा है–"**न किल कश्चिदग्निजलादिचालनयुक्ते यानेन विना भूसमुद्रान्तरिक्षेषु सुखेन गन्तुं शक्नोति।**" अर्थात् कोई भी मनुष्य अग्नि, जल आदि से चलनेवाले यान के विना पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में सुख से जाने-आने में समर्थ नहीं हो सकता।

हे मनुष्याः ! (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्र-कलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत। कथम्भूता अग्निवाय्वादयः? (आ वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः। येषां संयोगे वाष्पजन्य-वेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते।।८।।

भाषार्थ—फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिए कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना-आना बनता है, (परित्रिधातु) वे लोहा, तांबा, चाँदी, आदि तीन धातुओं से बनती हैं। और जैसे (रथ्या परावतः) नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना-आना बनता है, वैसे दूर देश में उन सवारियों से शीघ्र-शीघ्र जाना-आना होता है। (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े-बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना-आना करें। जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिए सवारियों के प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें-आवें ।।६।।

(अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े-बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुँचाने

इस मन्त्र में मन के समान वेगवाली वायुओं को यानों में प्रयुक्त करने के लिए प्रेरणा की गई है।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जो (मनोजुवः) मन के समान वेगयुक्त गतिवाले (मरुतः) वायु और अग्नि हैं, उन्हें (रथेषु) त्रिविध यानों में (अयुग्ध्वम्) यथावत् युक्त करो। कैसे वायु और अग्नि को? (वृषव्रातासः) जो जलों के सेचन से युक्त हैं, और (पृषतीः) जो जलवाष्पों को उत्पन्न करनेवाले हैं, अर्थात् जिन जलों का अग्नि के साथ संयोग होने पर वाष्पजन्य वेग पैदा होने से वे वेगवान् यान सिद्ध होते हैं। (ये) जो, (सुमखासः) इस प्रकार शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ को करनेवाले हैं वे (ऋष्टिभिः[१]) यन्त्रकलाओं को चलानेवाले दण्डों से (प्रच्यावयन्तः[२]) विमानादि यानों को चलाते हुए, तथा

---

१. (ऋष्टिभिः) यन्त्रचालनार्थैर्गमनागमननिमित्तैर्दण्डैः (ऋग्भाष्य)।

२. (प्रच्यावयन्तः) विमानादीनि यानानि प्रचालयन्तः सन्तः (ऋग्भाष्य)।

में श्रेष्ठ होते है, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने-आने के लिए अत्यन्त उत्तम होते हैं, उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्रे) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिए एक जलाशय बनाके उसमें जलसेचन करना चाहिए, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला यान सिद्ध हो।।७।।

(वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो। (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ। और (आ वृषव्रातासः) उनके योग में जलों का भी स्थापन करो। (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं, वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं, वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ

(अच्युताचित्) कभी नष्ट न होनेवाले (ओजसा) पराक्रम से युक्त होते हुए (विभ्राजन्ते) यशस्वी होते हैं।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि जैसा मन का वेग है वैसे वेगवाले यान सिद्ध करें। उन यानों में वायु और अग्नि को युक्त करें और उनके योग में जलों का भी स्थापन करें। इस प्रकार जो जल के वाष्प उठते हैं वे घूमनेवाली कलाओं को वेगवान् कर देते हैं। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके यानों को सिद्ध करते हैं वे विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं।[1]

ऋग्वेदभाष्य[2] में इस मन्त्र की व्याख्या में ऋषि ने भावार्थ इस प्रकार लिखा है—"मनुष्यों को उचित है कि मन के समान वेगयुक्त विमानादि यानों में जल, अग्नि और वायु को संयुक्त कर विमानों में बैठकर सर्वत्र भूगोल में जा-आके, शत्रुओं को जीतकर, प्रजा को उत्तम रीति से पालकर, शिल्पविद्या-कर्मों को बढ़ाकर

---

१. यह भावार्थ आर्यभाषा-भाग के आधार पर लिखा गया है।

२. भाष्यभूमिका तथा ऋग्वेदभाष्य दोनों के मन्त्रार्थ में कुछ अन्तर है, पर दोनों स्थलों में आशय विमानादि यान सिद्ध करने का ही है।

यज्ञ करनेवाले हैं, वे सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं, क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टिभिः) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व-स्थान को छोड़के मनोवेग यानों से जाते-आते हैं। उन्हीं से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है, इसलिए इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें।।८।।

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे।
युञ्जाथामश्विना रथम्।।९।।

—ऋ० अष्ट १। अ० ३। व० ३४। मं० १

सबका उपकार किया करें।"[१]

९. हम भी विमानादि यान बनाएँ

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृद् गायत्री।

इस मन्त्र में यह प्रेरणा है कि जैसे बुद्धिमानों के बनाए यानों से सब लोग स्थल, जल और आकाश के मार्गों को पार करते हैं, वैसे ही हम भी यान बनाएँ।

पदार्थ[२]—समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में गमन करने योग्य मार्ग के (पाराय गन्तवे) पार जाने के लिए जलयान, भूयान और विमान बनाने चाहिएँ। जैसे (मतीनाम्[३]) समुद्र में जाने-आने की

---

१. संस्कृत-भावार्थ इस प्रकार है—"मनुष्यैर्मनोजवेषु विमानादियानेषु जलाग्निवायून् संप्रयुज्य तत्र स्थित्वा सर्वत्र भूगोले गत्वागत्य शत्रून् विजित्य प्रजाः सम्पाल्य शिल्पविद्याकार्याणि प्रवृद्ध्य सर्वोपकाराः कर्तव्याः।"

२. ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—

पदार्थ—हे (अश्विना) व्यवहार करनेवाले कारीगरो! आप (मतीनाम्) मनुष्यों की (नावा) नौका आदि से (पाराय) पार (गन्तवे) जाने के लिए (नः) हमारे लिए (रथम्) रमणीय विमानादि यानसमूह को (युञ्जाथाम्) युक्त कर चलाइए।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि रथ से स्थल अर्थात् सूखे में, नाव से जल में, विमान से आकाश में जाया-आया करें।

३. 'मतयः' निघण्टु में मेधावीवाची शब्दों में पठित है (निघं० ३।१५)।

**कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥१०॥**

वृत्तिवाले मेधावियों के बनाए (नावा) नाव आदि यानों से पार जाते हैं, वैसे ही (नः) हमारे बनाए नाव आदि यान भी उत्तम हों। (रथम्) विमानादि यानों में (अश्विना) अग्नि और जल (आयुञ्जाथाम्) जैसे मेधावियों द्वारा युक्त किये जाते हैं, वैसे ही हमारे द्वारा युक्त किये जाएँ।[1]

भावार्थ—सब मनुष्यों को समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष के पारावार जाने के लिए त्रिविध यानों को रचने में प्रयत्न करना चाहिए।[2]

१०. विमान आकाश में कैसे उड़ते हैं?

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत् त्रिष्टुप्।

इस मन्त्र में जल की भाप से विमानों को आकाश में उड़ाने का वर्णन किया गया है।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! (सुपर्णाः) अच्छे प्रकार गमन कराने वाले (हरयः) अग्नि आदि अश्व (अपः वसानाः) जब जलों से आच्छादित होते हैं (अर्थात् जलकुण्ड में पानी भरकर नीचे काष्ठ या ईंधन प्रज्वलित कर अग्निज्वाला से उस पानी को खौलाने से जब वे अग्नि आदि अश्व भाप बनाते हैं और उस भाप से कलायन्त्रों को घुमाते हैं[3] तब वे) (कृष्णम्[4]) पृथिवी-विकारमय (नियानम्) निर्मित यान को (दिवम्) प्रकाशमय आकाश में (उत्पतन्ति[5]) उड़ा ले जाते हैं। (ते) वे अग्नि आदि अश्व जब (सदनात्[6] आववृत्रन्) चारों ओर से जल से वेगयुक्त होते हैं तब (ऋतस्य) यथार्थ सुख के देनेवाले होते हैं। जब जलकलाओं के द्वारा (पृथिवी) पृथिवी (घृतेन) जल से (व्युद्यते) गीली की जाती है (तब उससे उत्तम

---

१. २. यह मन्त्रार्थ तथा भाषार्थ स्वामी जी की संस्कृत-व्याख्या के अनुसार है। आर्यभाषा-भाष्य भिन्न है।

३. (अपो वसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत् तदा। —द०

४. आर्यभाषा में कृष्ण का अर्थ खेंचनेवाला यान किया गया है।

५. उत्पतन्ति=उत्पातयन्ति। लुप्तणिच्क प्रयोग है।

६. 'सदन' निघण्टु में जलवाची शब्दों में पठित है। (निघं० १।१२)

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥११॥ —ऋ० अष्ट० २। अ० ३। व० २३। मं० १

भाष्यम्—समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति, तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत्। (आयुञ्जाथाम०) तथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते, तथास्माभिरपि योजनीये भवतः। एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः मेधाविनामसु निघण्टौ (तृतीयेऽध्याये) १५ खण्डे मतय इति पठितम्॥९॥

हे मनुष्याः! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपो वसानाः) जलपात्राच्छादिता अध स्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णम्) पृथिवीविकारमयं (नियानम्) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति, ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः॥१०॥

भोग प्राप्त होते हैं।)[१]

भावार्थ—विमान में अग्नि और जल का प्रयोग कर भाप द्वारा कलायन्त्रों को घुमाकर विमान को आकाश में उड़ाया जा सकता है।

११. यान-निर्माण-प्रकार

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—संवत्सरात्मा कालः।

छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः।

इस मन्त्र में यानों को रचने की सामान्य पद्धति बताई

---

१. उत्तरार्ध का अर्थ आर्यभाषा-भाष्य के आधार पर लिखा गया है। संस्कृत-भाष्य में ऋषि ने इसकी व्याख्या नहीं की। यह अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसमें विमानों के बादलों में टकराने से कृत्रिम वर्षा कराकर भूमि को आर्द्र करने का आशय निहित प्रतीत होता है। ऋग्वेदभाष्य में की गई इस मन्त्र की व्याख्या से भी इसे स्पष्ट करने में विशेष सहायता नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ अर्थ भिन्न प्रकार से किया गया है।

(द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः। (चक्रमेकम्) तन्मध्येः सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्। (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि। तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः। (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हा अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि। तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम्। (क उ तच्चिकेत) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति? (न) नहि सर्वे॥११॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते।

गई है।

पदार्थ—यान में (द्वादश प्रधयः) बारह थम्भे रचने चाहिएँ [जिनमें सब कलायन्त्र लगाए जाएँ] (एकं चक्रम्) एक चक्र रचना चाहिए [जिससे सब कलाएँ घूमें] (त्रीणि नभ्यानि) तीन मध्यस्थ यन्त्र रचने चाहिएँ [जो मध्य के अवयवों को धारण करने के लिए हों]। (साकम्) उनके साथ (तस्मिन्) उस यान में (त्रिशता) तीन सौ (शङ्कवः[1]) पेंच लगाने चाहिएँ और (षष्टिः) साठ कलायन्त्र स्थापित करने चाहिएँ (चलाचलासः) जिनमें कुछ चल अर्थात् यान को चलानेवाले और कुछ अचल अर्थात् यान को रोकनेवाले हों। (तत्) इस शिल्पकर्म को (क उ) कौन (चिकेत) जानता है ? (न[2]) सर्वसाधारण लोग नहीं जान सकते (किन्तु जो शिल्पविद्या में पारंगत हैं वे ही जानते हैं।)।

भावार्थ—जो भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान बनाए जाएँ उनमें बारह थम्भे रचने चाहिएँ जिनमें सब कलायन्त्र लगाए जाएँ। उनमें एक चक्र बनाना चाहिए, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिएँ कि एक के चलाने से

---

१. संस्कृत-भाष्य में 'शङ्कवः' का अर्थ 'यन्त्रकलाः' लिखा है, आर्यभाषा-भाष्य में बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच अर्थ किया है।

२. संस्कृत-भाष्य में (न) से अभिप्राय लिया है 'नहि सर्वे' अर्थात् सब नहीं जानते हैं, आर्यभाषा में (न) उनमें किसी प्रकार की भूल नहीं रहनी चाहिए—ऐसा लिखा है।

भाषार्थ–हे मनुष्यो! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाए नाव आदि यानों से (पाराय०) समुद्र के पारावार जाने के लिए सुगमता होती है, वैसे ही (आ युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। हे मनुष्यो ! आओ, आपस में मिलके इस प्रकार के यानों को रचें, जिनसे सब देश-देशान्तर में (नः) हमारा जाना-आना बने।।९।।

(कृष्णं नि०) अग्नि-जलयुक्त कृष्ण अर्थात् खैंचनेवाला जो (नियानम्) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुणरूप, (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन करानेवाले, जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपो वसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति[१]) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं। (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं, तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देनेवाले होते हैं (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उससे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं।।१०।।

सब रुक जाएँ, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। तीन-तीन सौ बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहिएँ कि जिनसे उनके सब अंग जुड़ जाएँ और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जाएँ। उनमें साठ-साठ कलायन्त्र रचने चाहिएँ। कई-एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें। जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भापघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिएँ, और जब ऊपर से नीचे उतरना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देने चाहिएँ। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिएँ, और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम को बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिएँ। इसी प्रकार उत्तर-दक्षिण में भी जान लेना। उनमें किसी प्रकार की भूल नहीं रहनी चाहिए। इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं।[१]

---

१. यह भावार्थ आर्यभाषा-भाष्य के आधार पर लिखा गया है।

(द्वादश प्रधय:) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहिएँ जिनमें सब कलायन्त्र लगाए जाएँ। (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिए जिसके घुमाने से सब कला घूमें। (त्रीणि नभ्यानि) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिएँ कि एक के चलाने से सब रुक जाएँ, दूसरे के चलाने से आगे चलें, और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उसमें तीन-तीन सौ (शङ्कव:०) बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहिएँ कि जिनसे उसके सब अंग जुड़ जाएँ और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जाएँ (षष्टिर्न चलाचलास:) उनमें ६० (साठ) कलायन्त्र रचने चाहिएँ, कई-एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भापघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिएँ और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देने चाहिएँ। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिएँ और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिएँ। इसी प्रकार उत्तर-दक्षिण में भी जान लेना (न) उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिए। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं[१]।।११।।

इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहाँ थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

ऋषि द्वारा उद्धृत तथा व्याख्यात उपर्युक्त ११ वेदमन्त्रों से यानों के विषय में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं-

१. वेद में त्रिविध यानों का वर्णन है-भूयान, जलयान और विमान। इनसे भूमि पर, जल के अन्दर डूबकर अथवा जल की सतह पर और आकाश में यात्रा की जा सकती है।

२. ये यान लोहा, तांबा, चाँदी, सोना-आदि धातुओं से अथवा इनके यथायोग्य मिश्रण द्वारा बनी धातु से बनते हैं। आवश्यकतानुसार लकड़ी भी लगाई जाती है। अग्नि, जल, वायु, बिजली आदि के प्रयोग से वे चलाए जाते हैं।

३. जलयान ऐसे होते हैं कि उन पर पानी का कुछ प्रभाव

नहीं होता। पानी से उन पर ज़ंग आदि नहीं लगता, न उनमें पानी प्रवेश कर सकता है।

४. तीनों प्रकार के यान बड़े ही सुदृढ़ होते हैं। वायु, लहर, ताप आदि के आघातों से वे क्षतिग्रस्त नहीं होते।

५. उनमें जलवाष्प, वायु (गैस), विद्युत् आदि का ऐसा अक्षय प्रबन्ध होता है कि लगातार तीन दिन-रात तक विना विश्राम लिये चल सकते हैं।

६. उनमें सौ संख्या तक अरित्र, एक, तीन या अधिक चक्र, तीन या बारह थम्भे, तीन सौ तक पेंच, साठ कलायन्त्र आदि न्यूनाधिक उपकरणों का प्रयोग किया जाए, जिससे उनका यान्त्रिक ढाँचा अत्युत्कृष्ट हो।

इस विषय के कतिपय अन्य मन्त्र

इस विषय की समाप्ति पर ऋषि ने यह सूचना दी है कि "इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहाँ थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।"[१] इस समय सौभाग्य से स्वामी जी का ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य[२] विद्यमान है, अतः उससे हम इस विषय के कतिपय अन्य मन्त्र तथा उन पर ऋषि का भाष्य यहाँ दे रहे हैं, जिससे नौविमानादि यानों का विषय और भी अधिक स्पष्ट रूप में पाठकों के सम्मुख आ सकेगा।

१. पक्षियों के समान आकाश में उड़ें

वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि। यद्वां रथो विभिष्पतात्॥—ऋ० १।४६।३

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—गायत्री।

पदार्थ[३]—हे कारीगरो ! जो (जूर्णायाम्) वृद्धावस्था में वर्तमान

---

१. यह आर्यभाषा-भाष्य की पंक्ति है। संस्कृत में इस प्रकार है—"एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते।"

२. ऋग्वेदभाष्य मण्डल ७, सूक्त ६१, मन्त्र २ तक। यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण। इनमें नौविमानादि-विद्यापरक अनेक मन्त्र ऋषि ने व्याख्यात किये हैं। यहाँ केवल कुछ ही मन्त्र दिये जाएँगे जो पूर्वोक्त प्रकार के मन्त्रों से कुछ भिन्न प्रकार के हैं।

३. हे शिल्पिनौ! यदि (जूर्णायाम्) गन्तुमशक्यायां वृद्धावस्थायां वर्तमानाः। (ककुहासः) महान्तो विद्वांसः (ककुह इति महन्नाम। (निघं० ३।३) वाम् युवां शिल्पविद्याध्यापकाध्येतारौ। —द०

(ककुहासः) बड़े विद्वान् लोग (वाम्) तुम शिल्पविद्या पढ़ने-पढ़ाने वालों को (वच्यन्ते) विद्याओं का उपदेश करें तो (वाम्) आप लोगों का बनाया हुआ (रथः) विमान (विभिः) पक्षियों के तुल्य (विष्टपि) अन्तरिक्ष में (अधि) ऊपर (पतात्) उड़े।

भावार्थ[1]—यदि मनुष्य परम विद्वानों के पास से शिल्पविद्या को ग्रहण करें तो विमान आदि यानों को रचकर पक्षियों के समान आकाश में उड़ सकें।

२. मन से भी अधिक वेगवान् रथ

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥

—ऋ० १।१८३।१

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्।

पदार्थ—हे (वृषणा) बलवान्, सर्वविद्यासम्पन्न शिल्पविद्या के अध्यापक-उपदेशको ! तुम (यः) जो (पर्णैः) पंखों से (विः न) पक्षी के समान (मनसः) मन से भी (जवीयान्) अधिक वेगवाला, (त्रिबन्धुरः) तीन बन्धनोंवाला, और (यः) जो (त्रिचक्रः) तीन चक्रोंवाला रथ है, (येन) जिस (त्रिधातुना) तीन धातुओं वाले रथ से (सुकृतः) धर्मात्मा पुरुष के (दुरोणम्) घर को तुम (उपयाथः) जाते हो, (तम्) उस रथ को (युञ्जाथाम्) जोड़ो।

भावार्थ[2]—जो शीघ्र ले-जानेवाले, पक्षी के समान आकाश में गमन करानेवाले सांगोपांग अच्छे बने हुए यान को नहीं सिद्ध करते हैं वे ऐश्वर्य को कैसे पा सकते हैं?

३. अग्नि और बिजली से चलनेवाले विमानादि यान

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥ —ऋ० १।८८।१

ऋषिः—राहूगणपुत्रो गोतमः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—पंक्तिः।

पदार्थ[3]—हे (सुमायाः) उत्तम बुद्धिवाले (मरुतः) सभाध्यक्ष

---

१. यदि मनुष्याः परमविदुषां सकाशाच्छिल्पविद्यां गृह्णीयुस्तर्हि विमानादियानानि रचयित्वा पक्षिवदाकाशे गन्तुं शक्नुयुः। —द०

२. ये शीघ्रं गमयितारं पक्षिवदाकाशे गमनसाधनं साङ्गोपाङ्ग-सुरचितं यानं न साध्नुवन्ति ते कथमैश्वर्यं लभेरन्। —द०

३. (विद्युन्मद्भिः) तारयन्त्रादिसम्बद्धा विद्युतो विद्यन्ते येषु तैः। (मरुतः) सभाध्यक्षप्रजामनुष्याः। (स्वर्कैः) शोभना अर्काः ... विद्वांसो येषु तैः। (रथेभिः) विमानादिभिर्यानैः। (ऋष्टिमद्भिः) कलाभ्रामणार्थयष्टिशस्त्रास्त्रादियुक्तैः। (अश्वपर्णैः) अग्न्यादीनामश्वानां पतनैः सह वर्तमानैः। —द०

वा प्रजा-पुरुषो ! तुम (नः) हमारे (वर्षिष्ठया) अतिशय समृद्ध (इषा) उत्तम अन्न आदि पदार्थों से पूर्ण (स्वर्कैः) श्रेष्ठ विचारवाले विद्वानों से पूर्ण (ऋष्टिमद्भिः) कलायन्त्रों को घुमानेवाले दण्डों और शस्त्रास्त्रों से पूर्ण, (अश्वपर्णैः) अग्नि आदि रूप घोड़ों से उड़ान लेनेवाले, (विद्युन्मद्भिः) जिनमें तारयन्त्रों से सम्बद्ध बिजलियाँ विद्यमान हैं ऐसे (रथेभिः) विमान आदि रथों से (वयः न) पक्षियों के समान (पप्तत) उड़ जाओ, (आ) उड़ आओ, (यात) जाओ, (आ) आओ।

भावार्थ[1]—इस मन्त्र में उपमालंकार है। मनुष्यों को चाहिए कि जैसे पक्षी ऊपर-नीचे संगत हो मनचाहे दूसरे स्थान को सुख से जाते-आते हैं, वैसे ही अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए, बिजली के तारयन्त्रों से चलनेवाले विमान आदि यानों में ऊपर-नीचे व्यवस्था से बैठकर अभीष्ट देशों को सुख से जा-आकर अपने कार्यों को सिद्ध कर निरन्तर सुख को प्राप्त हों।

४. बिन घोड़े-लगाम का त्रिचक्र रथ

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।
महत् तद् वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥

—ऋ० ४।३६।१

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्।

पदार्थ—हे (ऋभवः) बुद्धिमानो ! (वः) आप लोगों के लिए (अनश्वः) विना घोड़ों का (अनभीशुः[2]) विना लगाम का, (उक्थ्यः) प्रशंसा करने योग्य, (त्रिचक्रः) तीन पहियों से युक्त (जातः) रचा हुआ (रथः) यानविशेष (यत्) जो (महत् रजः[3]) बड़े

---

१. अत्रोपमालङ्कारः (मनुष्यैर्यथा पक्षिण उपर्यधः संगत्याऽभीष्टं देशान्तरं सुखेन गच्छन्त्यागच्छन्ति तथैव सुसाधितैस्तडित्तारयन्त्रैर्-विमानादिभिर्यानैरुपर्यधः समागमेनाभीष्टान् देशान् सुखेन गत्वागत्य स्वकार्याणि संसाध्य सततं सुखयितव्यम्। —द०

ऊपर जो आर्यभाषा में पदार्थ और भावार्थ लिखा है वह ऋषि के संस्कृतभाष्य के अनुसार है।

२. भाष्य में अनभीशुः' का अर्थ 'अप्रग्रहः' के स्थान पर 'अप्रतिग्रहः' छप गया है। तदनुसार आर्यभाषा में 'जिसने किसी का दिया नहीं लिया' यह अनुवाद छपा है जो असंगत है। उत्तरार्ध में भी आर्यभाषा-भाष्य में हमने कुछ परिवर्तन किया है।

३. रजांसि लोका उच्यन्ते। —निरु० ४।१९।३९

पृथिवी, आकाश आदि लोक में (परिवर्तते) चारों ओर घूमता है (तत्) वह (देव्यस्य[1]) विद्वानों के कौशल का (प्रवाचनम्) बतानेवाला है। उससे आप लोग (द्याम्) आकाश को (पृथिवीं च) और भूमि को (पुष्यथ) पुष्ट करो।

भावार्थ[2]—हे मनुष्यो! तुम लोग अनेक प्रकार के कलाचक्रोंवाले, पशु, घोड़े आदि वाहन से रहित, अग्नि और जल से चलाए जाने वाले विमान आदि यानों को बना, पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष में जा-आकर और ऐश्वर्य को प्राप्त करके पुष्ट सुखवाले होवो।

५. रथ जिनमें घोड़े नहीं जुतते

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भूरि चाकन॥

—ऋ० १।१२०।१०

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—गायत्री।

पदार्थ[3]—(अहम्) मैं (वाजिनीवतोः) जिनके प्रशस्त विज्ञानादियुक्त सभा और सेना विद्यमान हैं उन (अश्विनोः) सभाधीश और सेनाधीश के (अनश्वम्) जिसमें घोड़े नहीं जुतते ऐसे (रथम्) रमण योग्य विमानादि यान का (असनम्) सेवन करूँ, और (तेन) उससे (भूरि) बहुत (चाकन) प्रकाशित अर्थात् यशस्वी होऊँ।

भावार्थ[4]—जो भूमि, जल और अन्तरिक्ष में चलने के लिए विमान आदि यान बनाए जाते हैं, उनमें पशु नहीं जोड़े जाते, किन्तु वे पानी, अग्नि और कलायन्त्रों से ही चलते हैं।

---

१. (देव्यस्य) देवेषु विद्वत्सु भवस्य। —द०

२. हे मनुष्या यूयमनेकविधान्यनेककलाचक्राणि पश्वश्ववहन-रहितान्यग्न्युदकवाहितानि विमानादीनि यानानि निर्माय पृथिव्या-मप्स्वन्तरिक्षे च गत्वागत्यैश्वर्यं प्राप्य पुष्टसुखा भवत। —द०

३. (अश्विनोः) सभासेनेशयोः।(असनम्) संभजेयम्।(रथम्) रमणीयं विमानादियानम्।(वाजिनीवतोः) प्रशस्ता विज्ञानादियुक्ता सभा सेना च विद्यते ययोस्तयोः। (चाकन) प्रकाशितो भवेयम्। तुजादि-त्वादभ्यासदीर्घः। —द०

४. यानि भूजलान्तरिक्षगमनार्थानि यानानि निर्मितानि भवन्ति तत्र पशवो नो युज्यन्ते, किन्तु तानि जलाग्निकलायन्त्रादिभिः खे चलन्ति।

६. तीव्र गतिवाला प्रशंसनीय यान

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।
सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभि प्रयः।।

–ऋ० १।११९।१

ऋषिः–दैर्घतमसः कक्षीवान्। **देवता**–अश्विनौ।
छन्दः–निचृज्जगती।

पदार्थ[१]–हे (अश्विना) समस्त गुणों में व्याप्त स्त्री-पुरुषो! (प्रयः) प्रीति करनेवाला मैं (जीवसे) जीवन के लिए (वाम्) तुम दोनों के (पुरुमायम्) बहुत बुद्धिकौशल से बनाए हुए, (जीराश्वम्) प्राणधारी जीवों को अपने अन्दर व्याप्त करनेवाले, (यज्ञियम्) यज्ञयोग्य देश में जाने योग्य, (सहस्रकेतुम्) सहस्रों झण्डियोंवाले, (शतद्वसुम्) असंख्यात धनों से परिपूर्ण, (वनिनम्) प्रचुर जल से पूर्ण, (श्रुष्टीवानम्) शीघ्र गतियों का सेवन करानेवाले, (मनोजुवम्) मन के समान वेगवान् (वरिवोधाम्) सुख-सेवन को धारण करानेवाले (रथम्) रमणीय विमान आदि यान की (अभि आ हुवे) सब प्रकार प्रशंसा करता हूँ।

भावार्थ[२]–इस मन्त्र में पिछले सूक्त के अन्तिम मन्त्र से 'अश्विना' इस पद की अनुवृत्ति आती है। विद्वान् शिल्पी लोग यदि चाहें तो प्रयत्न करके इस मन्त्र में जैसा वर्णित है, वैसा रथ बना सकते हैं।

७. बादल गरजानेवाले विमान

यत् त्वेषयामा नदयन्त पर्वतान् दिवो वा पृष्ठं नर्या अचुच्यवुः।
विश्वो वो अज्मन् भयते वनस्पती रथियन्तीव प्र जिहीत ओषधिः।।

–ऋ० १।१६६।५

ऋषिः–मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**–मरुतः। **छन्दः**–निचृज्जगती।

---

१. (प्रयः) प्रीणाति यः सः। औणादिकोऽनप्रत्ययः। (वाम्) युवयोः स्त्रीपुरुषयोः। (पुरुमायम्) पुर्व्या मायया प्रज्ञया सम्पादितम्। (जीराश्वम्) जीरान् जीवान् प्राणधारकान् अश्नुते तम्। (श्रुष्टीवानम्) श्रुष्टीः क्षिप्रगतीर्वनति भाजयति यस्तम्। (वरिवोधाम्) वरिवः परिचरणं सुखसेवनं दधाति येन तम्। –द०

२. पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'अश्विना' इत्यनुवर्तते। प्रयतमानैर्विद्वद्भिः शिल्पिभिर्यदीष्येत तर्हि ईदृशो रथो निर्मातुं शक्येत। –द०

पदार्थ[1]–(यत्) जब (त्वेषयामाः) दीप्ति होते ही गमन करनेवाले, (नर्याः) मनुष्यों के लिए हितकारी तुम्हारे रथ (दिवः) अन्तरिक्ष के (पर्वतान्) मेघों को (नदयन्त) शब्दायमान करते हैं अर्थात् तुम्हारे रथों के वेग से तितर-बितर हुए मेघ गर्जनादि शब्द करते हैं। (वा) अथवा, जब (पृष्ठम्) पृथिवी के पृष्ठ को (अचुच्यवुः) प्राप्त होते हैं, तब (विश्वः वनस्पतिः) समस्त वृक्ष (रथियन्ति इव) अपने रथी को चाहती हुई सेना के समान (वः) तुम्हारे (अज्यन्) मार्ग में (भयते) काँप उठता है अर्थात् जो वृक्ष मार्ग में होता है वह थरथरा उठता है, और (ओषधिः) सोमादि ओषधि (प्र जिहीते) स्थान त्याग देती है, अर्थात् कँपकँपाहट में स्थान से तितर-बितर हो जाती है।

भावार्थ[2]–इस मन्त्र में उपमालंकार है। अन्तरिक्ष के मार्गों में विद्वानों से प्रयोग किये हुए आकाशगामी यानों के अत्यन्त वेग से कभी-कभी मेघों का तितर-बितर हो जाना सम्भव है और पृथिवी के कम्पन से वृक्ष आदियों का काँपना भी सम्भव है।

ऋ० भा० भू० में ऋषि द्वारा उद्धृत एवं व्याख्यात मन्त्रों के अतिरिक्त उपर्युक्त सात मन्त्र हमने ऋषि के ऋग्वेदभाष्य से दिये हैं। केवल आर्यभाषा-भाष्य ही हमने उद्धृत किया है। टिप्पणी में क्लिष्ट शब्दों का ऋषि का संस्कृत-पदार्थ तथा संस्कृत-भावार्थ भी उद्धृत कर दिया है। इन मन्त्रों से नौविमानादिविद्या के विषय में निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती हैं–

१. राष्ट्र में शिल्पविद्या की उन्नति कर विमान बनाकर आकाश में पक्षियों के समान उड़ सकते हैं।

२. विमान की गति मन से भी अधिक वेगवाली की जा सकती है।

---

१. (त्वेषयामाः) त्वेषे दीप्तौ सत्यां यामो गमनं येषां ते। (इससे सूचित होता है कि विमानों में ऐसा प्रबन्ध हो कि बिजली का स्विच दबाते ही प्रकाश हो और चालकयन्त्र काम करने लग जाएँ।) (अज्मन्) अज्मनि पथि। (रथियन्तीव) आत्मनो रथिन इच्छन्तीव सेना। –द०

२. अत्रोपमालङ्कारः। अन्तरिक्षप्रदेशेषु विद्वद्भिः प्रयुक्ताकाशयानानां महत्तरेण वेगेन कदाचिन्मेघविपर्याससम्भवस्तथा पृथिव्याः कम्पनेन वृक्षादीनां कम्पनसम्भवश्च। –द०

३. तीन बन्धन, तीन चक्र और तीन धातुओं का प्रयोग कर विमान बनाए जाएँ। उनमें कलायन्त्रों को घुमाने के लिए ऋष्टियाँ भी लगी हों।

४. विमान आदि यान चलाने के लिए उनमें यथायोग्य अग्नि, विद्युत्तारयन्त्र आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए।

५. यान इतने बड़े हों कि उनमें प्रचुर अन्न आदि सामान भरा जा सके तथा बहुत-से यात्री बैठ सकें।

६. बिना घोड़े और बिना लगामों के तीन चक्रोंवाले विमानादि यान बनाकर शिल्पी लोग अपना बुद्धि-कौशल प्रकट करें और उन यानों से सर्वसाधारण जल, भूमि और आकाश में सुखपूर्वक यात्रा करें ।

विशेष—संस्कृत में वी पक्षी को कहते हैं और मान का अर्थ अनुरूप या सदृश है। इसलिए विमान का अर्थ हुआ—पक्षी के सदृश। इस प्रकार जो आकाश में पक्षियों के उड़ने की स्थिति को जानता है वह विमान बना सकता है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः।।
—१।२५।७

अपने ऋग्वेद-भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ऋषि ने लिखा है—"जो ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष और समुद्र में आने-जानेवाले यानों की विद्या का उपदेश किया है, उसको सिद्ध करने के लिए जो पूर्ण विद्या, शिक्षा और हस्तक्रियाओं के कला-कौशल में कुशल मनुष्य इच्छा करता है, वही उसको बनाने में समर्थ है।

भागवत में शाल्व राजा के एक ऐसे विमान का वर्णन मिलता है जो आवश्यकतानुसार अकेला ही जल, वायु, आकाश और पर्वत पर भी चल सकता था—

स लब्ध्वा कामगं यानं तपोधामं दुरासदम्।
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्।।
क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिशृङ्गे जले क्वचित्।।

'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा ने विमानों से सम्बन्ध रखनेवाली एक प्राचीन पुस्तक का उल्लेख किया है। भरद्वाज ऋषि की बनाई इस पुस्तक का नाम है—'अंशुबोधिनी'। इस पुस्तक में अनेक विद्याओं का वर्णन है। प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक अधिकरण है। इन अधिकरणों में एक विमान-अधिकरण भी है। इस अधिकरण में आए 'शक्त्युद्गमोद्यष्टौ' सूत्र पर बोधायन ऋषि की वृत्ति इस प्रकार है—

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानशिखोद्गमः।

७. विमानों के अघात से मेघों को प्रकम्पित करके वर्षा की जा सकती है ।

८. यानों में ऐसा प्रबन्ध हो कि बिजली का विशेष स्विच दबाने से प्रकाश होते ही चालक यन्त्र काम करने लगें तथा विमानादि यान चल पड़ें । यह प्रकाश अन्य प्रकाशों से भिन्न प्रकार का होगा, जिससे यात्री समझ जाएँगे कि यान अब चलनेवाला है ।

इन मन्त्रों के अतिरिक्त ऋषि के ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य में अन्य भी बहुत-से मन्त्र नौविमानादिविद्याविषय में व्याख्यात हुए हैं । प्रायः वेदों में जहाँ-जहाँ रथ शब्द आया है, वहाँ-वहाँ अपने भाष्य में ग्रन्थकार ने रथ से विमानादि यान ही गृहीत किये हैं । इस विषय पर अधिक अध्ययन करने के लिए पाठकों को स्वामी जी का वेदभाष्य देखना चाहिए ।

अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखा।
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्त्रतः॥

यहाँ विमान की रचना और उनकी आकाशसञ्चारी गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं—'शक्त्युद्गम' बिजली से चलनेवाला, 'भूतवाह' अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, 'धूमयान' वाष्प से चलनेवाला, 'शिखोद्गम' पंचशिखी के तेल से चलनेवाला, 'अंशुवाह' सूर्यकिरणों से चलनेवाला, 'मणिवाह' सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त आदि मणियों से चलनेवाला और 'मरुत्सखा' केवल वायु से चलनेवाला।

'वाल्मीकि रामायण' में उपलब्ध पुष्पक विमान के वर्णन से कौन परिचित नहीं—

ब्रह्मणाऽथ कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणः।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्॥

—सुन्दरकाण्ड, सर्ग ९

□□

जटायु-सम्पाति

पंचवटी को जाते हुए मार्ग में जब पहली बार राम ने जटायु को देखा तो उसे राक्षसों का ही पक्षधर समझकर उन्होंने उसका परिचय पूछा। तब जटायु-**"उवाच वत्स मां विद्धि वयस्य पितुरात्मनः।"** (अरण्य० १४।३) बोला-हे वत्स ! तुम मुझे अपने पिता का मित्र जानो। **"स तं पितृसखं बुद्ध्वा पूजयामास राघवः।"** (अरण्य० १४।४) तब रामचन्द्र जी ने उन्हें अपने पिता का मित्र समझकर उनका सत्कार किया। तत्पश्चात्-**"स तस्य कुलमव्यग्रमथ पप्रच्छ नाम च।"** (१४।४) रामचन्द्र जी ने शान्त होकर उनसे उनका नाम और कुल पूछा। इस पर-

रामस्य वचनं श्रुत्वा कुलमात्मानमेव च।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै सर्वभूतसमुद्भवम्।।१४।५

राम के पूछने पर उन्होंने अपना नाम और कुल बताया और साथ ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन किया। यहाँ रामचन्द्र जी के विना पूछे ही प्राणिमात्र की उत्पत्ति का वर्णन किया जाना अप्रासंगिक तथा प्रकरणविरुद्ध तो है ही, सर्वथा वेद के विपरीत तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। जब रावण सीता को अपहरण करके ले-जा रहा था, तब जटायु को देखकर सीता ने पुकार लगाई-

जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत्।
अनेन राक्षसेन्द्रेण करुणं पापकर्मणा।।

अरण्य० ४९।३८

'हे आर्य जटायु ! यह पापी राक्षसपति रावण मुझे अनाथ की भाँति उठाए ले-जा रहा है।' यहाँ जटायु को आर्य और द्विज कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की द्विज संज्ञा है। रावण को अपना परिचय देते हुए जटायु कहते हैं-**"जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराज महाबलः।"** (अरण्य० ५०।४)-'मैं गृध्रकूट का भूतपूर्व

राजा हूँ और मेरा नाम जटायु है।' उस समय जटायु राजपाट का परित्याग कर वानप्रस्थ के रूप में वन में रहता था। जटाएँ रखने के कारण वह जटायु के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। शासक होने से वह क्षत्रिय और क्षत्रिय होने से द्विजों के अन्तर्गत था। इस प्रकार (१) आर्य होने, (२) द्विज होने, और (३) महाराज दशरथ का मित्र होने से जटायु मनुष्यवर्ग के अन्तर्गत आता है, पक्षिवर्ग के अन्तर्गत नहीं। आर्य परम्परा के अनुसार समय आने पर वह वानप्रस्थ हो गया था। यह ठीक है कि पक्षी भी द्विज कहलाते हैं, पर वे न आर्य कहलाते हैं और न दशरथ के मित्र ही होते हैं और न कहीं के राजा।

अन्यत्र (अरण्य० ५०।२) जटायु के लिए 'खगेश' या 'खगोत्तम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'ख' का अर्थ 'आकाश' प्रसिद्ध है। 'ग' का अर्थ है गमन करनेवाला। तब 'खगोत्तम' का अर्थ हुआ **'आकाश में गमन करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ'। आकाश में गमन उड़कर किया जाता है। इस प्रकार 'खगोत्तम' का अर्थ हुआ 'आकाश में उड़ान करने वालों में सबसे श्रेष्ठ'** (Best among the aeronauts).

प्राचीन काल में आर्यों का ज्ञान-विज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। रामायण-काल में जहाँ पुष्पक विमान जैसे बड़े विमान (Airbus) होते थे, वहीं छोटे-छोटे विमान (Monoplanes) भी होते थे जिनमें एक-दो व्यक्ति बैठकर उड़ सकते थे। जहाँ कहीं जटायु, रावण, हनुमान् आदि के उड़ने का वर्णन आता है, वहाँ उनका इसी प्रकार के विमानों से उड़ना समझना चाहिए। आजकल भी जब कोई बड़ा व्यक्ति विमान द्वारा विदेश जाता है तो कहा जाता है—he flew to London or New-York. **जब रावण पंचवटी में सीता का अपहरण करने गया तो अपने स्वचालित (self-driven) विमान को सीता की कुटिया से कुछ दूरी पर खड़ा करके गया था** और सीता को बलात् दबोच कर उसे विमान में अपने बराबर में बिठाकर ले उड़ा था।

रामायण के सुन्दरकाण्ड में हनुमान् के लंका में उतरने (उत्पपात) का जैसा वर्णन (सर्ग १, श्लोक ४२-४३) मिलता है वह बिल्कुल वैसा ही है जैसा वर्त्तमान में हैलीकाप्टर के हैलीपैड पर उतरते समय का होता है। वहाँ लिखा है—

उत्पपाताथ वेगेन वेगवानविचारयन्।
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः॥
समुत्पतति तस्मिंस्तु वेगात्ते नगरोहिणः।
संहृत्य विटपान् सर्वान् समुत्पेतुः समन्ततः॥

अपनी बाधाओं की उपेक्षा न करके अत्यन्त वेग से कूद पड़े। उस समय वनवासिश्रेष्ठ हनुमान् ने अपने को गरुड़ के समान समझा। वेगपूर्वक कूदते समय उनके वेगजनित वायुवेग से आस-पास के वृक्ष और उनकी शाखाएँ और लतागुल्म उखड़ गए ।

रावण और जटायु का युद्ध आकाश में हुआ था। दुर्जनतोषन्याय से यदि यह मान लिया जाए कि जटायु पक्षी था, तो भी रावण तो निश्चित रूप से मनुष्य ही था। तब रावण की तरह जटायु को भी अपने विमान पर सवार मनुष्य स्वीकार करने में क्या विसंगति है? वह भी एक भूतपूर्व राजा था।

संस्कृत में 'वी' पक्षी को कहते हैं, और 'मान' का अर्थ है—जैसा (सदृश)। इसलिए विमान का अर्थ हुआ पक्षी जैसा। लोकभाषा में विमान को चीलगाड़ी बोलते हैं—विमान के डैने भी पक्षी के पंख (पक्ष) जैसे ही होते हैं।

'पंचतन्त्र' की एक कथा में लिखा है कि धूर्त्त मनुष्य विष्णु का रूप बनाकर गरुड़ की आकृति के वाहन पर सवार होकर आता था। 'गयाचिन्तामणि' नामी ग्रन्थ में मयूर की आकृति के विमान का वर्णन है।

यहाँ बिजली से चलनेवाले, अग्नि और जल से चलनेवाले, वाष्प से चलनेवाले, तेल से चलनेवाले, सूर्य की किरणों से चलने वाले, चुम्बक से चलनेवाले, सूर्यकान्त-चन्द्रकान्त मणियों से चलने वाले और केवल वायु से चलनेवाले—आठ प्रकार के विमानों का उल्लेख हुआ है।

विमान प्रायः गरुड़ की आकृति के बनते थे, क्योंकि विष्णु नामक सम्राट् के वाहन की आकृति वैसी थी—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठः लोकस्तदनुवर्त्तते'**। आज भी इण्डोनेशिया में विमान को गरुड़ कहा जाता है; 'राजवल्ली' 'चन्द्रवल्ली' जैसे नामों से पुकारा जाता है।

विमानों के बनानेवाले कारीगर इस देश में बौद्धकाल तक रहे।

रामचन्द्र जी से भेंट होने के बाद जटायु ने पंचवटी में रहते राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में अपनी पुत्रवधू के समान सीता की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। तदनन्तर हम जटायु को सीता का अपहरण करके भागते हुए रावण से सीता की रक्षा के निमित्त लड़ता हुआ और इसी प्रयास में प्राणों की आहुति देता पाते हैं। वहीं रावण को अपना परिचय देते हुए जटायु ने कहा था-

जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।
षष्टिवर्षोत्तरशतं मम जातस्य रावण॥
वृद्धोऽहं युवा धन्वी सशरः कवची रथी।
तथाप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि॥
न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः।
हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव॥

-५०। ४, २१, २२

हे रावण! मैं इस समय १६० वर्ष का हूँ और तुम अभी जवान हो और कवच, बाण और रथ आदि साधनों से युक्त हो। तब भी तुम मेरे रहते बलपूर्वक सीता को नहीं ले-जा सकते, जिस प्रकार तर्क एवं हेतुओं से सिद्ध वेद का कोई खण्डन नहीं कर सकता।

जटायु ने पूरी शक्ति से युद्ध किया, परन्तु सीता को मुक्त न करा सके। **"अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ।"** (५१।४)-रक्तरंजित जटायु को पृथिवी पर गिरा देखकर दुःखी सीता सगे-सम्बन्धी के समान जटायु की ओर दौड़ पड़ी। कुछ समय के बाद सीता की खोज करते हुए राम-लक्ष्मण जटायु के पास पहुँचे। जटायु ने उन्हें बताया-

यामोषधिमिव युष्मन्नन्वेषसि महावने।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम्॥
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा॥

-६७।१५, १६

हे चिरंजीव ! इस वन में ओषधि के समान जिस सीता को तुम खोज रहे हो, उस जानकी को और मेरे प्राणों को रावण हर ले गया। शक्तिशाली रावण द्वारा हरी जाती हुई सीता को मैंने स्वयं देखा है।

यह सब जानकर राम ने जटायु को गले से लगा लिया और

लक्ष्मण-सहित फूट-फूटकर रोने लगे। प्राण निकलने से पूर्व जटायु ने यह भी बता दिया कि रावण जानकी को दक्षिण की ओर ले गया है। रावण विश्रवा का पुत्र है तथा प्रसिद्ध कुबेर का सगा छोटा भाई है। इससे अधिक वह नहीं बोल सका और उसके प्राण निकल गए। उस समय राम के उद्‌गार-

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम्।
यथा विनाशे गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप।।
राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः।।
सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराज दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्।।

□□

हनुमानादि बन्दर नहीं थे

वानर=वने भवं वानम्, राति (रा आदाने) गृह्णाति ददाति वा। वानं वनसम्बन्धिनं फलादिकं गृह्णाति ददाति वा। जो वन में उत्पन्न होनेवाले फलादि खाता है वह वानर कहलाता है। वर्त्तमान में जंगलों व पहाड़ों में रहने और वहाँ पैदा होनेवाले पदार्थों पर निर्वाह करने वाले 'गिरिजन' कहाते हैं। इसी प्रकार वनवासी और वानप्रस्थ वानर-वर्ग में गिने जा सकते हैं। वानर शब्द से किसी योनिविशेष, जाति, प्रजाति अथवा उपजाति का बोध नहीं होता।

जिसके द्वारा जाति एवं जाति के चिह्नों को प्रकट किया जाता है, वह आकृति है। प्राणिदेह के अवयवों की नियत रचना जाति का चिह्न होती है। सुग्रीव, बालि आदि के जो चित्र देखने में आते हैं उनमें उनके पूँछ लगी दिखाई जाती है, परन्तु उनकी स्त्रियों के पूँछ नहीं होती । नर-मादा में इस प्रकार का भेद अन्य किसी वर्ग में देखने में नहीं आता। इसलिए पूँछ के कारण हनुमान् आदि को बन्दर नहीं माना जा सकता।

हनुमान् से रामचन्द्र जी की पहली बार भेंट ऋष्यमूक पर्वत पर हुई थी। दोनों में परस्पर बातचीत के बाद रामचन्द्र जी लक्ष्मण से बोले—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम्॥

—कि० ३।२८, २९, ३२

ऋग्वेद के अध्ययन से अनभिज्ञ और यजुर्वेद का जिसको बोध नहीं है तथा जिसने सामवेद का अध्ययन नहीं किया है, वह

व्यक्ति इस प्रकार परिष्कृत बातें नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण का अनेक बार अभ्यास किया है, क्योंकि इतने समय तक बोलने में इन्होंने किसी भी अशुद्ध शब्द का उच्चारण नहीं किया है। संस्कारसंपन्न, शास्त्रीय पद्धति से उच्चारण की हुई इनकी कल्याणी वाणी हृदय को हर्षित कर रही है।

वस्तुतः हनुमान् अनेक भाषाविद् थे। वह अवसर के अनुकूल भाषा का व्यवहार करते थे, इसका संकेत हमें सुन्दरकाण्ड में मिलता है। लंका में पहुँचकर हनुमान् ने सीता को 'अशोक वाटिका' में राक्षसियों के बीच बैठे देखा। वृक्षों की शाखाओं के बीच छुपकर बैठे हनुमान् सोचने लगे–

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।
सेयमालोक्य मे रूपं जानकी भाषितं तथा।
रक्षोभिस्त्रासिता पूर्वं भूयस्त्रासं गमिष्यति।।
ततो जातपरित्रासा शब्दं कुर्यान्मनस्विनी।
जानाना मां विशालाक्षी रावणं कामरूपिणम्।।

सुन्दर ३०।१८., २०

यदि द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के समान परिमार्जित संस्कृत भाषा का प्रयोग करूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर भय से संत्रस्त हो जाएगी। मेरे इस वनवासी रूप को देखकर तथा नागरिक संस्कृत को सुनकर पहले ही राक्षसों से डरी हुई यह सीता और भयभीत हो जाएगी। मुझको कामरूपी रावण समझकर भयातुर विशालाक्षी सीता कोलाहल आरम्भ कर देगी। इसलिए–

अहं त्वतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।। १७

मैं सामान्य नागरिक के समान परिमार्जित भाषा का प्रयोग करूँगा।

इससे प्रतीत होता है कि लंका की सामान्य भाषा संस्कृत थी, जबकि जन-साधारण संस्कृत से भिन्न, किन्तु तत्सम अथवा तद्भव, शब्दों का व्यवहार करते थे। कुछ टीकाकारों के अनुसार हनुमान् ने अयोध्या के आस-पास की भाषा से काम लिया था।

बालिपुत्र अंगद के विषय में वाल्मीकि ने लिखा है–

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम्।
चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् बालिनः सुतम्।।

—कि० ५४/२

हनुमान् बालिपुत्र अंगद को अष्टाङ्ग बुद्धि से सम्पन्न, चार प्रकार के बल से युक्त और राजनीति के चौदह गुणों से युक्त मानते थे।

अष्टांग बुद्धि—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः।।

सुनने की इच्छा, सुनना, सुनकर धारण करना, ऊहापोह करना, अर्थ या तात्पर्य को ठीक-ठीक समझना, विज्ञान व तत्त्वज्ञान—बुद्धि के ये आठ अंग हैं।

चतुर्बल—साम, दाम, भेद, दण्ड। शत्रु को वश में करने के लिए नीति-शास्त्र में चार उपाय बताए गए हैं, उन्हीं को यहाँ चार प्रकार का बल कहा गया है। किन्हीं-किन्हीं के मत से बाहुबल, मनोबल, उपायबल और बन्धुबल—ये चार बल हैं।

चतुर्दश गुण—

देशकालज्ञता दार्ढ्यं, सर्वं क्लेशसहिष्णुता,
सर्वविज्ञानता दाक्ष्यमूर्जः संवृत्तमन्त्रता।
अविसंवादिता शौर्यं भक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता,
शरणागतवात्सल्यम् अमर्षित्वमचापलम्।।

१. देशकाल का ज्ञान, २. दृढ़ता, ३. कष्टसहिष्णुता, ४. सर्वविज्ञानता, ५. दक्षता, ६. उत्साह, ७. मन्त्रगुप्ति, ८. एकवाक्यता, ९. शूरता, १०. भक्तिज्ञान ११. कृतज्ञता, १२. शरणागतवत्सलता, १३. अमर्षित्व=अधर्म के प्रति क्रोध और १४. अचपलता=गम्भीरता।

और बालि की पत्नी एवं अंगद की माता तारा को वाल्मीकि ने 'मन्त्रवित्' बताया है(कि० १६।१२)। मरते समय बालि ने तारा की योग्यता का बखान करते हुए सुग्रीव को परामर्श दिया—

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता।।
यदेषा साध्विति ब्रूयात् कार्यं तन्मुक्तसंशयम्।
न हि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते।।

—कि० २३।१३-१४

सुषेण (जिनकी चिकित्सा से मृतप्राय लक्ष्मण जीवित हो गए थे—संजीवनी वाले वैद्य) की पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयों के निर्णय करने तथा नाना प्रकार के उत्पातों के चिह्नों को समझने में सर्वथा निपुण है। जिस कार्य को यह अच्छा बताए, उसे निःसंग होकर करना। तारा की किसी सम्मति का परिणाम अन्यथा नहीं होता।

बालि की अन्त्येष्टि के समय सुग्रीव ने आज्ञा दी—**"और्ध्वदेहिकमार्यस्य क्रियतामनुकूलतः"** (कि० २५।३०)—मेरे ज्येष्ठ बन्धु आर्य का संस्कार राजकीय नियम के अनुसार शास्त्रानुकूल किया जाए।

तदनन्तर सुग्रीव के राजतिलक के समय सोलह सुन्दर 'कन्याएँ' अक्षत, अंगराज, गोरोचन, मधु, घृत आदि लेकर आईं और वेदी पर प्रज्वलित अग्नि में—**"मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः।"** (२६।१०) मन्त्रोच्चारणपूर्वक हविष्य के द्वारा मन्त्रविद् विद्वानों ने हवन किया।

इस सारे वर्णन और विवरण को बुद्धिपूर्वक पढ़ने के बाद कौन मान सकता है कि हनुमान् और तारा आदि मनुष्य न होकर पेड़ों पर उछल-कूद मचानेवाले बन्दर-बन्दरिया थे?

□□

तारविद्या

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥१॥

—ऋ० अष्ट० १। अ० ८ । व० २१। मं० ५

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे[1] तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति।

हे मनुष्याः ! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारम्) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतम्) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युम्)

ऋग्वेद के ही १।१४।६ मन्त्र के भावार्थ में महर्षि ने लिखा है—"ताराख्येन यन्त्रेण संचालिता विद्युन्मनोवेगवद्वार्तां देशान्तरं प्रापयति।" अर्थात् ताराख्य यन्त्र से चलाई हुई बिजुली मन के वेग के समान वार्त्ताओं को एक देश से दूसरे देश में पहुँचाती है।

---

१. अत्र के चनाऽऽशङ्कन्ते यत्स्वामिदयानन्देन तात्कालिकां ताराख्यां दूरसंवादसंचारव्यवस्थां दृष्ट्वा प्राचीनानामार्याणां विज्ञानोत्कर्षतां प्रख्यापयितुमयमसत्प्रयत्नः कृत इति। अत्रोच्यते, नायमाचार्यपादानाम-सत्प्रयत्नोऽपि तु प्राचीनानामार्याणां वास्तविकीं विज्ञानोत्कर्षतां द्योतयितुमयं सत्प्रयत्नः। आसीत् पुराणानामार्याणां विमानज्ञानं विज्ञातम् इत्युक्तं पुरस्तात् नौविमानादिविद्याविषये (पृष्ठ २१९) तथैवासीत् पुरा भारते दूरसंवाद-सञ्चारव्यवस्था। अत एव शुक्रनीतौ राज्यव्यवस्थाप्रकरणे दूरतमप्रदेशानां वार्ताविज्ञानायोच्यते—'अयुतक्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै' (१।३६७) अत्र दशसहस्रक्रोशजा (=२० सहस्रमीलजा=३२००० किलोमीटरजा) वार्ता यथा केन्द्रं प्रति (राजानं प्रति) एकेनैव दिनेन विदिता भवेत् तादृशः प्रयत्नो राज्ञा विधातव्य इति नीतिकाराणामादेशः। अत एवेह मन्त्रेऽपि 'पृतनासु' दुष्टरम् इत्युक्तम्। यदि हि नाम पुरा नैतादृशी काचित् दूरसंवादसंचारव्यवस्थाऽभविष्यत् तर्हि कथं नीतिकारः शशशृङ्गायमाणां तादृशीं व्यवस्थां विधातुमुपादिशत्। एतेन विज्ञायते—'आसन् पुरातना आर्या विविधविज्ञानसम्पत्समन्विता' इति।

प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरम्) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं प्लावयितुमशक्यम्, (चर्कृत्यम्) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारम्) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत। कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तम् ? (शर्य्यैः) पुनःपुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्। कस्मै प्रयोजनाय? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय। पुनः कथम्भूतं ? (स्पृधाम्) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं? (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम्। पुनः कथम्भूतं? (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम्। (युवम्) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन (मध्यमपुरुषः) पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम्॥१॥

भाषार्थ—(युवं पेदवे०) अभिप्राय—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र

महर्षि के वेदभाष्य में निम्न स्थलों में भी सूचित होता है कि विद्युत् का उपयोग तारयन्त्र द्वारा समाचारों को भेजने में किया जा सकता है—

"यदि मनुष्या विद्युद्वाय्वादियोगविद्यां जानीयुस्तर्हि ते दूतवदश्ववद्दूरं यानं समाचारं च गमयितुं शक्नुयुः।" अर्थात् जो मनुष्य बिजली और वायु आदि के योग की विद्या को जानें तो वे दूत और घोड़े के सदृश दूर वाहन को और समाचार को पहुँचा सकें। (ऋग्भाष्य ४।७।११, भावार्थ)

"यदा मनुष्या अग्नियानेन गमनं तडिता समाचारांश्च गृह्णीयुस्तदेते सद्यः कार्याणि साद्धुं शक्नुवन्ति।" अर्थात् जब मनुष्य लोग अग्नियान से गमन और विद्युत् से समाचारों को ग्रहण करें तब ये शीघ्र कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं। (ऋग्भाष्य ७।३।२, भावार्थ)

इंगलैण्ड में पहली बार १८६२ में तार द्वारा समाचार भेजा गया था। भारत में इसके बहुत बाद तार का प्रचलन हुआ। उस समय

और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या[१] सिद्ध होती है, क्योंकि 'द्यावापृथिव्योरित्येके' इस निरुक्त[२] के प्रमाण से

(१८७६) तक महर्षि को इसकी कोई जानकारी नहीं रही होगी। इसलिए यहाँ उन्होंने जो कुछ लिखा है, साक्षात् वेद के आधार पर ही लिखा है।

इस विषय में पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी है—[२]

---

१. अनेक लोग शंका करते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य विज्ञानोन्नति को देखकर 'भारतीय प्राचीन आर्यों को भी ये विद्याएँ ज्ञात थीं' ऐसे मिथ्या आग्रह से तारादिविद्या का यहाँ संकेत किया है। इसका उत्तर यह है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मिथ्या आग्रह से प्राचीन आर्यों की विज्ञानोन्नति का मिथ्या विधान नहीं किया है, अपितु वास्तविकता का निर्देश किया है। प्राचीन आर्य विमानों का व्यवहार करते थे और वे देश, काल और उपयोग की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के विमानों का निर्माण करते थे, यह हम पूर्व नौविमानादिप्रकरण में संक्षेप से दर्शा चुके हैं। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों को कोई दूरसंवाद-संचार-प्रणाली भी ज्ञात थी, इसका स्पष्ट निर्देश 'शुक्रनीति' नामक अतिप्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। उसमें राज्यव्यवस्था के प्रकरण में लिखा है कि राजा को अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि केन्द्र को १००००=दस सहस्र कोश (=२०००० मील=३२००० किलोमीटर) दूर हुई बात १ दिन में ज्ञात हो जाए—'आयुतक्रोशजां वार्ता हरेदेकदिनेन वै' शुक्रनीति १।३६७)। यदि भारत में अतिप्राचीन काल में दूरसंवाद-संचार-प्रणाली विदित न होती तो आचार्य शुक्र ऐसी असम्भव वार्ता के लिए प्रयत्न करने का विधान न करते। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आर्यों को दूरसंवाद-संचार के लिए किसी प्रकार की यान्त्रिक प्रणाली विदित थी। प्राचीन आर्य ऐसी व्यवस्था राज्यकार्य के लिए ही प्रायः रखते थे, क्योंकि उस समय राज्य की इकाई ग्राम्यव्यवस्था थी। बड़े-बड़े नगर उस समय नहीं थे (ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आर्यसभ्यता ग्रामबहुला है और नगरबहुला आसुरी सभ्यता है)। इसलिए साधारण जनता को अत्यधिक देशदेशान्तर में जाने की आवश्यकता नहीं होती थी। आर्यलोग विद्युत्-विद्या से भी भले प्रकार परिचित थे। उन्हें शुष्क और आर्द्र दो प्रकार की विद्युत् के उपयोग का ज्ञान था। विश्वामित्र ने राम को ये दोनों प्रकार की विद्युत्-विद्या सिखाई थी (द्र० वा० रा० १।४६।९)। इतना ही नहीं, निरुक्त ७।२३ से तो विदित होता है कि प्राचीन आर्य मध्यमस्थानी मेघस्थ विद्युत् का ग्रहण करके उससे कार्य लेने की विद्या भी जानते थे।

२. निरुक्त १२।१ में 'अश्विनौ' के प्रकरण में 'द्यावापृथिव्यावित्येके' पाठ है। ग्रन्थकार ने उसका अर्थतः उल्लेख किया है।

इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिए। (पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करनेवाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिए यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए। (अभिद्युम्) और विद्युत्-प्रकाश से युक्त करना चाहिए (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रयोग होता, और जिसका उल्लंघन करना अशक्य है। (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिए योग्य होता है। (शर्य्यैः) अनेक प्रकार के कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए, विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिए। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है, उसको सिद्ध करके, प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिए ? (पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिए तारविद्या सिद्ध करनी चाहिए। (चर्षणीसहम्) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों के सहन करनेवाला है। (इन्द्रमिव) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है, इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिए। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है, अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिए ।।१।।

।। इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः।।

□□□
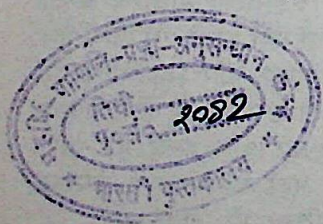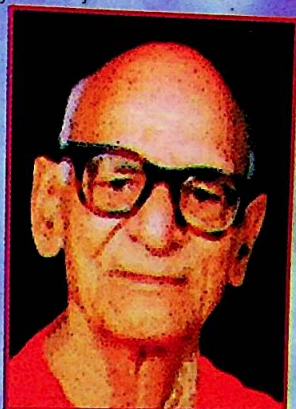
ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन-शैली का अपना असाधारण वैशिष्ट्य है। पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने पचास वर्ष तक शिक्षा क्षेत्र में कार्य किया है। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट-ग्रेजुएट कालिजों के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के उपराष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। कुछ समय तक आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य तथा विश्व वेद परिषद् के अध्यक्ष-पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा (सेनेट) तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा व दिल्ली की अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से आपका निकट सम्बन्ध रहा है।

साहित्य, समाज तथा राष्ट्र के प्रति की गई स्वामीजी की दीर्घकालीन सेवाओं के उपलक्ष्य में २७ फ़रवरी १९९७ को उनका उदयपुर में सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। उस अवसर पर राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री भैरोसिंह शेखावत ने देश-विदेश से आये लगभग १५ हज़ार स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति में सन्त शिरोमणि की उपाधि से विभूषित करते हुए महर्षि दयानन्द स्मारक न्यास की ओर से ३१ लाख रुपये की थैली भेंट करके स्वामीजी को सम्मानित किया। स्वामीजी ने 'इदं सत्यार्थप्रकाशय इदं न मम' कहते हुए यह समूची राशि उसी समय सत्यार्थप्रकाश के प्रचार तथा प्रसार के निमित्त न्यास को लौटा दी।